जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन

(गोरखपुर विश्वविद्यालय की पी. एच. डी. उपाधि
हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

सन् 1981

प्रस्तुतकर्ता:

कैलाश पति पाण्डेय
शोध छात्र संस्कृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

-: प्रकाशक/प्रकाशन :-
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर
एवं
श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र, नारेली-अजमेर (राज.)

प्रेरक प्रसंग : चारित्र चक्रवर्ती पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के सुशिष्य, तीर्थक्षेत्र समुद्धारक, आगम के प्रामाणिक एवम् मुमधुर प्रवचनकार, युवामनीषी, ज्ञानोदय तार्थ क्षेत्र (नारेली-अजमेर) प्रेरक, आध्यात्मिक एवम् दार्शनिक सन्त मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवम् पू. क्षु. श्री गंभीरसागरजी एवं क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज के श्री ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र, नारेली (अजमेर) पर शीतकालीन वाचना 1996 में प्रकाशित ।

प्रकाशक : आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.)

ग्रन्थमाला : डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
सम्पादक एवं नियामक पं. अरुणकुमार शास्त्री, ब्यावर

संस्करण : प्रथम - 1996

प्रति : 1000

मूल्य : **35/- रुपये मात्र**

प्राप्ति स्थान : **आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र**
"सरस्वती भवन" सेठ जी की नसियाँ
ब्यावर 305 901 (राज.)

श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र
नारेली-अजमेर (राज.) फोन : 33663

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र
मन्दिर संघीजी, सांगानेर, (जयपुर-राज.)

मुद्रक : निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स
पुरानी मण्डी, अजमेर ✆ **422291**

जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अनुशीलन

—: आशीर्वाद एवं प्रेरणा :

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

क्षु. श्री गंभीरसागरजी महाराज

क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

—: सौजन्य :—

श्रीमान् श्रेष्ठी श्री मानमलजी सुरेशचन्दजी झांझरी

गया

—: प्रकाशक/प्रकाशन :—

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर

एवं

श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र, नारेली-अजमेर (राज.)



श्री दिगम्बर जैन महाकवि आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज

प्रकाशकीय समर्पण



आ श्री विद्यासागर जी

卐

मु श्री सुधासागर जी



पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, सत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन सस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्‌घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
सकल दि. जैन समाज एवं दिगम्बर जैन समिति,
अजमेर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र – एक दृष्टि

भारतीय संस्कृति आदर्श पुरुषों के आदर्शों से प्रसूत एवं संवर्द्धित संरक्षित है । प्रत्येक भारतीय अपने आदर्श पुरुषों को जीवन के निकटतम सजोने का प्रयास करता है । भारत की आदर्श शिरोमणी दिगम्बर जैन समाज आध्यात्मिक संस्कृति का कीर्तिमान अनादिनिधन सनातन काल से स्थापित करती रही है। इस सनातन प्रभायमान दि. जैन संस्कृति में प्रत्येक युग में चौबीस चोबीस तीर्थंकर होते रहे हैं, होते रहेंगे । जिनकी सर्वज्ञता से प्रदत्त जीवन को जयवंत बनाने वाले सूत्रों ने उनके व्यक्तित्व को आदर्शता एवं पूज्यता प्रदान की है। वीतरागी, निस्पृही, अठारह दोषों से रहित, अनन्त चतुष्ट्य के धर्ता, इन अरहन्तों ने अपनी दिव्य वाणी से राष्ट्र समाज एवं भव्य जीवों के लिये सर्वोच्च आदर्श प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया है ।

जब इन महान् अरहन्तों का परम निर्वाण हो जाता है तब उनके अभाव को सद्‌भाव में अनुभूत करने के लिए दि. जैन संस्कृति में स्थापना निक्षेप से वास्तुकला के रूप में मूर्ति के रूप में स्थापित कर जिन बिम्ब संज्ञा से मंडित किया जाता है । उन जिन बिम्बों से अनन्त आदर्श प्रतिबिम्बित होकर भव्य प्राणीयों के निधत्त निकाचित दुष्ट कर्मों को नष्ट करते हैं ।

ऐसे महान् जिन बिम्बों को जिन भक्त नगर या नगर के निकट उपवन में विराजमान कर उस पवित्र क्षेत्र को आत्मशान्ति का केन्द्र बना लेता है । नगर जिनालयों की अपेक्षा उपवनों में स्थापित तीर्थक्षेत्रों का वातावरण अधिक विशुद्ध होता है । अत: लोग सैकड़ों मीलों से हजारों रूपया खर्च करके तीर्थक्षेत्रों पर तीर्थयात्रा करने जाते हैं । कहा जाता है कि जिस भूमि पर तीर्थ क्षेत्र होते हैं तथा तीर्थ यात्री आकर तीर्थ वन्दना करते हों वह भूमि देवताओं द्वारा भी वन्दनीय हो जाता है । इसलिये प्रत्येक जिला निवासी जैन बन्धु अपने जिले में / किसी सुन्दर उपवन में विशाल जिन तीर्थ की स्थापना करके सम्पूर्ण राष्ट्र के भव्य जीवों के लिये यात्रा करने का मार्ग प्रशस्त करके अपने जिले की भूमि को पावन बना लेता है । दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि अजमेर जिला दिगम्बर जैन श्रावकों के लिये कर्म स्थली रहा है लेकिन तीर्थक्षेत्र के रूप में धर्म स्थली बनाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सका । अर्थात् अजमेर मण्डलान्तर्गत अभी तक एक भी तीर्थ क्षेत्र नहीं है । जिस पर भारतवर्ष के साधर्मी बन्धु तीर्थ यात्री के रूप में आकर जिले की भूमि को पवित्र कर सकें ।

जिले की दिगम्बर जैन समाज के सातिशय पुण्य के उदय से इस राजस्थान की जन्मस्थली, कर्मस्थली बना कर पवित्र करने वाले तथा चार-चार संस्कृत महाकाव्यों सहित 30 ग्रन्थों के सृजेता बाल ब्रह्मचारी महाकवि आ. श्री ज्ञासागरजी महाराज द्वारा श्रमण मंस्कृति के उननायक जिन शामन् प्रभावक आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज को दीक्षा देकर अजमेर क्षेत्र को पवित्र किया है । ऐसी इम पावन भूमि पर चिर अन्तराल के बाद संत शिरोमणी आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के परम् शिष्य आध्यात्मिक संत मुनि श्री मुधामागरजी महाराज, क्षु. श्री गम्भीरमागरजी, क्षु. श्री धैर्यसागरजी का पावन वर्ष 1994 में वर्षायोग हुआ । इसी वर्षा योग में मरकार, समाज एवं साधु की संगति ने इस जिले को आध्यात्मिक वास्तुकला को स्थापित करने के लिए नारेली ग्राम के उपवन को तीर्थक्षेत्र में परिवर्तिन करने के लिये चुना । सच्चे पुरुषार्थ में अच्छे फल शीघ्र ही लगते हैं ऐसी कहावत है । तदनुसार 4 माह के अन्दर ही अजमेर से 10 कि.मी. दूर नारेली ग्राम में किशनगढ़-ब्यावर बाईपास पर एक विशाल पर्वत महित 127.5 बीघा का भूखण्ड दिगम्बर जैन समाज को सरकार से आवंटित किया गया जिसका नामकरण आचार्य श्री विद्यामागरजी महाराज एवं मुनि श्री सुधासागरजी महाराज के आर्शीवाद से "ज्ञानोदय तीर्थ" ऐसा मांगलिक पवित्र नाम रखा गया । इम क्षेत्र का संचालन दिगम्बर जैन समिति (रजि.) अजमेर द्वारा किया जाता है । इस क्षेत्र पर निम्न योजनाओं का संकल्प जिला स्तरीय दिगम्बर जैन समाज ने किया है ।

1. **त्रिमूर्ति जिनालय (मूल जिनालय)** – इस महा जिनालय में अष्टधातु की 11-11 फुट उतंग तीर्थंकर, चक्रवर्ती कामदेव जैसे महा पुण्यशाली पदों को एक साथ प्राप्त कर महा निर्वाण को प्राप्त करने वाले श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ के जिन बिम्ब विराजमान किये जावेंगे । यह जिनालय एस क्षेत्र को मूलनायक के नाम से प्रसिद्ध होगा ।
2. **श्री नन्दीश्वर जिनालय** – यह वही जिनालय है जिसकी वन्दना शायद सम्यग्दृष्टि एक भवतारी सौधर्म इन्द्र अपने परिकर सहित वर्ष की तीनों अष्टानिका पर्व में जाकर निरन्तर ८ दिन तक पूजन अभिषेक कर अपने जीवन को धन्य बनाता है । यह नन्दीश्वर द्वीप जम्बूदीप से आठवें स्थान पर पड़ता है । अत: वहां पर मनुष्यों का जाना सम्भव नहीं है । एतर्थ उस नन्दीश्वर दीप के 52 जिनालयों को स्थापना निक्षेप से इस क्षेत्र में भव्य जीवों के दर्शनार्थ इस जिनालय की स्थापना की जा रही है ।

3. **सहस्त्रकूट** – अरहन्त तीर्थंकरों के शरीर में 1008 सुलक्षण होते हैं। अन: तीर्थकरों को 1008 नामों से पुकारते हैं। इस एक-एक नाम के लिये एक-एक वास्तु कला में विराजमान कर 1008 बिम्ब एक स्थान पर विराजमान किये जाते हैं। इसलिये इसको सहस्त्रकूट जिनालय कहा जाता है। श्री कोटि भट्ट राजा श्रीपाल के समय सहस्त्रकूट जिनालय के सम्बन्ध में श्रीपाल चरित्र में वर्णित किया गया है कि जब सहस्त्रकट जिनालय के कपाट स्वत: ही बन्द हो गये तब कोटि भट्ट राजा श्रीपाल एक दिन उसकी वन्दना करने के लिये आते हैं तो उसके शील की महिमा से कपाट एकदम खुल जाते हैं।

4. त्रिकाल चौबीसी जिनालय यह वह जिनालय है जिनमें भरत क्षेत्र के भूत, वर्तमान व भविष्य की 24 24 जिन प्रतिमायें 56 फुट उतंग 24 जिनालयों में विराजमान की जावेगी। भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के बाद शोक मग्न होकर भरत चक्रवर्ती विचारने लगा कि अब तीथ का प्रवर्तन कैसे होगा। तब महा मुनिराज गणधर परमेष्ठी कहते हैं कि हे चक्रि, अब धर्म का प्रवर्तन जिन बिम्ब की स्थापना से ही सम्भव है। तब चक्रवर्ती भरत ने मुनि ऋषभ सेन महाराज का आशीवाद प्राप्त कर कैलाश पर्वत पर स्वर्णमयी 72 जिनालयों का निर्माण कराकर रत्न खचित 500-500 धनुष प्रमाण 72 जिन बिम्बों की स्थापना की।

5. **मानस्तम्भ** – जैनागम के अनुसार जब भगवान का साक्षात समवशरण लगता है तब चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ स्थापित किये जाते हैं और मानस्तम्भ में चारों दिशाओं में एक एक प्रतिमा स्थापित की जाती है अर्थात 1 मानस्तम्भ में कुल चार प्रतिमायें होती हैं। इस मानस्तम्भ को देखकर मिथ्यादृष्टियों का मद (अंहकार) गल जाता है और भव्य जीव सम्यग्दृष्टि होकर समवशरण में प्रवेश कर साक्षात अरहंत भगवान् की वाणी को सुनने का अधिकारी बन जाता है। इस सम्बन्ध में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समय एक घटना का उल्लेख जैन शास्त्रों में मिलता है कि इन्द्रभूति गौतम अपने 5 भाई और 500 शिष्यों सहित भगवान् महावीर से प्रतिवाद करने के लिये अहंकार के साथ आता है लेकिन मानस्तम्भ को देखते ही उसका मद गलित हो जाता है और प्रतिवाद का भाव छोड़कर/ सम्यक्त्व को प्राप्त कर। सम्पूर्ण शिष्यों सहित जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर भगवान् महावीर के प्रथम गणधर पद को प्राप्त हो गया अर्थात् इस मानस्तम्भ

की महिमा कितनी अनुपम है कि इन्द्रभूति गौतम कहां तो भगवान् से लड़ने आया था और कहां भगवान् का प्रथम गणधर बन गया। ऐसा यह भव्य मानस्तम्भ इस क्षेत्र पर निर्माण किया जा रहा है।

6. **तलहटी जिनालय** – इस जिनालय में वृताकार प्रथम मंजिल पर प्रवचन हाल रहेगा। दूसरी मंजिल पर भगवान् बाहुबलि, तीसरी पर भरत और चौथी पर ऋषभदेव भगवान् की प्रतिमायें विराजमान होंगी।

7. **18 दोषों से रहित तीर्थङ्कर अरिहंत भगवान के द्वारा उपदेश देने की सभा को समवशरण कहते हैं इसकी रचना कुबेर द्वारा होती–** देव, मनुष्य एवं तिर्यञ्चों की 12 सभायें होती है। भव्य जीव ही इस समवशरण में प्रवेश करते हैं। ऐसा यह भव्य जीवों का तारण हार समवशरण भी इस क्षेत्र पर स्थापित किया जा रहा है।

8. **संतशाला** क्षेत्र हमेशा से साधु सन्तों के धर्म ध्यान करने के आवास स्थान रहे हैं। इस क्षेत्र पर भी आचार्य विद्यासागरजी आदि महाराज जैसे महासन्त संघ के साथ भविष्य में यहां विराजमान होंगे एवं अन्य आचार्य साधुगण वन्दनार्थ साधनार्थ विराजमान रहेंगे। उनकी साधनानुकूल सन्त वसतिका बनाने का निर्णय लिया गया है।

9. **गौशाला** – वर्तमान में मानव स्वार्थ पूर्ण होता चला जा रहा है। इसी कारण से गाय, बैल, भैंस आदि जब इसके उपयोगी नहीं होते अथवा दूध देना बन्द कर देते हैं तब व्यक्ति उनकी सेवा सुश्रुसा नहीं करके उनको कसाई अथवा बूचड़खाने में भेज देता है। ऐसे आवारा पशुओं को इस क्षेत्र में रख कर उनके जीवन को अकाल हत्या से मरण से बचाया जावेगा। यह क्षेत्र समवशरण है और समवशरण में एक सभा तिर्यञ्चों की होती हैं। अत: यह गौशाला है इस क्षेत्र रूपी समवशरण में एक सभा के रूप में प्रतिष्ठित होगी इस दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र गौशाला का शिलान्यास श्री भैंरूसिंह शेखावत, मुख्य मंत्री राजस्थान सरकार द्वारा किया गया है।

10. **ज्ञानशाला (विद्यालय)** – मानवीय दृष्टिकोण से विचारने पर जीवन का एक आवश्यक अंग आजीविका भी है। इस आजीविका को कार्यान्वित रूप देने के लिये मनुष्य को लौकिक व शाब्दिक ज्ञान की भी आवश्यकता

है । इम दृष्टिकोण मे इम क्षेत्र पर विद्यालय को स्थापित करने की भी योजना है । माथ ही एक विशाल ग्रन्थालय भी स्थापित किया जायेगा।

11. **भाग्यशाला (औषधालय/चिकित्सालय)** – जीव का आधार शरीर है और शरीर बाहरी वातावरणों से प्रभावित होकर जीव को अपने अनुकूल क्रिया करने में बाधा उत्पन्न करता है । तब शरीर में आई हुई विक्रतियों को दूर करने के लिये औषधि की आवश्यकता होती है । अत: इस औपधायल चिकित्मालय से असहाय गरीबों के लिये नि:शुल्क चिकित्सा कराने के विकल्प से स्थापना की जावेगी ।

12. **धर्मशाला** – क्षेत्र की विशालता को देखते हुये ऐसा लगता है कि भविष्य में यह एक लघु सम्मेद शिखर का रूप ग्रहण करलेगा । जिस प्रकार दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र श्री सम्मेद शिखरजी, महावीर जी अतिशय क्षेत्र आदि में निरन्तर यात्री आकर दशन पूजन आदि का लाभ लेते हैं उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी तीर्थ यात्री बहु संख्या में आकर दर्शन पूजन का लाभ लेंगे। अत: उनकी सुविधा के लिये 300 कमरों की धर्मशाला आधुनिक सुविधाओं सहित बनाने का निर्णय लिया गया है ।

13. **उदासीन आश्रम** – अपनी गृहस्थी से विरक्त होकर लोग इस क्षेत्र पर आकर अपने जीवन को धर्म साधना में लगा सकें । अत: उदासीन आश्रम के निर्माण करने का निर्णय लिया गया है ।

14. **बाउण्ड्री दीवाल** – सम्पूर्ण क्षेत्र को सुरक्षित करने के लिए 6 फुट ऊंची बाउण्ड्री दीवाल की सर्वप्रथम आवश्यकता थी । पूज्य मुनि श्री के प्रवचनों से प्रभावित होकर अजमेर जिले की दिगम्बर जैन महिलाओं ने इस बाउण्ड्री को बनाने का आर्शीवाद प्राप्त किया ।

15 **पहाडी के लिए सीढ़ी निर्माण** – उबड़ खाबड़ उत्तुङ्ग पहाड़ी पर जाने के लिए सीढ़ियों की आवश्यकता थी । अजमेर जिले के समस्त दिगम्बर जैन युवा वर्ग ने इस सीढ़ियों को बनाने का पूज्य मुनि श्री से आर्शीवाद प्राप्त किया ।

16. **अनुष्ठान विधान** – क्षेत्र शुद्धि हेतु 28.6.95 से 30.6.95 तक समवशरण महामंडल विधान का आयोजन पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज ससंघ सानिध्य में किया गया । तदनन्तर मुनि श्री के ही ससंघ सानिध्य में 1.12.95 से 10.12.95 तक सर्वतोभद्र महामंडल विधान सिद्ध-सहस्र

इन्द्र इन्द्राणियों की सम्भागिता में महत् प्रभावना के साथ सम्पन्न हुआ। इसी विधान के अन्तर्गत मूलनायक, त्रिकाल चौबीसी, नंदीश्वर जिनालय एवं मानस्तम्भ का शिलान्यास किया गया। इस महोत्सव में माननीय भैरोसिंह शेखावत मुख्य मंत्री राजस्थान सरकार, श्री ललित किशोर चतुर्वेदी शिक्षा एवं सार्वजनिक निर्माण राज्य मंत्री, श्री गंगाराम चौधरी राजस्व राज्य मंत्री, श्री किशन सोनगरा खादी एवं ग्रामोद्योग राज्य मंत्री श्री सावंरमल जाट राज्य मंत्री श्री महावीर प्रसाद जैन सचेतक राजस्थान विधान सभा, श्री ओंकारसिंह लखावत अध्यक्ष नगर सुधार न्यास अजमेर, सांसद श्री रासासिंह रावत सांसद अजमेर, श्री किशन मोटवानी विधायक अजमेर, श्री कैलाश मेघवाल गृह एवं खान मंत्री राजस्थान सरकार, श्री पुखराज पहाड़िया जिला प्रमुख अजमेर, श्री देवेन्द्र भूषण गुप्ता जिलाधीश अजमेर, श्री वीरकुमार अध्यक्ष नगर परिषद, श्री अदिति मेहता संभागीय आयुक्त अजमेर कांग्रेस (इ) अध्यक्ष अजमेर माणक चन्द सोगानी। आदि प्रशासनिक अधिकारियों ने इस दस दिवसीय मंडल विधान में अपना महतीय योगदान दिया है।

17. **सरकारी सहयोग** – इस क्षेत्र स्थापना के पूर्व 26.10.94 को दिगम्बर जैन समिति (रजिस्टर्ड) अजमेर का गठन कर राज. संस्था रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1958 के अन्तंगत दिनांक 2.11.94 को पंजीकृत कराया गया। नगर सुधार न्यास के अध्यक्ष ओंकारसिंह लखावत एवं कांग्रेस अध्यक्ष अजमेर माणकचन्द सोगानी के विशेष सहयोग से इस नारेली पर्वतीय स्थल का चयन किया गया। तदुपरान्त महाराज श्री ने इस स्थल का नीरक्षण कर इस स्थल को पवित्र किया। समाज के कर्मठ कार्यकर्त्ताओं, स्थानीय प्रशासन एवं राजस्व राजमंत्री राजस्थान के विशेष सहयोग से रियायती दर पर यह पहाड़ी मैदान-दिगम्बर जैन समाज को दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र स्थापना हेतु स्थाई रूप से अवंटित किया गया। तदुपरान्त आर्चिटेक्ट श्री उम्मीदमल जैन एवं निर्मल कुमार जैन ने क्षेत्र के योजनाओं सहित नक्शे तैयार किये। 10.12.95 को माननीय भैरोसिंह शेखावत मुख्य मंत्री राजस्थान सरकार एवं माननीय ललित किशोर जी चतुर्वेदी शिक्षा एवं सार्वजनिक निर्माण मंत्री जी ने मेन रोड़ से पहाड़ी के ऊपर तक डाम्बर रोड बनाने की घोषणा की। सासंद श्री रासासिंह रावत ने 3 ट्यूबवैल सरकारी स्तर पर लगाने की घोषणा की। राजस्व राजमंत्री श्री गंगाराम

चौधरी जी ने क्षेत्र की योजनाओं को देखते हुए लगभग 200 बीघा जमीन और सरकार से दिलाने की घोषणा की जिलाधीश द्वारा प्रशासनिक समस्त कार्यों को करने की घोषणा की । गौशाला में जिला प्रमुख धर्म निष्ठ श्री पुखराज पहाड़िया एवं प्रशासन का विशेष सहयोग देने की घोषणा की गई है । गृह एवं खान मंत्री जी श्री कैलाश मेघवाल ने पुलिस चौकी की घोषणा की । इस प्रकार राज नेताओं द्वारा इस नवोदित तीर्थ क्षेत्र के विकास में हुई घोषणाएं क्रियान्वित होने की प्रतिक्षा कर रही है, माननीय मुख्यमंत्री श्री भैंरुसिंहजी शेखावत ने गौशाला को विशेष सुविधायुक्त बनाने के लिए आयुक्त श्रीमति अदिति मेहता का विशेष निर्देष दिये ।

18. **विशेष सहयोग** – पहाडी आवंटित होने के बाद सबसे बड़ी समस्या थी कि पहाड़ी को समतल कैसे किया जाये । लेकिन यह कार्य धर्म निष्ठ आर के मार्बल्स लि किशनगढ़ वालों ने अपनी मशीन द्वारा पहाड़ी तक का कच्चा मार्ग एवं पहाडी का समतली करण लगभग डेढ़ माह के अन्दर करके क्षेत्र एवं सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा व्यक्त कर असम्भव काय को सम्भव कर दिखाया है ।

पाषाण–टंकोतकीर्ण वास्तु कला – पाषाण टकोत कीर्ण वास्तुकला विशेष रूप से प्राय: लुप्त सी हो चुकी थी लेकिन तीर्थ क्षेत्र जीर्णोद्धारक एवं वास्तुकला के ममज्ञ दिगम्बर जैन मुनि श्री सुधासागरजी महाराज की दूर दृष्टि ने उस खोइ हुइ कला को खोज निकाला, तथा उस जीर्णशीर्ण वास्तुकला का जीर्णोद्धार कर इस संस्कृति को चिर स्थाइ बनाने के लिए उपदेश दिया । मुनिराज ने अपने उपदेशों में सद् प्रेरणा दी कि आर सी सी (R C C) के मंदिर बनाने से संस्कृति दीघकाल तक सुरक्षित नहीं रह सकेगी क्योंकि आर सी सी की उम्र मात्र 100 वर्षो की है । मंदिरों का निमाण सहस्त्रों वर्षो का ध्यान में रख कर करना चाहिए । दूसरी बात यह है कि जन प्रतिष्ठा पाठों में लोहे के प्रयोग को प्रशस्त नहीं कहा है । गुरु का यह उपदेश समाज के हृदयों को छु गया तथा पत्थर चुना के मंदिर बनाने वाले शिल्पियों को खोजा गया। "जिन खोजा तिन पाईया गहरे पानी पेठ वाला कहावत चरितार्थ हुई परिणाम स्वरुप शिल्पि उपलब्ध हो गये समाज एवं समिति ने मुनि श्री सुधासागरजी महाराज के चरणों में श्री फल चढ़ाकर संकल्प किया कि इस ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र पर (पहाड़ी पर) जितने भी मंदिर बनेंगे वह सभी खजुराहो देलवाड़ा, देवगढ़ रणकपुर के समान कलापूर्ण पत्थर के ही बनेंगे । उनमें लोहे का प्रयोग नहीं किया जावेगा अथात वह आर सी सी. के नहीं बनेंगे ।

जिनालयों का तक्षण काय प्रारम्भ कर दिया गया है। पाषाण टंकोत कीर्ण वास्तु कला को पुनरोज्जीवित करने वाला भारत वर्ष का यह अनुपम दिगम्बर तीर्थ क्षेत्र अनोखा कीर्तीमान स्थापित करेगा।

स्वर्ण अवसर– आइये हम सबके महान् सातिशय पुण्य के उदय से ज्ञानोदय तीर्थ में अनेक मांगल्कि शुभ योजनाओं को क्रियान्वित किया जा रहा है। कितना अच्छा अवसर है कि उपरोक्त योजनाओं को आपकी जड़ सम्पदा द्वारा स्थापित करने का। जड़ सम्पदा पुण्य के उदय से आती है लेकिन जाने के दो द्वार होते हैं। एक पाप कार्यों के द्वारा और दूसरा पुण्य कार्यों के द्वारा। भरत चक्रवर्ती ने भी अपने धन का सदुपयोग करके कैलाश पर्वत पर 72 स्वर्णमयी जिनालय बनवाये थे अर्थात चक्री ने भी अपना धन व्यय किया था। और एक रावण था। जिसने अपने धन का दुरुपयोग अपने पापोपभोग करके महलों को, लंका को स्वर्णमय बनाकर नष्ट किया था। दोनों के परिणाम आप हम सब जानते है। एक चक्रवर्ती ने अपने धन का सदुपयोग जिनालय बनाने में किया सो वह जिनालय के समान पूज्य जिनेन्द्र देव के पद को प्राप्त हुआ और रावण ने पाप सामग्री में किया तो उसे नरक का वास मिला। आइये हम सब इश्वाकु वंशी भरत चक्रवर्ती के वंशज हैं। हमें भी परम्परानुसार अपने धन का उपभोग ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र में बनने वाले जिनालयों में करना है और इश्वाकु वंश के कुल दीपक बनने का गौरव प्राप्त करना है। इस तीर्थ की समस्त धार्मिक योजनायें अति शीघ्र करने का संकल्प समाज ने लिया है। अत: शीघ्र विचारिये, सोचिये एवं अपने दान की घोषणा करके चक्रवर्ती के वंश के बनने का गौरव प्राप्त करिये। आप सब के सहयोग से ही यह तीर्थ भारत में दिगम्बर जैन संस्कृति की ध्वजा को फहरा सकेगा और अजमेर जिला भारतीय दिगम्बर जैन संस्कृति में अपना एक ऐतिहासिक अध्याय जोड़ सकेगा।

भारतवर्ष का प्रथम बहुउद्देशीय नवोदित यह ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र अनेक योजनायें अपने गर्भ में संजोय हुए है। उन्हीं योजनाओं में से पू. मुनि श्री सुधासागर जी के आर्शीवाद प्रेरणा एवं सानिध्ये में "श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र ग्रन्थालय" नाम से एक पुस्तकालय शुभारम्भ किया गया। इस क्षेत्र मे प्रस्तुत इस पुष्प के अन्तर्गत जिनवाणी के प्रचार प्रसार हेतु ग्रन्थों को प्रकाशन कराने के कार्य का भी शुभारम्भ किया जा रहा है।

श्रुतदेवताय नम: ! प्रस्तुति :

दिगम्बर जैन समिति (रजि) अजमेर (राज) **कैलाशचन्द पाटनी, अजमेर**

कार्यालय : श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र नारेली–अजमेर (राज.)
फोन नं 33663, वीर निवाण सं. 2522 ईसवी सन्–1996

समर्पण–पुष्प

परम श्रद्धेय–पञ्चाचार युक्त – रत्नत्रय के संस्थापक

समाधि–सम्राट–श्रमण संस्कृति के उन्नायक–युग प्रवर्तक

धर्म प्राण–चारित्र चक्रवर्ती – महाकवि– वीतरागी

सन्त शिरोमणि–महान दार्शनिक–तत्त्वानुवेषी

दिगम्बराचार्य 108 श्री विद्यासागर जी

महाराज के आज्ञानुवर्ती सुयोग्य शिष्य

धर्म प्रभाकर– आदर्श चरित्र नायक

जैन संस्कृति के रक्षक तपोमूर्त्ति

ओजस्वी वक्ता–प्रसन्न मूर्ति

स्थिरोन्नत – स्वाधीनोदारसार

प्रियवाचामायतन : साधुर्त्वरतिनिकेतन

लोकाशय मार्गतरु – आध्यात्मिकसंत

श्री श्री १०८ मुनि

श्री सुधासागरजी महाराज

के कर कमलों में

यह कृति – पुष्प

सादर समर्पित

चरणचञ्चरीक

डॉ. कलाशपति पाण्डेय

कृति–निधि

सौभाग्य से महान् सन्त कवि वाणी भूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री प्रणीत पूर्णतया अनालोचित जयोदय महाकाव्य मुझे प्राप्त हुआ । जिसे देखकर मुझे प्रतीत हुआ कि वैदिक युग से प्रभावित होने वाली पवित्र ज्ञान मन्दाकिनी अपने अनिन्द्य, अनवद्य, वपु के द्वारा बहती हुई लौकिक संस्कृत साहित्य के विविध विधाओं के रूप में जैन धर्म के प्रति मूर्ति बीसवीं सदी के अग्रगण्य काव्याचार्य आचार्य ज्ञानसागर में समायी हुई है । तत: लोकविश्रुत विद्वान् पूज्य पितामह स्वर्गिय पं श्री भवानीवदल पाण्डेय की जैन धर्म में अटूट श्रद्धा से सम्प्रेरित होकर उक्त महाकाव्य को ही अपनी पी.एच.डी. उपाधि हेतु चुना, ''जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन'' विषय पर गोरखपुर विश्वविद्यालय की अनुमति से शोधकार्य किया ।

''जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन'' को मैंने नवलघु अध्यायों में विभक्त किया है जो प्रकृत ग्रन्थ में द्रष्टव्य हैं ।

यद्यपि महान् दार्शनिक जैनाचार्य आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज की समस्त कृतियों पर कार्य न कर सकने का मुझे हार्दिक क्लेश है तथापि संस्कृतनिष्ठ जनों के समक्ष प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को समर्पित करते हुए इतना तो सन्तोष है ही कि इसके माध्यम से संस्कृत जगत में एक और कवि और उसकी रचना को लोगों के समक्ष लाने के श्रेय का अनायास ही भागी बन गया हूँ ।

निरन्तर ज्ञान की आराधना में संलग्न पुज्य पितामह स्वर्गिय पं श्री भवानीवदल पाण्डेय के प्रति मैं प्रणत हूँ जिनके चरणों में बैठकर मैंने जयोदय महाकाव्य का अध्ययन किया । साथ ही साथ पितामही स्वर्गीया श्रीमती जिउद्या देवी के चरणों में शिरसा नमन है, जिनकी ममतामयी छाँव पाकर अध्ययन सफल हुआ ।

जयोदय महाकाव्य ग्रन्थ का सहयोग प्रदान करने वाले तत्कालीन रीडर स्वर्गिय डॉ. रामअवध पाण्डेय काशी हिन्दू विश्वविधालय के प्रति श्रद्धानत हूँ ।

गुरुवर डॉ. दशरथ द्विवेदी प्राध्यापक गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति मैं अत्यन्त श्रद्धानत हूँ जिनके सतत मार्ग दर्शन, प्रोत्साहन से शोधकार्य बड़ी ही महजता से पूर्ण हुआ ।

गोरक्षनाथ संस्कृत विधापीठ के साहित्य विभागाध्यक्ष श्रद्धेय आचार्य श्री चन्द्रशेखर मिश्र का मैं आजीवन आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर सत्परामर्श तथा सामग्री संकलन में यथेष्ठ सहायता प्रदान की ।

पूज्य पिता श्री रामकिंकर पाण्डेय एवं पूजनीया माता श्रीमती राधिका पाण्डेय से प्राप्त सहयोग का लेखक आजीवन ऋणी है। मेरे अनुज श्री गिरिजापति पाण्डेय लेखन कार्य में मुझे यथावसर सहयोग देते रहे, इनके प्रति मेरा हार्दिक धन्यवाद।

ग्रन्थ प्रकाशन में जिनसे सहयोग प्राप्त हुआ उनके प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित है ।

जयोदय महाकाव्य के प्रणेता अमरकवि आचार्य ज्ञानसागर जी के प्रिय शिष्य पुज्य श्री 108 आचाय विद्यासागर जी महाराज एवं उनके सुयोग्य शिष्य मुनि श्री 108 सुधासागरजी महाराज जिन्हें यह ग्रन्थ समर्पित किया गया है, के भरपूर आशीर्वाद का परिणाम है प्रकृत ग्रन्थ "जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन" जिन मुनिवर के अर्हन्तु की कृपा से यह कृति आज आपके हाथ में है, उनके ज्ञान, ध्यान, और तपोमय जीवन को मेरी सारी श्रद्धा और भक्ति समर्पित है ।

मुनि चरण चञ्चरीक !

– डॉ. कैलाशपति पाण्डेय

परम्परोपग्रहो जीवानाम्

णमो अरिहन्ताणं ।

णमो सिद्धाणं ।

णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं ।

णमो लोएसव्वसाहूणं ।।

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

एम ए पास करने के बाद जब मैंने अपने परमपूज्य गुरुवर डॉ. रामअवध पाण्डेय रीडर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी मे शोध कार्य करने की अभिलाषा व्यक्त की उन्होंने पूर्णतया अनालोचित वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री जी (आचार्य श्री ज्ञानसागर जी) विरचित जयोदय महाकाव्य की समीक्षा करने के लिये सुझाव दिया। इतना ही नहीं आपने अनुपलब्ध इस ग्रन्थ की मूल प्रति भी देकर मुझे आजीवन ऋणी बना दिया। तत: इस ग्रन्थ पर शोध करने की जिज्ञासा गुरु डॉ. अतुल चन्द्र बनर्जी, अध्यक्ष संस्कृत विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर से की तो उन्होंने भी इसकी समीक्षा के लिये सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी। अनन्तर मैंने इस काव्य तथा सम्बन्धित साहित्य का गम्भीर परिशीलन प्रारम्भ कर दिया।

अनुवाद, टीका, टिप्पणी विहीन मूल मात्र काव्य के अध्ययनार्थ मुझे बड़ी कठिनाईयां हुई। सतत प्रयास के बाद सौभाग्य से मुझे 'जयोदय महाकाव्य' का पूर्वार्ध कविकृत स्वोपज्ञ संस्कृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद समेत उपलब्ध हो गया जो श्री ज्ञानसागर ग्रन्थ माला व्यावर (राजस्थान) से प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशक पं. प्रकाश चन्द्र जैन हैं। इस पूर्वार्ध भागमें तेरह सर्ग मात्र हैं। इसके उपलब्ध हो जाने से मेरे अध्ययन में विशेष सुविधा हुई। काव्य के शेष अंशो का मैंने अपने पूज्य पितामह पं. श्री भवानी बदल पाण्डेय जी से अध्ययन किया। वैसे इस महाकाव्य की क्लिष्टता से अन्तरा-अन्तरा मुझे बड़ी निराशा होती थी किन्तु निर्देशक गुरुवर डॉ. दशरथ द्विवेदी जी से मुझे विशेष सम्बल मिलता रहा। "जयोदय महाकाव्य" अट्ठाईस सर्ग का एक विशाल एवं उत्तम महाकाव्य है, जिसमें महाकाव्य के समग्र लक्षण निहित हैं। मैंने इस काव्य की नैकश: आवृत्ति की निरन्तर कार्य करता रहा जिसका परिणाम है, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, "जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन" इस अध्ययन को मैंने नव लघु अध्यायों में विभक्त किया है, जिसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है -

प्रथम अध्याय में मैंने जयोदय महाकाव्य के कवि भूरामल जी (श्री ज्ञानसागर जी) के जन्म, समय, स्थान कृतित्व एवं व्यक्तित्व

संक्षेप में विचार किया है ।

द्वितीय अध्याय में मैंने जयोदय महाकाव्य की कथावस्तु, उसका विभाग, स्रोत एवं ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला है ।

तृतीय अध्याय में महाकाव्य के लक्षण को लेकर जयोदय महाकाव्य के महाकाव्यत्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है । यहां पर महाकाव्यों की परम्परा में जयोदय का स्थान निर्धारित करते हुए इस महाकाव्य पर पूर्ववर्ती महाकाव्यों की छाया पर दृष्टिपात किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में रस का काव्य शास्त्रीय स्वरूप प्रस्तुत करते हुए आलोच्य काव्य में विभिन्न रसों की स्थिति पर परिचर्चा की गयी है ।

पंचम अध्याय में अलङ्कार शास्त्र का सामान्य परिचय देकर प्रस्तुत महाकाव्य में आये हुए अलङ्कारों का विवेचन किया गया है ।

षष्ठ अध्याय में ध्वनि, गुण और रीति पर क्रमशः विचार किया गया है ।

सप्तम अध्याय में औचित्य का विवेचन करते हुए प्रस्तुत महाकाव्य के कतिपय दोषों पर भी दृष्टिपात किया गया है

अष्टम अध्याय में छन्दः शास्त्र का सामान्य परिचय देकर जयोदय के छन्दोयोजना पर विचार किया गया है ।

नवम अध्याय में उपचार वश उपसंहार भी जुड़ा हुआ है । अनन्तर परिशिष्ट खण्ड एक में जयोदय महाकाव्य में प्रस्तुत स्थान, पात्र दार्शनिक शब्दसमूह का विवेचन करते हुए जयोदयगत ललित सूक्तियों को भी प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट खण्ड दो में सहायक ग्रन्थों की सूची दी गयी है

अपनी अमूल्य कृतियों से संस्कृत साहित्य को समृद्ध करने वाले स्वर्गीय आचार्य 108 श्री ज्ञानसागरजी महाराज की समस्त कृतियों पर कार्य नहीं कर सका, इसका मुझे हार्दिक क्लेश है तथापि संस्कृतनिष्ठ जनों के समक्ष प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को समर्पित करते हुए इतना तो सन्तोष है ही कि इसके माध्यम से संस्कृत जगत् में एक और कवि और उसकी रचना को लोगों के समक्ष लाने के श्रेय का अनायास ही भागी बन गया हूँ ।

जयोदय महाकाव्य पर शोध कार्य करने की अनुमति एवं ग्रन्थ का सहयोग प्रदान करने वाले गुरुवर, डॉ राम अवध पाण्डेय जी का मैं आजीवन

ऋणी हूँ ।

प्रकृत विषय पर शोध करने की जिज्ञासा को पूर्ण करने वाले गुरु डॉ अतुल चन्द्र बनर्जी का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा से ही मैं कार्य सम्पन्न कर सका ।

गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक गुरुवर डॉ दशरथ द्विवेदी के निर्देशन में इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । मुझ जैसा अनभ्यस्त शोधार्थी भी जो उडुप द्वारा इस दुस्तर सागर का सन्तरण कर सका वह आपकी ही प्रेरणा, प्रोत्साहन और सतत मार्गदर्शन का परिणाम है । गुरुवर डॉ. श्री द्विवेदी के पास स्वच्छ दृष्टि, अद्भुत कार्य निष्ठा के साथ-साथ वात्सल्यपूर्ण हृदय भी है, शिष्य होने के कारण लेखक उसका सहज अधिकारी रहा है । संस्कृत विभाग के अन्य गुरुजनों के प्रति भी मैं अत्यन्त श्रद्धानत हूँ, जिनकी शुभाशंसा से यह कार्य पूर्ण हो सका।

शोध हेतु हर सम्भव सहयोग प्रदान करने वाले पूज्य पितामह पं श्री भवानी बदल पाण्डेय जी के प्रति श्रद्धा से नत होता हूँ जिन्होंने अपनी जर्जर अवस्था में भी इस ग्रन्थ को पढ़ाया ।

गोरक्षनाथ संस्कृत विद्या पीठ के साहित्य विभागाध्यक्ष श्रद्धेय आचार्य श्री चन्द्रशेखर मिश्र जी के समय समय पर सत्परामर्श मिलने के साथ साथ सामग्री-संकलन और उसके विवेचन में निरन्तर यथेष्ट सहायता मिलती रही, उसका मैं आजीवन आभारी हूँ । जयोदय महाकाव्य के अमर कवि श्री भूरामल जी शास्त्री के विषय में उनके प्रिय शिष्य श्री विद्यासागर जी महाराज से मुझे संभव जानकारी प्राप्त हुई ही उनका भरपूर आशीर्वाद भी मिला । तदर्थ मैं उनके प्रति सतत श्रद्धावनत हूँ ।

समय समय पर जिन अन्य अनेक महानुभावों से सहायता प्राप्त होती रही है, लेखक उन सबके प्रति भी हृदय से कृतज्ञ है ।

प्रस्तुतकर्ता

कैलाशपति पाण्डेय

संकेत सूची

सं. श. कौ	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
शत. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
द्र.	द्रष्टव्य
छा. उ.	छान्दोग्य उपनिषद्
नि.	निरुक्त
सा द.	साहित्य दर्पण
का. प्र.	काव्य प्रकाश
पा. सू.	पाणिनी सूत्र
वा रा.	वाल्मीकि रामायण
महा. आ. प.	महाभारत आदि पर्व
का मी. अ.	काव्य मीमांसा अधिकरण
का. सू. वृ.	काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति
चि. मी	चित्र मीमांसा
वक्रो जी.	वक्रोक्ति जीवित
शृ. प्र.	शृङ्गार प्रकाश
ध्व.	ध्वन्यालोक
काव्या शा.	काव्यानुशासन
एका	एकावली
प्र रू भू अलं प्र	प्रतापरूद्रयशो भूषण अलंकार प्रकरण
अलं ति	अलङ्कार तिलक
द परि.	दशम परिच्छेद
अलं शे.	अलङ्कार शेखर
रस. गं.	रस गङ्गाधर
पृ.	पृष्ठ
ज. म.	जयोदय महाकाव्य
ना. शा.	नाट्य शास्त्र
बाल. रा. -	बाल रामायण
अलं. स.	अलङ्कार सर्वस्व
चौं. सं. सी. -	चौखम्भा संस्कृत सीरीज
द. रू. =	दश रूपक
अ. को. -	अमर कोश
अ. पु. -	अग्नि पुराण
रुद्रट काव्या.	रुद्रट काव्यालङ्कार
नै. म -	नैषध महाकाव्य

औ. वि. च का.	औचित्य विचार चर्चा कारिका
पू	पूर्वार्ध
उत्त	उत्तरार्ध
सु. ति	सुवृत्त तिलक
प्र	प्रस्तावना
उच्छ्व	उच्छ्वास
नव सा च	नवसाहसाङ्क चरित
विक्र दे च	विक्रमाङ्क देव चरित
पं सं	पञ्च संग्रह
वृ रत्ना अ	वृत्त रत्नाकर अध्याय
छ म	छन्दोमञ्जरी
द्वि स्त	द्वितीय स्तबक
प स्त	पञ्चम स्तबक
का पु	कालिका पुराण
म स्मृ	मनु स्मृति
आ पु भा	आदि पुराण भाग
हरि पु	हरिवंश पुराण
सम सू	समवयाङ्ग सूत्र
अ चि म को	अभिधान चिन्तामणि कोश
प्र अ	प्रथम अध्याय
का आ	काव्यादर्श
स कण्ठा.	सरस्वती कण्ठाभरण
व्य वि	व्यक्ति विवेक
उ	उल्लास
श्रीमद्भा पु	श्रीमद्भागवत पुराण
मा पु	मार्कण्डेय पुराण
कू पु	कूर्म पुराण
वा महा	वायु महापुराण
ब्रह्मा पु पू अनु	ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध अनुषङ्गपाद
वा पु	वाराह पुराण
लिङ्ग पु	लिङ्ग पुराण
वि पु द्वि	विष्णु पुराण द्वितीयांश
जी स प्र अधि गा	जीवसमास प्रथम अधिकरण गाथा
रघु म	रघुवंश महाकाव्य

प्रकाशकीय

चिरंतन काल मे भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है । इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे । इस प्राणवान बहुलमूल्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यो का महान योगदान रहा है । उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्यनादि कार्य सम्पादिक किये गये । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जैन अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए । फलत: इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकारगच्छदिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये । इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है । विद्वानों के शोध अनुसंधान-अनुशीलन कार्यो को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्ववानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं । सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी हो तो सोधार्थियों को बहुपरिश्रमापरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं । और भी अनेक बाधायें/समस्यायें जैन ग्रन्थों के शोध अनुसन्धान प्रकाशन के मार्ग में है, अत: समस्याओं के समाधान के साथ साथ विविध संस्थाओं उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी ।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र. भूरामल शास्त्री (आ. ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है । महाकवि ने चार चार महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य भागीरथी के प्रवाह का प्रवर्तन किया । यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ । इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यथार्थ उद्‌घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू. मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ । राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत्/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयोजित हुई व इसी सुअवसर पर दि. जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चातुर्मास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की । पू. मुनि श्री सान्निध्य में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने, शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन

विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन-प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये। इसके अनन्त मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संघ सानिध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्धसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठी में उक्त कार्यो के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यो हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पृ. मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18.3.95 को त्रैलोक्य महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बल्स किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन-समीक्षा-अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों को विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के प्रथम मास में ही निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प - हित सम्पादक - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक - मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ. श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन
पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
षष्टम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप - डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित
सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समिक्षा - डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
अष्टम पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ. श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन
नवम पुष्प - आदि ब्रह्मा ऋषभदेव - बैरिस्टर चम्पतराय जैन
दशम पुष्प - मानव धर्म - पं. भूरामलजी शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागरजी)
एकादशं पुष्प - नीतिवाक्यामृत - श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित
द्वादशम् पुष्प - जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ. कैलाशपति पाण्डेय द्वारा लिखित यह शोध ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। बृहद्त्रयी के इतिहास में अपनी काव्य कौशल की महिमा के माध्यम से जयोदय महाकाव्य ने उच्चासन प्राप्त करके बृहद्त्रयी को बृहद चतुष्टयी के रुप में परिवर्तित करने का गौरव प्राप्त

किया है । किशनगढ़ मदनगंज (राज.) में जयोदय महाकाव्य राष्ट्रीय संगोष्ठी के दौरान वृहदत्रयी में जयोदय महाकाव्य को जोड़कर वृहद् चतुष्टयी की शताधिक विद्वानों ने घोषणा कर प्रस्ताव पास किया है । अर्थात् शिशुपाल वध, किरातार्जुनीयं, एवं नैषधीय चरित्र यह तीनों साहित्य जगत में प्रमुख महाकाव्य माने जाते हैं रहे हैं । लेकिन विद्वानों ने जब जयोदय महाकाव्य को पढ़ा तो अनुभव किया कि इस महाकाव्य में उपरोक्त तीनों महाकाव्यों की अपेक्षा कई गुना अधिक काव्य कौशल प्रगट होता है । बारहवीं शताब्दी के बाद यह प्रथम महाकाव्य है जो वृहद्त्रयी के समकक्ष माना गया है । ऐसे महान महाकाव्य पर डॉ. पाण्डेय ने सन् 1981 में यह शोध कार्य कर किया था । आपके पिता श्री ने जयोदय महाकाव्य की (मूल श्लोक मात्र जिसमें प्रकाशित थे) मूल प्रति को पढ़कर अपने पुत्र कैलाशपति पाण्डेय जी को इस पर शोध कार्य करने को कहा। आप ब्राह्मण कुलीन होकर भी जैन महाकवि की कृति पर शोध कार्य करने का जो साहस किया है इसकी साहित्य जगत युगों युगों तक प्रशंसा करता रहेगा । आपने सम्प्रदाय निरपेक्षता का आदर्श प्रस्तुत करके विद्वानों को सतर्क किया है कि साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करते समय साम्प्रादायिक विद्वेष नहीं रखना चाहिये । पाण्डेय जी के ह्रदय में वेदना थी कि साहित्य जगत की अनुपम कृति को विद्वान सम्प्रदाय विद्वेषताओं के कारण उपेक्षा कर रहे हैं । इस असहनीय वेदवा की सम्वेदना से प्रेरित होकर इस महाकाव्य को अपने शोध का विषय बनाकर आगे आने वाले शोधर्थीयों के लिए अदर्शता प्रगट की है ।

यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित था । महाकवि आ ज्ञानसागर जी के साहित्य से साहित्य जगत को परिचय कराकर उच्चासन प्राप्त कराने वाले, साहित्य प्रेमी, अभीक्ष्ण ज्ञानोपोगी मुनिपुङ्गव मुनि श्री सुधासागरजी महाराज को जब यह ज्ञात हुआ कि जयोदय महाकाव्य पर सर्वप्रथम किया गया शोध कार्य अभी तक अप्रकाशित है । तब पाण्डेय जी को बुलाकर उनसे इस शोध कार्य को करते समय अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं सम्बन्धी संस्मरण आत्मीयता के साथ सुने तथा इस शोध ग्रन्थ को केन्द्र से प्रकाशित कराने का भी आशीर्वाद प्रदान किया । हमारा केन्द्र इस शोध ग्रन्थ को प्रकाशित करके अपने आपको गौरान्वित अनुभव करता है, इस शोध ग्रन्थ ने साहित्य जगत के इतिहास में चिरस्थाई स्थान प्राप्त कर लिया है ।

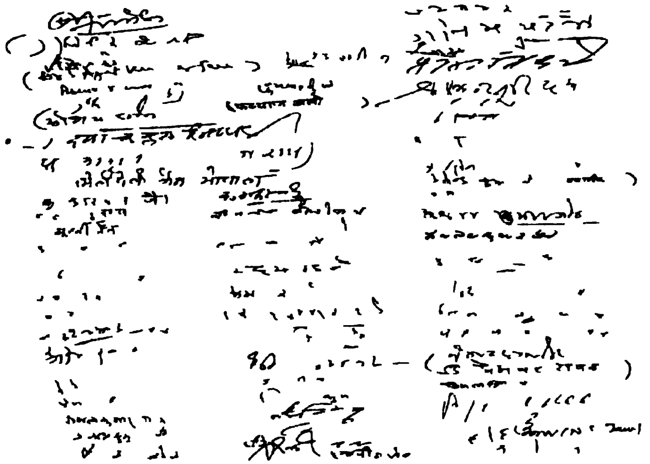
साहित्य पिपासु इस शोध ग्रन्थ को पाकर निश्चित रूप से महाकवि के काव्य कौशल को समझेंगे इसी भावना के साथ

अरुणकुमार शास्त्री
ब्यावर

बृहद्-चतुष्टयी

जयोदय महाकाव्य राष्ट्रिय विद्वत्संगोष्ठी (दिनांक 29.9.95 से 3.10.95) मदनगंज-किशनगढ़ में देश के विविध भागों से समागत हम सब साहित्याध्येता महाकाव्य के अनुशीलन निष्कर्षों पर सामूहित काव्यशास्त्रीय विचारोपरान्त वाणीभूषण महाकवि भूरामल शास्त्री द्वारा प्रणीत जयोदय महाकाव्य को संस्कृत साहित्येतिहास में बृहत्त्रयी संज्ञित शिशुपालवध, किरातार्जुनीय एवं नैषधीयचरित महाकाव्य के समकक्ष पाते हैं। अतः हम सब बृहत्त्रयी संज्ञित तीनों महाकाव्यों के साथ जयोदय महाकाव्य को सम्मिलित कर बृहच्चतुष्टयी के अभिधान से संज्ञित करते हैं ।

हम विद्वज्जगत् मे यह अनुरोध करते हैं कि उक्त चार महाकाव्यो को बृहच्चतुष्टयी सज्ञा मे अभिहित करेगे ।



1	डा प्रेमसुमन जैन उदयपुर
2	डा नलिन के शास्त्री बोधगया
	डा अनिलकुमार जैन आगरा
4	डा अशोक कुमार जैन लाडनू
5	डा फूलचन्द जैन वाराणसी
6	डा सुरेशचन्द जैन वाराणसी
	डा दयाचन्द साहित्याचार्य सागर
8	प अमृतलाल शास्त्री सागर
9	श्रीमती चमेली देवी भोपाल
10	डा (कु) आराधना जैन गंजबासौदा
11	डा (कु) सुषमा मुजफ्फरनगर
12	डा मुन्नीदेवी जैन वाराणसी
13	डा मनोरमा जैन वाराणसी
14	डा ज्योति जैन खतौली
15	डा उर्मिला जैन बडौत
16	डा सुधा जैन लाडनू
17	डा नरेन्द्रकुमार जैन सनावद
18	डा सुरेन्द्र कुमार जैन बुरहानपुर
19	डा ओम प्रकाश जैन किशनगढ
20	डा सरोज जैन बीना
21	डा प्रेमचन्द जैन नजीबाबाद
22	प्रा कमलकुमार जैन बीना
23	प्रा अभयकुमार जैन बीना
24	डा सनतकुमार जैन जयपुर

श्रीमती मालती जैन मैनपुरी डा फूलचन्द जैन प्रेमी किशनगढ डा कस्तूरचन्द सुमन श्रीमहावीरजी डा नन्दलाल चितलांगवाल जयपुर डा नन्दलाल जैन रीवा डा रूपचन्द जैन खतौली डा रतनचन्द जैन जयपुर 8 डा कमलेश जैन वाराणसी 9 प विजयकुमार शास्त्री श्रीमहावीरजी 10 डा सुरेशकुमार जैन बडौत डा श्रीकान्त पाण्डेय बडौत 2 डा जयन्तकुमार लाडनू 1 डा नेमिचन्द जैन खुरई 4 डा अभयप्रकाश जैन ग्वालियर

1 डा नरेशकुमार जैन मुजफ्फरनगर डा शीतलप्रसाद अमरोहा 3 डा महेशचन्द जैन बिजनौर 4 डा शीतलचन्द शास्त्री जयपुर 5 डा श्रीरंजन सूरिदेव पटना 6 डा नाथूराम नारायण मिश्र वाराणसी प शिवचरणलाल मैनपुरी 9 डा रतनचन्द जैन भोपाल 10 श्री देवेन्द्रकुमार जैन नरसिंहपुर डा कस्तूरचन्द कासलीवाल जयपुर प अरुणकुमार जैन ब्यावर 12 डा कमलेशकुमार जैन वाराणसी 13 डा मूलचन्द लुहाडिया किशनगढ 14 डा सुदर्शनलाल जैन वाराणसी
15 डा विनय कुलश्रेष्ठ उदयपुर
16 डा प्रकाशचन्द जैन दिल्ली
17 डा प्रेमचन्द रावका बीकानेर
18 प्रा विमलकुमार जैन जयपुर
19 प्रा विमलकुमार जैन जयपुर
20 प्राचार्य निहालचन्द जैन बीना
21 श्रीमती क्रान्ति जैन लाडनू

प्रथम - अध्याय

'जयोदय महाकाव्य' का कवि, उसका जन्म स्थान, समय, कृतित्व एवं व्यक्तित्व

स्वर्गीय आचार्य श्री ज्ञानसागर जी
(भूरामलजी शास्त्री) का कृतित्व एवं व्यक्तित्व

जयोदय महाकाव्य तथा अन्य अनेक ग्रन्थों के निर्माता पण्डित श्री भूरामल जी शास्त्री ने वि सं. 1948 में राजस्थान प्रदेश में जयपुर के सन्निकट राणोली ग्राम को अपने जन्म से अलंकृत किया था। खण्डेलवाल जैन कुलोत्पन्न छावड़ा गोत्रिय सेठ सुखदेव जी उनके पितामह थे। पिता का नाम श्री चतुर्भुज जी एवं माता घृतवरी देवी थीं। ये पाँच भाई थे जो क्रमश: छगनलाल, भूरामल, गंगा प्रसाद, गौरीलाल और देवीदत्त नाम से विख्यात हैं। पिता का देहावसान विक्रम सम्वत् 1959 में हुआ। पितृदेहावसान काल में उस समय ज्येष्ठ भ्राता छगनलाल की आयु 12 वर्ष की थी एवं कनिष्ठ पंचम भ्राता देवीदत्त का जन्म पिता की मृत्यु के पश्चात् हुआ। पिता के अकाल काल कवलित होने से पारिवारिक जीवन के वहन करने में अस्तव्यस्तता अधिक बढ़ गयी। उस समय भूरामल की आयु दस वर्ष की थी। आगम शिक्षा में साधन की विकलता होने से एक वर्ष पश्चात् अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ गया चले गये एवं जैनी सेठ की दुकान पर जीवन निर्वाहार्थ कार्य सीखने लगे। कुछ दिनों के बाद स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में किसी महोत्सव में भाग लेने के लिये एक छात्र आ रहा था। उसी के साथ भूरामल जी भी अध्ययन की भावना को लेकर अपने भाई की आज्ञा लेकर वाराणसी चले आये। उस समय ये पंचदश वर्षीय थे। स्याद्वाद महाविद्यालय में अध्ययन करने वाले पण्डित वंशीधर, पं. गोविन्द राय एवं पण्डित तुलसी राम जी इनके सतीर्थ थे। वास्तविक योग्यता परीक्षा देने से प्राप्त करना सम्भव नहीं अपितु आद्योपान्त ग्रन्थाध्ययन से ही सम्भव है। अतएव आपने कोई परीक्षा नहीं दी। अहर्निश ग्रन्थाध्ययन में प्रवृत्त हुये।

स्थिति दयनीय होने के कारण गमछे बेंचकर अपने भोजन व्यय आदि का आपने निवाह किया। उस समय जैन व्याकरण साहित्य आदि के ग्रन्थ कम ही प्रकाशित हुए थे। उक्त महाविद्यालय के छात्र अधिकांशत: अजैन व्याकरण और साहित्य के ग्रन्थ ही पढ़कर परीक्षाओं को उत्तीर्ण किया करते थे। यह देखकर आपको अधिक पश्चात्ताप होता था कि जैन आचार्यो से निर्मित व्याकरण साहित्यादि ग्रन्थों का जैन छात्र अध्ययन न करके केवल परीक्षोत्तिर्णता के प्रलोभन से प्रवृत्त हो रहे हैं। लोगों के प्रयास से इस महाकवि कल्प अन्य जन भी इस पर विचार करने लगे। तथा जैन न्याय और व्याकरण के ग्रन्थ भी प्रकाशित होने लगे। लोगों की प्रेरणा से काशी विश्वविद्यालय और कलकत्ता के परीक्षालय के पाठ्यक्रम में ये ग्रन्थ रखवाये गये। परन्तु जैन काव्य उस समय तक बहुत कम ही थे जो थे वे भी अल्प मात्रा में प्रकाश में आये। महाकवि के हृदय में उसी समय यह भावना उत्पन्न हुई कि अध्ययन समाप्ति के पश्चात् मैं इस कमी की पूर्ति करूँगा। वाराणसी में आपने जैन न्याय, व्याकरण

और साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन किया । उस समय विद्यालय के अध्यापक वैदुष्य सम्पन्न तथा सभी ब्राह्मण थे । अत: जैन ग्रन्थों को पढ़ाने में उदासीनता रखते थे एवं पाठकों को हतोत्साहित भी करते थे । किन्तु भुरामल जी के हृदय में जैन ग्रन्थों के अध्ययन एवं उनके प्रकाशन की प्रबल इच्छा थी । अतएव आपने 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' इस नीति को अपनाकर जैन ग्रन्थों का अध्ययन किया ।

यह बात भी स्मरणीय है कि आपके अध्ययन काल में पण्डित उमराव सिंह जी जो कालान्तर में ब्रह्मचर्य प्रतिमा अङ्गीकार कर ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी के नाम से प्रसिद्ध हुए, उनके द्वारा जैन ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन में अधिक प्रोत्साहन मिला । उस समय ज्ञानानन्द जी धर्मशास्त्र का अध्यापन करते थे । यही कारण है कि पण्डित भूरामल जी पश्चात् मुनि बने तथापि अपनी रचनाओं में उन्होंने उनका गुरु रूप से स्मरण किया है ।

वाराणसी अध्ययनानन्तर पुन: राणोली ग्राम में गये यद्यपि उस समय गृह परिस्थिति समीचीन नहीं थी एवं अनेकश: विद्वान् विद्यालयाध्ययनानन्तर विद्यालयों और पाठशालाओं में वैतनिक सेवारत हो रहे थे तथापि आप को यह रुचिकर नहीं लगा अपितु ग्राम में दुकानदारी करते हुए नि:स्वार्थ भाव से स्थानीय जैन बालकों का अध्यापन प्रारम्भ किया और यह व्यापार लम्बे समय तक रहा । एवं छोटे भाईयों की शिक्षा दीक्षा की देख रेख में लग गये ।

उक्त समय में आपकी युवावस्था विद्वत्ता एवं गृह संचालन आजीविकोपार्जन योग्यता देखकर विवाह हेतु अनेक सम्बन्धी आये एवं विवाहार्थ भाइ एवं सम्बन्धियों का अधिक आग्रह हुआ परन्तु अध्ययन काल से ही यह आपका मानस संकल्प बन चुका था कि आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर जैन साहित्य निर्माणार्थ एवं प्रचार प्रसारार्थ जीवन व्यतीत करूँगा इसलिये विवाह के विषय में आपने इंकार कर दिया । दुकान के कार्य को भी गौण बनाकर तथा लड़े भाइयों पर उसका उत्तरदायित्व छोड़कर अध्यापनातिरिक्त शेष समय को साहित्य की साधना में ही लगाने लगे जिसके फलस्वरूप अनेक ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी में आपके द्वारा लिखे गये ।

संस्कृत साहित्य में सात ग्रन्थ आपके विख्यात हैं एवं हिन्दी साहित्य में चौदह ग्रन्थ आपने लिखे । ज्ञात हुआ है कि इसके अलावा भी उनके द्वारा रचित और भी ग्रन्थ है, लेकिन उनकी पाण्डुलिपियाँ मुझे उपलब्ध नहीं हो सकी ।

आपने न्याय, व्याकरण, साहित्य एवं जैन वाङ्मय का गम्भीर अध्ययन कर पूर्ण आनन्द का अनुभव किया । विक्रम सम्वत् 2004 में ब्रह्मचर्य दीक्षा ग्रहण की । ब्रह्मचारी अवस्था में भी सन् 1950 में श्री 108 आचाय सूर्य सागर के चातुर्मास के समय दिल्ली पहुँचे वहाँ आचार्य श्री सूर्यसागर जी के पास ही अनेक व्यक्तियों से भेंट हुई । वार्तालाप प्रसङ्ग से यह अवगत हुआ कि आपने संस्कृत में काव्य ग्रन्थों का प्रणयन किया है । विक्रम सम्वत् 2012

में आपने क्षुल्लकव्रत ग्रहण किया। आपकी रचनाएँ श्री 105 क्षुल्लक सन्मत सागर जी के पास विद्यमान रहीं हैं। क्षुल्लक जी से उन ग्रन्थों के प्रकाशन के सम्बन्ध में अनेकशः बातचीत चली। महाराज श्री इस विषय में उदासीन थे। फिर भी क्षुल्लक जी ने यह व्यक्त किया कि यदि समाज की इच्छा हो तो अत्यन्त प्रसन्नता की बात है। परिणामतः महाराज जी के नाम से एक ग्रन्थमाला स्थापित कर उनके ग्रन्थों को प्रकाशित करने का निश्चय किया गया और उस ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक श्री हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री बने। वि सं 201- में आपने मुनि दीक्षा ग्रहण की। एक जून 1973 में नसीराबाद में स्वास्थ्य की समीचीनता न होने के कारण अपने योग्य शिष्य श्री 108 विद्यासागर जी को अपना आचार्य पद भार अर्पण कर समाधि ग्रहण की।

पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के कृतित्व

संस्कृत ग्रन्थ :

1. **दयोदय चम्पू :** इस ग्रन्थ रत्न में अहिंसा धर्म का माहात्म्य व्यक्त कर एक धीवर के उद्धार की कहानी प्रस्तुत की गयी है। गद्यपद्यमयात्मक लघुकायात्मक आपके इस संस्कृत रचना का सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ। हिंसक व्यक्ति जीवघात से यदि लेशमात्र भी हत्या न करने का नियम बाँध लेता है तो वह किस प्रकार अभ्युन्नति करता है यहाँ इसी का विवेचन किया गया है। यह कथा मृगसेन धीवर को लेकर निबद्ध की गयी है।

2. **सुदर्शनोदय :** नौ सर्गोनिर्मित यह एक काव्य है जिसमें चम्पापुरी के एक पत्नी व्रतधारी सेठ श्री सुदर्शन जी का अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन छन्दों में चरित्र चित्रित किया गया है। सेठ को यहाँ धीरोदात्त नायक के रूप में निबद्धकर ऐसी कौतूहल जनक कथा प्रस्तुत की गयी है, जिसे आद्योपान्त पढ़ने की उत्सुकता शांत नहीं होती, प्रतिसर्ग वह उत्सुकता बढ़ती ही जाती है। स्त्रीजनित उपसर्गो के आने एवं नाना प्रकार के हाव-भाव विलासी के दिखायी देने पर भी सेठ सुदर्शन अपने दृढ़ ब्रह्मचय से लेशमात्र भी विचलित नहीं होते और मेरु के समान स्थिर होने लगते हैं। प्रसन्न एवं गम्भीर वैदर्भी रीति से प्रवहमान इस सरस्वती के प्रवाह में सहृदय पाठकों के मानस मत्स्य विलास पूर्वक उदवर्तन-निवर्तन करते रहते हैं। रचना अत्यन्त सरस एवं रम्य है।

3. **वीरोदय :** 22 सर्गात्मक इस महाकाव्य में भगवान् महावीर के पुरवा भील के भव से लेकर तीर्थकर होकर निर्वाण प्राप्त करने तक के तैंतीस भवों का सुन्दर चरित चित्रण किया गया है। प्रसंगानुसार बीच-बीच में अत्यन्त प्रभावोत्पादक धर्मोपदेश दिये गये हैं। ग्रन्थकार की शैली संस्कृत के सुप्रसिद्ध महाकवि कालिदास, भारवि, माघ एवं श्री हर्ष की काव्य शैली का स्मरण कराती है। इसके अनुशीलन से ग्रन्थकर्ता का प्रगल्भ पाण्डित्य एवं कवित्व शक्ति स्पष्ट होती है।

4. **जयोदय :** प्रणीत नैषध महाकाव्य को संस्कृत साहित्य में महाकवि हर्ष की उत्कृष्ट रचना माना जाता है । नैषध के पश्चात् जयोदय भी उस कोटि की कल्पना से परिपूर्ण है। 28 सर्गात्मक विशालकाय इस महाकाव्य में जयकुमार सुलोचना के सुप्रसिद्ध कथानक का आश्रय लेकर कथावस्तु की रचना की गयी है । इसमें महाकवि की काव्य प्रतिभा और पाण्डित्य का अपूर्व समन्वय हुआ है । ग्रन्थ की शैली गरिमा-परिपूर्णा एवं हृदय हारिणी है । इसमें अपरिग्रह व्रत का माहात्म्य दिखाया गया है । प्रथम मुद्रण वि. सम्वत् 2006 में महावीर प्रेस किनारी बाजार आगरा से कपूरचन्द्र जैन द्वारा हुआ जिसके प्रकाशक ब्रह्मचारी सूरजमल (सूर्य मल जैन) श्री 108 श्री वीरसागर महामुनि जी हैं । प्रथम प्रकाशन में यह 1000 प्रतियों में प्रकाशित हुआ । मुनि श्री ज्ञानसागर ग्रन्थमाला के पंचम पुष्प के रूप में इस काव्य का दूसरी बार प्रकाशन हुआ । यह त्रयोदशसर्ग मात्र का है। जिस पर कवि की स्वोपज्ञ संस्कृत टीका एक हिन्दी अनुवाद भी है। इसके प्रधान संपादक सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल जैन, प्रकाशक और मन्त्री हैं पं. प्रकाश चन्द्र जैन । यह प्रकाशन भी राजस्थान ब्यावर से हुआ है। 1000 प्रतियों में प्रकाशित इस प्रकाशन में मुद्रक महावीर प्रेस भेलूपुर, वाराणसी है । इसका प्रकाशन वर्ष वि.सं. 2035 एवं ई. सन् 1978 है ।

जयोदय महाकाव्य के पूर्व ही कवि ने वीरोदय महाकाव्य का भी निर्माण कर दिया था क्योंकि जयोदय के सर्ग 24 की समाप्ति में स्वयं "श्री वीरोदयसोदरेऽतिललिते सर्गोऽरिदुर्गेऽप्यगात्" ऐसा कहकर कवि ने जयोदय को वीरोदय महाकाव्य का सोदर बताया है ।

जयोदय के प्रथंम संस्करण एवं द्वितीय संस्करण में श्लोकों की संख्या और क्रम दोनों में ही अन्तर देखने को मिलता है । जैसे द्वितीय संस्करण में

"यस्य प्रताप व्यथितः पिनाकी गङ्गामभङ्गा न जहात्यथाकी।
पितामहस्तामरसान्तराले निवासवान् सोऽप्यभवद्विशाले ॥"

(ज.म. 1/8)

"रसातले नागपतिर्निविष्टः पयोनिधौ पीतपटः प्रविष्टः ।
अनन्यतेजाः पुनरस्ति शिष्टः को वेह लोके कथितोऽवशिष्टः ॥"

(ज.म. 1/9)

ये दोनों ही श्लोक जयोदय महाकाव्य के प्रथम प्रकाशन में नहीं हैं। इसी प्रकार आगे श्लोकों की संख्या में भी परिवर्तन दिखायी देता है । "गुणैस्तु पुण्यैक पुनीतमूर्तेः" प्रथम संस्करण में इस श्लोक की संख्या नवीं है जबकि द्वितीय संस्करण में दसवीं ।

इसी प्रकार प्रथम संस्करण के सर्ग दो का 119 वाँ श्लोक द्वितीय संस्करण में नहीं

इसी प्रकार श्लोकों की संख्याओं में अन्तर भी पाया जाता है । उदाहरणार्थ प्रथम संस्करण के द्वितीय सर्ग का 128वाँ श्लोक द्वितीय संस्करण के 124 वीं संख्या में है । जयोदय के प्रथम संस्करण के 15वें सर्ग तथा परवर्तीय सर्गों में ऐसे तमाम श्लोक हैं, जिनकी कोई संख्या नहीं है या तो प्रकाशन में यह प्रमाद हो गया है या ऐसे श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

5. **भद्रोदय :** इसमें असत्यभाषी तस्कर सत्यघोष की कथा के माध्यम से, असत्य भाषण और परधनापहरण का परिणाम हितकर नहीं होता है, प्रकट कर सत्य भाषण का सुपरिणाम बतलाया गया है ।

6. **मुनिमनोरंजन शतकम् :** इसमें रम्य पद्धति मे मुनियों के कर्तव्यों का वर्णन सौ श्लोकों मे किया गया है ।

7. **प्रवचनसार :** यह छाया ग्रन्थ है, जिसमें आ कुन्द कुन्द के प्रवचन सार की गाथाओं का श्लोकों में प्रतिबिम्ब रूपतया वर्णन किया गया है ।

इन उपर्युक्त संस्कृत रचित ग्रन्थों के अतिरिक्त महाकवि के द्वारा हिन्दी भाषा में रचे गये चौदह ग्रन्थ और हैं । संक्षेप में जिनका परिचय इस प्रकार है -

8. **ऋषभावतार :** इसमें भगवान् ऋषभ देव का गीतिका, चौपाई आदि विविध छन्दों में चरित निबद्ध किया गया है ।

9. **गुण सुन्दर वृतान्त :** इसमें राजा श्रेणिक के समय में युवावस्था में दीक्षित एक सेठ के पुत्र का रम्य वर्णन किया गया है । इसकी कविता अत्यन्त आकर्षक है ।

10. **भाग्योदय :** इसमें धन्य कुमार के चरित्र-चित्रण किये गये हैं।

11. **जैन विवाह विधि :** इसमें सरल पद्धति से हिन्दी भाषा में विवाह विधि का जैन प्रथा के अनुसार पूर्ण वर्णन किया गया है ।

12. **सम्यक्त्वसार शतक :** इसमें सम्यक्त्व का अत्यन्त मार्मिक ढंग से सौ छन्दों में महाकवि ने वर्णन किया है ।

13. **तत्वार्थसूत्र टीका :** इसमें तत्वार्थसूत्रों का वर्णन किया गया है एवं अनेक नवीन विषयों का प्रकरण वश निरूपण भी किया गया है तथा प्रस्तावन में नूतन विचारों पर प्रकाश भी डाला गया है ।

14. **कर्तव्य पथ प्रदर्शन :** इसमें सर्वसाधारण के लिये दैनिक कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है ।

15. **विवेकोदय :** इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्द-कुन्द के समयसार की गाथाओं का गीतिका छन्द में वर्णन किया गया है ।

16. **सचित्त विवेचन :** इस ग्रन्थ में सचित्त और अचित्त वस्तुओं का आगम के आधार पर प्रामाणिक विवेचन किया गया है ।

उक्त पुस्तकें प्रकाशित भी हो चुकी हैं ।

17. **देवागमस्तोत का हिन्दी पद्यानुवाद** इसमें देवागम स्त्रोत का हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध अनुवाद किया गया है, जिसका प्रकाशन जैन गजट में हुआ है ।

18. **नियमसार का पद्यानुवाद :** इसमें नियम सार का पद्यवद्ध हिन्दी भाषा में अनुवाद किया गया है जो जैन गजट में प्रकाशित है ।

19. **अष्टपाहुड का पद्यानुवाद :** यह अष्टपाहुड का पद्य में अनुवाद, जिसमें श्रेयो मार्ग पर प्रकाश डाला गया है ।

20. **मानव जीवन :** इस ग्रन्थ में मनुष्य जीवन की महत्ता बतलायी गयी है तथा कर्तव्य पथ पर चलने के लिये प्रेरणा की गयी है ।

21. **स्वामी कुन्द-कुन्द और सनातन जैन धर्म :** इस ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों से सत्यार्थ जैन धर्म का निरूपण स्वामी कुन्द कुन्दाचार्य के 'समयसार' आदि ग्रन्थों के आधार पर किया गया है ।

श्री भूरामल शास्त्री जी (आचार्य ज्ञानसागरजी) के जयोदय महाकाव्य को देखने से यह प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य केवल कविता निर्माण करना मात्र ही नहीं अपितु आकर्षक प्रौढ़ प्राञ्जल अनुप्रासादि अलङ्कारगुणादि के सरल सरस माध्यम द्वारा जैन धर्म के सिद्धान्तों को व्यक्त करना प्रधान लक्ष्य है । जैन धर्म के प्राणभूत अहिंसा, सत्य आदि मूल व्रतों एवं साम्यवाद अनेकान्त वाद, कर्मवाद आदि आगमिक और दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन कर शान्त साम्राज्य का प्रणयन करना कवि का लक्ष्य रहा है । इस कवि की समग्र रचनाओं में प्रायः इसी लक्ष्य को दृष्टिगत रखा गया है ।

आ. श्री ज्ञानसागर जी का जयोदय महाकाव्य यह व्यक्त करता है कि ये वैयाकरण, ज्योतिर्विद, आयुर्वेद ज्ञाता, दर्शनसिद्धान्त मर्मज्ञ एवं काव्य कला प्रदर्शन में परम प्रवीन थे ।

प्रकाण्ड वैयाकरण :

जयोदय महाकाव्य में अनेक ऐसे श्लोक दर्शनीय हैं, जिनसे कवि के प्रबुद्ध वैयाकरण होने का प्रमाण है । जैसे -

''न वर्णलोपः प्रकृतेर्न भङ्ग कुतोऽपि न प्रत्ययवत्प्रसङ्गः ।
यत्र स्वतो वा गुणवृद्धिसिद्धिः प्राप्ता यदीयापदुरीतिऋद्धिम् ॥''[14]

यहाँ श्लिष्ट परिसंख्या के माध्यम से राजा जयकुमार के वर्णन प्रसङ्ग में कहा गया है कि इसके पद की रीति भी समृद्धि को प्राप्त की थी। उसके राज्य (प्रजा) में ब्राह्मणादि वर्णों का लोप नहीं था केवल व्याकरण शास्त्र में प्रकृति से सुबन्त या तिङन्त जो पद बनते हैं उसमें वर्ण का लोप होता है । मन्त्री आदि प्रधान पुरुषों का राज्य में विनाश या अपमान नहीं होता था केवल व्याकरण शास्त्र में ही प्रकृति गत भङ्गता मिलती थी। राज्य में कभी विरुद्ध गमन दोषों का प्रसङ्ग नहीं आता था एवं प्रजा में गुणों की वृद्धि स्वतः सिद्ध थी । व्याकरण शास्त्र में ही गुण वृद्धि नामक आदेश होकर पद का निर्माण होता है । किन्तु इस प्रकार का रूप जयकुमार के राज्य में नहीं था ।

इसी प्रकार से इसी सर्ग का श्लोक पंचानबे भी दर्शनीय है -

''भुवि धुतोऽग्रविधिगुणवृद्धिमान् सपदि तद्धितमेव कृतं भजन् ।
यतिपतिः कथितो गुणिताह्वयः सततमुक्तिविदामिति पूज्यपात् ॥''[15]

चतुर्थ सर्ग के सोलहवें श्लोक में भी कवि के वैयाकरण होने का संकेत मिलता है-

**''पाणिनीयकुलकोक्तिसुवस्तु पूज्यपादविहितां सुदृशस्तु ।
सर्वतोऽपि चतुरङ्गतताभिः काशिकां ययुरमी धिषणाभिः।।''**[6]

सुलोचना के पाणिग्रहणार्थ राजा काशी पहुँच गये । यहाँ पर समासोक्ति के द्वारा यह भी बोध्य है कि अध्ययन बोध आचरण और प्रचारण इन चार रूपों मे विकसित होने वाली आचार्य पाणिनि व्याकरण पर निर्मित 'काशिका वृत्ति' को लोगों ने प्राप्त किया। महर्षि पाणिनि के अष्टाध्यायी पर जयादित्य वामन की बनायी हुई काशिका वृत्ति है । पाणिनीय शब्द श्लिष्ट होने के कारण पाणिग्रहण एवं पाणिनीय व्याकरण दोनों को व्यक्त करता है ।

जयोदय के सर्ग एकादश श्लोक संख्या 78 में सुलोचना का वर्णन करते हुए श्लेष के माध्यम से व्याकरण का वर्ण-ज्ञान अभिव्यक्त किया है -

**''सदुष्मणान्तस्थसदंशुकेन स्तनेन साध्वी मुकुलोपमेन ।
चेतश्चुरा या पटुतातुला पि स्वरङ्गनामानमिता रुचा पि ।।''**[7]

श्लोक का तात्पर्य यह है कि वह सुलोचना यौवन के सुन्दर ऊष्मा अर्थात् तेज से युक्त सुन्दर चोली से आवृत्त कली सदृश स्तन युगल से उपलक्षित साध्वी अर्थात् सुन्दर आसन वाली होती हुई भी अन्य के चित्त को आकृष्ट करने में दक्ष थी । अपनी कान्ति से देवाङ्गनाओं से भी सम्मान को प्राप्त थी एवं व्याकरण की दृष्टि से भी यह सिद्ध होता है कि वह सुलोचना सम्पूर्ण वर्ण मात्रिकाधिकारिणी अन्तःकरण में पहुँची ।

यहाँ ऊष्मा से शल उष्माणः (श् ष् स् ह्) एवं अन्तस्थ पद से यणोऽन्तस्थाः (य् र् ल् व्) वर्ण से उपलक्षित मु' और 'कु' म वर्ग और 'क' वर्ग अर्थात् प् फ् ब् भ् म् क् ख् ग् घ् ङ् इन वर्णो से विभूषित पटुता तुला से 'टु' से ट वर्ग (ट् ठ् ड् ढ ण्) एवं तु से त वर्ग (त् थ् द् ध् न्) चुरा में 'चु' से वर्ग (च् छ् ज् झ् ञ्) रा रूप धन जिसमें है। स्वर अकारादि एवं उनके अङ्गों के नाम के अपूर्व ज्ञान से समुन्नत हुई कान्ति से साध्वी सुलोचना जो सभी वर्णो एवं मात्राओं की अधिकारिणी है मेरे मन पर अधिकार कर चुकी है, यह जयकुमार की उक्ति है । इस प्रकार यहाँ जयकुमार द्वारा सुलोचना के मुख श्री के वर्णन प्रसङ्ग में कहा गया है जिसमें कवि ने अपने व्याकरण ज्ञान का अपूर्व प्रदर्शन किया है ।

ज्योतिर्विद् भूरामल जी

सप्तम सर्ग में सुलोचना की प्राप्ति हेतु अनेक राज कुमारों के आगमन प्रसङ्ग में दिखाया गया है कि मारकेश दशाक्रान्त व्यक्ति जैसे हितावह उपदेश नहीं सुनता वैसे ही भरत पुत्र सुलोचनाभिलाषी दुर्मनस्कान्तःकरण अर्ककीर्ति भी अमृत के समान मंत्री के उपदेश की अवहेलना कर रणनिमित्त अथवा मरण निमित्त उत्कंट दोष से भर गया । यहाँ मारकेश शब्द का उल्लेख

किया गया है जो ज्योतिष का पारिभाषिक शब्द है जिस समय सप्तमेश और द्वितीयमेश की महादशा और अन्तर्दशा चलती है उस समय मारकेश की दशा मानी जाती है तथा मारकेश ग्रस्त व्यक्ति हितावह पथ्य ग्रहण नहीं करना चाहता है इसी दृष्टि को लेकर यहाँ कवि ने अपना मन्तव्य व्यक्त किया है -

''मारकेशदशाविष्टोऽवमत्य श्रीमतामृतम् ।
प्रत्युतोदग्रदोषोऽभूद् भुवि ना मरणाय सः ॥''[8]

इसी प्रकार उक्त श्लोक मे अव्यवहित श्लोक संख्या 54 भी देवज्ञता का परिचायक है

''यः कालग्रहसद्भावसहितोऽत्र समाहितः ।
योगवाहतयाऽन्योऽपि बुधवत् क्रूरतां श्रितः ॥''[9]

जिसका तात्पर्य है कि शेषाविष्ट अर्ककीर्ति का सम्पर्क होने से सद्बुद्धि सम्पन्न भी उसके संपर्क में आने वाले लोग क्रूर बन गये अर्थात् अर्ककीर्ति के पक्ष में आ गये जिस प्रकार पाप ग्रह के योग से बुध भी उसके समान हो जाता है । बुध पापग्रह के योग में तद्वत् ही हो जाता है । अतः कवि का यह कथन भी उसके ज्योतिर्विद् होने का अच्छा प्रमाण है ।

सुलोचना के द्वारा सभा में विद्यमान अनेक राजकुमारों को देखकर यह व्यक्त किया गया है कि यहाँ अनेक शूरवीर बुद्धिमान् कवि महान वक्ता मंगल चाहने वाले उपस्थित हैं। किन्तु इनमें सौम्य मूर्ति चन्द्र ग्रह जय कुमार कौन है जो मेरी प्रसन्नता का आधार है, जिसके लिये मैं शनिश्चर बन रही हूँ । सभा भवन को ग्रह मण्डल रूप में व्यक्त किया गया है जिसमें श्लिष्ट रूपक के माध्यम से शूर (सूर्य) बुध (बुध ग्रह) कवि (शुक्र ग्रह) गीरीश्वर से बृहस्पति एवं मंगल पद से मंगल भी ग्राह्य है। सौम्य मूर्ति से चन्द्रमा एवं अन्वेषण करने की दृष्टिकोण से धीरे-धीरे चलने वाली स्वयं सुलोचना शनैश्चर बन रही है । शनैश्चर मन्द गामी ग्रह है एवं इसकी जिस पर क्रूर दृष्टि पड़ती है सुख भागी नहीं हो सकता । इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र के ग्रह गुणों पर भी ध्यान दिया गया है जो महाकवि के शब्दों में अवधेय है

''शूरा बुधा वा कवयो गिरीश्वराः सर्वेऽप्यमी मङ्गलतामभीप्सवः ।
कः सौम्यमूर्तिर्मम कौमुदाश्रयोऽस्मिन् सङ्ग्रहे स्यात्तु शनैश्चराम्यहम् ॥''[10]

स्वयंवर वर्णन प्रसङ्ग में विद्यादेवी एक राजा का परिचय देती हुई निम्न श्लोक में यह व्यक्त करती है । यथा-

''वाणीति सदानन्दा भद्रा कीर्तिश्च वीरता विजया ।
रिक्तार्थिका स्ति लक्ष्मीः पूर्णा त्वं ज्योतिरीशस्य ॥''[11]

जिसका तात्पर्य यह है कि यह राजा ज्योतिरीश कान्तिसम्पन्न है अथवा ज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता है, जिसकी वाणी सर्वदा आनन्द दायिनी मधुरा है। इसकी कीर्ति भद्रा अर्थात् मनोहारी है, इसकी वीरता विजय शाला है जिसकी लक्ष्मी दरिद्रों के लिये उपयोगिनी है, हे सुलोचने! तुम पूर्णा हो इसलिये इसकी वांछा को पूर्णा तिथि की भाँति पूर्ण करो।

प्रकृत पद्य में नन्दा, तिथि विशेष का भी नाम है, जिसमें प्रतिपद षष्ठी, एकादशी तिथियाँ आती हैं। भद्रा में सप्तमी, द्वादशी तिथि आती है। ऐसे ही जया में तृतीया अष्टमी त्रयोदशी तिथियाँ आती हैं। रिक्ता में चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी तिथियाँ आती हैं। सुलोचना को पूर्णा संज्ञा कहा गया है। पूर्णा में किया हुआ कार्य परिपूर्ण होता है, जिसमें पंचमी, दशमी और पूर्णमासी तिथियाँ आती हैं। इस प्रकार तिथि संज्ञाओं का माध्यम लेकर ज्योतिष शास्त्र की ओर भी संकेत किया गया है।

सप्तम सर्ग के निम्न श्लोक में सुलोचना के प्रत्याशी को धाविष्ट अर्ककीर्ति का वर्णन राहु से ग्रस्त सूर्य के रूप में किया गया है। यथा -

"अर्क एवं तमसावृतोऽधुना दर्शघस्र इह हेतुनाऽमुना ।
एत्यहो ग्रहणतां श्रियः प्रिय इत्यभूदपि शुचा सविक्रियः ।।"[12]

जिसका तात्पर्य है कि सूर्य ग्रहण अमावश्या तिथि में ही लगता है इसलिये 'दर्शघस्रतमसावृतो अर्क एव' ऐसा अर्क कीर्ति के लिये निर्देश किया गया है। यह जय कुमार ने सोचा कि इस मांगलिक वेला में तेजस्वी अर्ककीर्ति भी रोष रूप राहु से ग्रस्त होकर ग्रहण को प्राप्त हो रहा है जिससे चिन्ता वश जय कुमार में भी कुछ विकार उत्पन्न हो गया। अर्क शब्द श्लिष्ट होने से सूर्य एवं अर्ककीर्ति दोनों अर्थो का बोधक है।

इसी प्रकार अन्य अनेक सर्गों में ज्योतिष शास्त्र विषयक विवेचन भी मिलते हैं। जैसे-

"इतोऽयमर्कः स च सौम्य एष शुक्रः समन्ताद्ध्वजवस्त्रवेशः ।
रक्तः स्म कौ जायत आयतस्तु ग्रहप्रभ्टानां विरवः समस्तु ।।
केतुः कबन्धोच्चलनैकहेतुस्तमो मृताना मुखमण्डले तु ।
सोमो वरासिप्रसरः स ताभिः शनैश्चरोऽभूत्कटको घटाभिः।।
मितिर्यतः पंचदशत्वमाख्यन्नक्षत्रलोकोऽपि नवत्रिकाख्यः ।
क्वचित्परागो ग्रहणश्च कुत्र खगोलताऽभूत्समरे तु तत्र ।।"[13]

जिसका अर्थ है कि जयकुमार एवं अर्ककीर्ति का वह रण स्थल खगोल की समता कर रहा था। खगोल में सूर्य, चन्द्र, बुध, शुक्र, मंगल वृहस्पति, केतु, राहु, शनिश्चर प्रकृति ग्रहादि एवं 27 नक्षत्र मण्डल भरा रहता है। यह रणभूमि भी श्लेष के माध्यम से इन सभी से भरी हुई दिखायी गयी है। अर्थात् अर्क (सूर्य, अर्ककीर्ति) एक ओर विद्यमान था दूसरी ओर सोम पुत्र बुद्धिमान् (बुध ग्रह) जयकुमार सन्नद्ध था। ध्वजाओं का वस्त्र श्वेत होने

मे शुक्रग्रह कहा गया है । शास्त्रों में शुक्र का वर्ण श्वेत दिया गया है । योद्धाओं के शरीर मे बहता हुआ रक्त (रक्त वर्ण मंगल) भूमि पर व्यक्त हो रहा था । योद्धाओं के शब्द गुरु फैलते हुए (गुरु ग्रह) के रूप में थे । मस्तक विहीन योद्धाओं का कबन्ध उछल रहा था जो केतु का काम कर रहा था । मरे हुए योद्धाओं के मुख पर अन्धकार विद्यमान था जो राहु रूप में प्रतीत हो रहा था । चमकते हुए खड्ग कान्तिशाली चन्द्रमा का काम कर रहे थे एवं हाथियों के समूह से व्याप्त सेना समूह (कटक) धीरे-धीरे चलने के कारण शनैश्चर ग्रह बन रहा था । अन्त में मरण स्वरूप पन्द्रह तिथियों का स्मरण हो रहा था । रणभूमि में क्षत्रिय गण पलायन करने वाले नहीं थे अत: 'नक्षत्रलोपो नत्रिकाख्य:' अर्थात् क्षत्रिय लोग वहाँ से न हटने के कारण नक्षत्र मण्डल ही बना हुआ था। कहीं पर पराग राग से रहित होना एवं कहीं पर ग्रहण अर्थात् चन्द्रग्रहण क्रोध से लालिमा एवं धर पकड़ होती थी जो ग्रहण का स्मरण कराती थी । इस प्रकार यह युद्ध स्थल खगोल के रूप में परिपूर्ण दिखाया गया है जो ज्योतिष शास्त्र की विज्ञता का परिचायक है ।

'एष दर्श: सूर्येन्दुसंगम:' की स्थिति को युद्धस्थल में अर्ककीर्ति एवं जयकुमार के समागम वर्णन प्रसङ्ग में किया गया है जो दर्शनीय है

''सोमाङ्गजप्राभवमुद्विजेतुं सपीतयोऽर्कस्य तदाऽऽनिपेतु: ।
स एष सुर्येन्दुसमागमोऽपि चिन्त्य: कुत: कस्य यशो व्यलोपि ॥''[14]

अमावस्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा का समागम होता है, जिसमें सूर्य के द्वारा चन्द्र के दब जाने से अन्धकार छा जाता है । इस युद्ध में अर्ककीर्ति को सूर्य एवं सोमपुत्र जयकुमार को चन्द्र बनाया गया है। इन दोनों का युद्ध स्थल में समागम लोगों अर्थात् दर्शकों के लिये चिन्ता का विषय बन गया है कि देखें किसका यश लुप्त होता है । परन्तु शास्त्र प्रसिद्धि के अनुसार चन्द्र का यश ही नष्ट होता है । प्रकृत महाकाव्य में चन्द्र का यश नष्ट न होकर अर्ककीर्ति रूप सूर्य के ही यश को नष्ट दिखाया गया है । यह अपूर्वता का परिचायक है जो कवि-प्रतिभा का द्योतक है ।

ऐसे ही इसी सर्ग के निम्न श्लोक में अर्ककीर्ति रूप सूर्य पर लगे हुए ग्रहण का वर्णन किया गया है । यथा -

''रथसादथ सारसाक्षिलब्धपतिना सम्प्रति नागपाशबद्ध: ।
शुशुभेऽप्यशुभेन चक्रितुक् तत्तमसा सन्तमसारिरिव भुक्त: ॥''[15]

अर्थ यह है कि जयकुमार ने अर्ककीर्ति को नागपाश से बाँधा और अपने रथ में डाल दिया, जिससे प्रतीत होता है कि नागपाश रूप राहु द्वारा अर्ककीर्ति रूप सूर्य भी आक्रान्त हुआ है ।

इसी प्रकार इस महाकाव्य में अनेकश: स्थलों में ज्योतिष-विषयक सिद्धान्तों के वर्णन

किये गये हैं । परन्तु 'थाली पुलाक' न्याय से ही यहाँ दिखाया गया है । निःसन्देह कवि भूरामल जी अनेक शास्त्रविद् होने के साथ-साथ ज्योतिष के भी प्रकाण्ड पण्डित थे ।

कवि की न्यायगति एवं राजनीति प्रवीणता:

जो राजा शस्त्र एवं शास्त्र दोनों के प्रयोग में कुशल होता है, उसका जीवन सर्वथा सुदृढ़ एवं सुखमय होता है । न्याय शास्त्र में पक्ष, सपक्ष, हेतु द्वारा विपक्ष व्यावृत्ति पूर्वक साध्य की सिद्धि बतलायी गयी है । शास्त्रार्थी परपक्ष को दूषित कर अनुमान व्यभिचरित कर देता है, जिससे परपक्ष की पराजय सिद्ध होती है, जिसका उदाहरण अवलोकनीय है-

''जयेच्छुरादुषितवान्विपक्षं प्रमापणैकप्रवणैः सुदक्षः ।
हेतावुपात्तप्रतिपत्तिरत्र शस्त्रैश्च शास्त्रैरपि सोमपुत्रः ।।''[16]

प्रकृत पद्य में सोमपुत्र जय कुमार को शस्त्र और शास्त्र दोनों के प्रयोग में प्रवीण बताया गया है । शस्त्र के द्वारा शत्रु-मारण में दक्षता एवम् शास्त्र के द्वारा प्रमाण के व्यवहार में कुशलता इन दोनों गुणोंसे युक्त होने के कारण विजयाभिलाषी इस कुमार ने शत्रु पक्ष को भली-भाँति नष्ट कर हरा दिया । इस प्रकार व्यक्त होता है कि कवि न्यायशास्त्र के सिद्धान्त का अच्छा जानकार था, साथ ही विजय-पराजय की विधि को जानने के कारण राजनीति प्रवण भी था ।

जयोदय महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में राज धर्म एवं कर्तव्य का विवेचन है । यथा

''वर्णिगेहिवनवासियोगिनामाश्रमान् परिपठन्ति ते जिनाः ।
नीतिरस्त्यखिलमर्त्यभोगिनी सूक्तिरेव वृषभृन्नियोगिनी ।।''[17]

भाव है कि राजाओं का यह धर्म एवं कर्तव्य है कि प्रजाजन को छः ईतियों[18] से बचाते हुए धर्मार्थ, काम में उन्हें सदैव प्रवृत्त करें । इसके लिये त्रयी वार्ता एवं दण्डनीति का भी यथा-सम्भव प्रयोग करना चाहिए। लौकिक सदाचरणों के नियमों का संग्रह करना त्रयी कहलाती है । वर्णाश्रम के नियमानुसार आजीविका का विधान करना वार्ता एवं अपराधियों को यथा योग्य दण्ड देना दण्डनीति कहलाती है । इसके विपरीत करने से दण्डदाता को नरक मिलता है, ऐसा शास्त्र में कहा गया है[19] ।

इसी प्रकार तृतीय सर्ग के प्रथम श्लोक में भी राजकर्तव्यादि का निर्देश है जो जय कुमार के आचरणानुसार व्यक्त किया गया है । यथा-

''धर्मकर्माणि मनो नियोजयन्वित्तवर्त्मनि करौ प्रयोजयन् ।
नर्मशर्मणि शरीरमाश्रयन् स व्यभात्समयमाशु हाययन् ।।''[20]

अर्थ यह है कि राजा जयकुमार धर्म, कर्म अर्थात् यज्ञानुष्ठान आदि धर्म कार्यों में मन लगाता हुआ एवं हाथों से पुरुषार्थ के साथ अर्थोपार्जन करता हुआ तथा (आसक्तिहीन होकर)

शरीर से हर्ष-विनोद स्त्री सहवासादि सुख भोगता हुआ सहज भाव से जीवन यापन कर रहा था, जिसके यहाँ धर्मार्थ काम रूप त्रिवर्ग अविरोध पूर्वक सेवन किये जा रहे थे यह महाकवि का अभिप्राय है ।

गृहस्थ धर्म के प्रति कवि का सहज अनुराग:

कवि ने इस महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में विनत मस्तक जय कुमार को मुनिराज के मुख से गृहस्थाश्रम का विशद रूप में सर्ग पर्यन्त उपदेश कराया है जो अत्यन्त मनोरम एवं हितावह है । इसके अनुसार गृहस्थ को आन्तरिक शुद्धि के लिये शास्त्रों का चिन्तन-मनन करना चाहिए जिसमें उसे वेद, वेदाङ्ग, छन्दशास्त्र, काम शास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीत, वास्तुकला (वास्तु शास्त्र) आदि के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिए । गोमय लेपन द्वारा गृह शुद्धि तथा गोमूत्र सेवन करने से व्यक्ति पवित्र होता है क्योंकि गौ उत्तम देवता है। यथा

''धेनुरस्ति महतीह देवता तच्छकृत्प्रस्रवणे निषेवता ।
प्राप्यते सुशुचितेति भक्षणं हा तयोस्तदिति मौढ्यलक्षणम् ॥''[21]

किन्तु गोमूत्र, गोमयसेवनकर्ता को मुर्ख बताया गया है । उसी सर्ग के श्लोक एक सौ पच्चीस में गृहस्थ के लिये मांस, मदिरा, पराङ्गना सेवन वेश्यागमन, आखेट क्रीडा, द्यूत क्रीडा, तस्करता तथा नास्तिकता को त्याग करने के लिये विशेषोपदेश किया गया है । यथा

''द्यूत–मांस–मदिरा–पराङ्गना–पण्यदार–मृगया–चुराश्च ना।
नास्तिकत्वमपि संहरेत्तरामन्यथा व्यसन सङ्कुला धरा ॥''[22]

कवि ने गृहस्थाश्रम को अच्छा बनाये रखने की आवश्यकता पर बल दिया है ।

कवि का यज्ञानुराग :

इस महाकाव्य के द्वादश सर्ग में श्लोक संख्या पच्चीस, छब्बीस, सत्ताइसवें श्लोकों में यज्ञ भूमि का वनिता के साथ सादृश्य देकर मनोरम वर्णन किया गया है । यथा

''किल कामितदायिनी च यागावनिरित्यत्र पवित्रमध्यभागा ।
तिलकायितमञ्जुदीपकासावथ रम्भारुचितोरुशर्मभासा ॥''

''वनितेव विभातु निष्कलङ्का सफलोच्चैः स्तनकुम्भशुम्भदङ्का।
विलसत्त्रिवलीष्टनाभिकुण्डा शुचिपुष्पाभिमतप्रसन्नतुण्डा ॥''

''द्विजराजतिरास्क्रियार्थमेतल्लपनश्रीरितिशिक्षणाय वेतः ।
द्रुतमक्षतमुष्टिनाथ यागगुरुराडे नमताडयद्विरागः ॥''

ज.म. 12/25, 26, 27

यज्ञ भूमि का मध्य भाग विशाल एवं पवित्र होता है । वनिता का मध्य भाग पवित्र (वज्राकारी) अति कृश होता है । यज्ञ भूमि में मनोरम दीपक है, जो नायिका के तिलक सदृश है । यज्ञ भूमि के चारों कोनों पर कदली स्तम्भ लगा रहता है जो नायिका के विशाल उरू भाग (जंघा) के सदृश है । यज्ञभूमि में यज्ञकुण्ड बना रहता है, जो नायिका के नाभि

का अनुकरण कर रहा है। यज्ञभूमि में मंगल कलश रखे जाते हैं जो नायिका के उन्नत स्तन के सदृश हैं। मंगल कलश भी फल सहित होना है, नायिका स्तन भी पतिसंयोगशाली होने से सफल है। यज्ञभूमि निर्मल पुष्प से अलंकृत होती है, नायिका भी निर्मल प्रसन्न मुख से युक्त है। यज्ञ भूमि शेष आदि नागों के विघ्न दूर करने के लिये होना है। यहाँ द्विजराजचन्द्र का तिरस्कार नायिका मुख से व्यक्त किया गया है। इस प्रकार यहाँ यज्ञ कराने वाले पुरोहित जो सांसारिक प्रयोजन से निःस्पृह होते हैं, शीघ्र ही मुट्ठी से भरे अक्षत को यज्ञ भूमि पर छोड़े।

याज्ञिक प्रक्रिया को महाकवि ने काव्य में कई स्थलों पर दिखाया है, जो उसके भारतीय संस्कृति के लिये अमिट अनुराग का प्रतीक है।

कवि का संगीत प्रेम :

महाकवि ने इस महाकाव्य के दशम सर्ग में सुलोचना-जयकुमार के माङ्गलिक परिणय संस्कारावसर पर अनेक वाद्यों का मनोरम वर्णन किया है, जो श्लोक संख्या सोलह से लेकर इक्कीस तक दिखाया गया है। यथा-

''सघनं घनमेतदास्वनत् सुषिरं चाशु शिरोऽकरोत्स्वनम्।
स ततेन ततः कृतो ध्वनिः सममानद्धममानमध्वनीत् ॥''
प्रभवन्मृदुलाङ्कुरोदयं स्वयमित्यत्र तदानको ह्यम्।
सरसं धरणीतलं यदप्यकरोच्छब्दमयं जगद्वदन् ॥''
''तदुदात्तनिनादतो भयादपि सा सम्प्रति वल्लकीत्ययात्।
विनिलेतुमिवाशु तादृशि पृथुले श्रीयुवतेरिहोरसि ॥''
''प्रणनाद यदानकः तरामपि वीणा लसति स्म सापरा।
प्रसरद्रससारनिर्झरः स निसस्वान वरं हि झर्झरः ॥''
''युवतेरुरसीति रागतः स तु कोलम्बकमेवमागतम्।
समुदीक्ष्य तदेर्ष्ययाऽधरं खलु वेणुः सुचुचुम्ब सत्वरम् ॥''
''शुचिवंशभवच्च वेणुकं बहुसम्भावनया करेऽणुकम्।
विवरैः किमु नाङ्कितं विदुर्हुडकश्चेति चुकूज सन्मृदुः ॥''

(ज.म. 10/16, 17, 18, 19, 20, 21)

अमर कोश में चार प्रकार के वाद्यों के भेद बताये गये हैं तत, आनद्ध, सुषिर, घन। वीणा आदि बाजे को तत संज्ञा से कहा गया है। आनद्ध मृदंग आदि बाजे के लिये प्रयोग होता है। सुषिर यह वंशी, अलगोजा शंख आदि बाजे के लिये कहा जाता है। घन कांसे का बाजा, घण्टा, झाल आदि के लिये प्रयोग होता है। तत के भेद में वादित्र, आतोद्य आते

घन, सुषिर, तत आनद्ध ये चार प्रकार के बाजे बड़े वेग से बजने लगे जिनमें तत वद्य की ध्वनि के साथ आनद्ध नामक वाद्य उपरिमित ध्वनि करने लगा ।

उक्त समय में स्वयं बजते हुए दुन्दुभि वाद्य ने राज भवन में भूतल को नये अङ्कुरो से युक्त कर सरस कर दिया (जैसे मेघ पृथ्वी को जल से अङ्कुरित कर देता है) ।

भेरी बाजे की गम्भीर ध्वनि के भय से मानो वह वीणा भी शीघ्र छिपने के लिये किसी तरुणी के विशाल वक्षस्थल में जा पहुँची ।

भेरी बाजे की गम्भीर ध्वनि जब होने लगी तो वीणा भी अपनी मधुर ध्वनि से विभूषित हुई । साथ ही आनन्द तल को फैलाता हुआ झर झर (झाँझ) बाजा भी बजने लगा । तरुणी के वक्षस्थल पर अनुराग से वीणा के दण्ड को देख वेणु ने ईर्ष्यावश तुरन्त किसी दूसरी युवती के अधर का चुम्बन कर लिया अर्थात् वह बाँस की बनी हुई वंशी बजाने लगी।

उत्तम कुल में उत्पन्न छोटा भी वेणु वाद्य यद्यपि तरुणी के हाथ में ससम्मान रहा फिर भी क्या वह छिद्रों (दोषों) से युक्त नहीं है । इस प्रकार मन्द हास्य करता हुडुक बाजा भी बजने लगा ।

इसी प्रकार अन्य वाद्यों के वर्णन भी किये गये हैं । ऐसे वर्णन कवि के संगीत वाद्य प्रेम को तो व्यक्त करते ही हैं उसके एतद्विषयक ज्ञान के भी परिचायक हैं ।

कवि का सैन्य परिचय:

महाकाव्य में युद्ध के अवसर पर अनेक प्रकार की सेनाओं की रचना का वणन मिलता है जो कविगत सेना रचना की दक्षता का परिचायक है। जैसे सप्तम सर्ग के श्लोक संख्या पन्द्रह में व्युह रचना का वणन किया गया है । यथा

''सम्राजस्तुक् खलु चक्राभं बलवासं मकराकारं रचयन् श्रीपद्माधीट् च।
रणभूमावभ्रे चं खगस्तार्क्ष्यप्रायं यत्नं संग्रामकरं स्माऽञ्चति च प्राय·।।''

(ज.म. 7/115)

यहाँ अर्ककीर्ति द्वारा अपनी सेना के व्यूहन तथा जयकुमार द्वारा अपनी सेना के मकर व्यूह और यहाँ विद्याधरों द्वारा सेना के गरुडव्यूह के ऊपर में प्रस्तुत करने का वर्णन किया है । ऐसे वर्णन कविगत सैन्य परिचय के परिचायक होते हैं ।

कवि का दर्शन ज्ञान:

जयोदय महाकाव्य के एकादश सर्ग श्लोक संख्या पंचानवें में अद्वैत दर्शन 'एकमेवास्ती ह ना नास्ति किंचन' इत्यादि अद्वैत की ओर संकेत किया गया है जो सुलोचना के अनुपम वाणी वर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है। यथा-

''अद्वैतवाग्यद्विजराजतश्चाधिकप्रभाव्यास्यमदोऽस्त्यपश्चात् ।
दिदेश वाणान्मदनस्य शुद्ध्या पिकद्विजीऽभ्यस्यतु तान्सुवुद्ध्या: ॥''[23]

सुलोचना का मुख द्विजराज चन्द्र से भी अधिक प्रभाशील है, जिसकी वाणी अनन्य अद्वैत मदृश है । अतएव वैसे ही आदरणीय है जैसे 'एक ब्रह्म द्वितोयो नास्ति' इत्यादि कथन ब्रह्म मे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है इस वचन से सम्पन्न सबसे मुख्य एवं समादरणीय है इसलिये जिम मुलोचना के मुख ने कामदेव के बाणों को उपदेश दिया उन्हीं बाण और उपदेश का द्विज पिक, कोकिल (ब्राह्मण) मद्‌बुद्धि मे शुद्धिपूर्वक अभ्याम करें। यह बात इस श्लोक में कही गयी है । यहाँ सुलोचना की अद्वैत वाणी को अद्वैत दर्शन के ममान बताया गया है ।

दार्शनिक सिद्धान्तों का अधिकांशत: म्वरूप जयोदय के मर्ग संख्या छब्बीस में मिलता है । जहाँ जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक तत: आदितीर्थनाथ की वन्दना की गयी है । ऐसे समुचित स्थल पर दार्शनिक विवेचन पर कवि ने पूर्ण दृष्टिपात किया है । यथा-

अभेदभेदात्मकमर्थमर्हत्तवोदितं सम्यगिहानुविन्दन् ।
शक्नोमि पत्नीसुतवन्न वस्तुं किलेह खड्गेन नभो विभक्तुम् ॥''[24]

यहाँ भेद सहिष्णु अभेद का वर्णन दिखाते हुए कहा गया है कि जैन मिद्धान्त को उपाम्य हे अर्हन् देव ! तुम्हारे द्वारा कहे हुए भेद सहिष्णु अभेदात्मक मिद्धान्त को मैं किम प्रकार कहने में समर्थ हो सकता हूँ ? जिस प्रकार तलवार मे आकाश का विभाजन नहीं हो सकता, वैसे ही पत्नी पुत्रादि का भी भेद करने में मैं समर्थ नहीं हूँ अर्थात् चेतनांशत: मब एक हैं ।

इमी प्रकार अग्रिम श्लोक में भी सदसद् विलक्षण म्वरूप का वर्णन किया गया है, जो अवलोकनीय है-

''तत्त्वं त्वदुक्तं सदसत्स्वरूपं तथापि धत्ते परमेव रूपम् ।
युक्ताप्यहो जम्भरसेन हि द्रागुपैति सा कुङ्कुमतां हरिद्रा॥''[25]

अर्थात् 'तत्त्वम्' पदार्थ सूक्ति में रजत का भान भी सदसद् विलक्षण है । रजतार्थी मृक्ति को रजत समझकर उठाने के लिये प्रवृत्त होता है। उठाने के पश्चात् 'नेदं रजतम्'-यह रजत नहीं है, ऐसा ज्ञान होता है । विचारणीय यह है कि पूर्ववर्ती पदार्थ जिमको द्रष्टा ने रजत समझा पुन: रजत नहीं है, ऐसा ज्ञान क्यों हुआ ? रजत बुद्धि में रजताभाव का बोध विरुद्ध है। यदि यह कहें कि रजत है और नहीं भी है तो भी 'अम्ति नाम्ति' की उभयात्मक स्थिति कथमपि सम्भव नहीं है । अतएव सत्य रजत और मिथ्या रजत इन दोनों से भिन्न सदसद् विलक्षण अनिर्वचनीय पदार्थ माना गया ।

ऐसे ही 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तद्' पदार्थ परोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य का बोधक है । 'त्वम्' पदार्थ अपरोक्षत्व विज्ञिष्ट चैतन्य का बोधक है । परोक्षत्वामपरोक्षत्व उभयात्मक विरुद्ध ज्ञान एक पदार्थ में कथमपि सम्भव नहीं है परन्तु परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व उपाधि का त्याग कर देने से चैतन्यांश मात्र शेष रहने पर कोई विरोध नहीं होता है इसलिये यह कथन समुचित

ही है क्योंकि हर्दी भी नींबू के रस से युक्त होने पर शीघ्र ही कुमकुम रूप को धारण कर लेती है। यहाँ उक्त गम्भीर दर्शन को महाकवि ने प्रगट कर अपनी अप्रतिम दार्शनिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

इसी प्रकार उसी सर्ग में अव्यहित गति से चलते हुए दार्शनिक श्लोकों की झाँकी दर्शनीय है-

''अङ्गाङ्गिनोनैक्यमितीह रीतिर्न भो प्रभो भाति यथाप्रतीति ।
सत्या तदुक्तिः शतपत्रक्षनीतिगुणेषु नष्टेषु परेऽपि हीतिः॥''
येषां मतेनाथ गुणः स्वधाम्ना सम्बद्धचते वै समवायनाम्ना ।
तेषां तदैक्यात्किल संकृतिर्वानवस्थितिः पक्षपरिच्युतिर्वा॥''[26]

प्रकृत पद्य में कहा गया है कि हे प्रभो, जिस प्रकार यह यथार्थ ज्ञान बताया गया है, अङ्ग और अङ्गी में ऐक्य है, ऐसा विश्वास नहीं होता। तुम्हारी उक्ति सत्य ही है। गुणों के नष्ट होने पर ऐक्य सर्वथा सम्भव है। इस प्रसङ्ग में कहे हुए दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिये अधिक समय की अपेक्षा है जहाँ पर नैयायिक सिद्धान्त का भी विरोध प्रतीत होता है। समवाय सम्बन्ध से गुण गुणी में निवास करता है, इसको मानने से ऐक्य की क्षति अथवा अनवस्था दोष, अन्यथा परपक्ष की क्षति भी प्रतीत होती है।

दार्शनिक दृष्टि से पूर्ण निम्नस्थ श्लोक भी दर्शनीय है

''सम्मेलनं नो तिलवत्प्रसक्तिर्नान्धाश्मवच्चैतदशक्यभक्तिः ।
सत्तत्त्वयोरस्ति तदात्मशक्तिः प्रदीपदीप्त्योरिव तेऽनुशक्तिः ॥''[27]

जिसका भाव है कि तिल और तिल की राशि में अन्तर नहीं होता। दोनों समान ही होते हैं। अन्धा पत्थर के समान व्यवहार न करना ही श्रेयकर है। आपकी अनुशक्ति, आपकी प्रेरणा जलते हुए प्रदीप और उसकी प्रभा के सदृश है। अर्थात् प्रदीप की प्रभा प्रदीप से पृथक् नहीं है वैसे ही आत्मा और उसकी शक्ति आत्मा से पृथक् नहीं है।

ऐसे ही इसी सर्ग का अग्रिम श्लोक भी उपादेय है

''न सत्सदैकं गुणसंग्रहत्वाद् घृतादयो मोदकमस्तुतत्त्वात् ।
अनैक्यमेवास्य तथैतु किंचिदेकैकतो नैक्यमुपैतिकिंचित्॥''[28]

तात्पर्य है कि गुणाधान से ही एक सत् सदा नहीं रहता। घृत से बना हुआ मोदक घृताकार में ही नहीं दीखता। इस प्रकार भेद हो, तो कुछ भेद रहे। परन्तु घृत होने से यह घृत ही है, जैसे एकता की प्रतीति होती है, वैसे ही एकता हो सकती है।

जिस प्रकार दार पद बहुवचन एवं पुल्लिंग है परन्तु उसका वाच्य अर्थ स्त्रीलिंग और एक ही होता है वैसे ही अनेक में भी एकत्व का भान होता है यही रहस्य विमर्श है। सम्पूर्ण वस्तु प्रतिबिम्ब रूप में है यथार्थतः ज्ञान के लिये एक ही शेष समझना चाहिए इस भाव को महाकवि ने निम्न रूप में दर्शाया है

"दाग इवारात्पदवाच्यमेकमनेकमप्येतितरां विवेकः ।
समस्तु वस्तुप्रतिरूपवेशमुद्बोधनायास्त्वथवैकशेषः॥"[29]

ऐसे ही श्लोक संख्या अट्ठासी भी देखा जा सकता है -

अद्वैतवादोऽपरिणामभृत्स्याददृष्टहृददृष्टविरोधकृत्स्यात् ।
किं यातु सेतुं च तदीयहेतुर्विरुद्धता द्वीपवतीभरे तु ॥"[30]

अद्वैतवाद जो परिणामवादी नहीं है अपितु विवर्तवाद को स्वीकार करता है, उसमें अदृश्य का दृश्य से विरोध प्रतीत होता है । द्वीपस्थली के लिये कौन सा पुल हो सकता है ?

आगे के श्लोक संख्या में इसी का निर्वाह दिखाया गया है -

"भावैकतायामखिलानुवृत्तिर्भवेदभावेऽथ कुतः प्रवृत्ति ।
यतः पटार्थी न घटं प्रयाति हे नाथ ! तत्त्वं तदुभानुपाति ॥"[31]

एकता की भावना में सबकी अनुवृत्ति हो जाती है । भव और भाव में कहाँ से प्रवृत्ति हो सकती है ? क्योंकि कपड़े को चाहने वाला जहाँ घट रहता है, वहाँ नहीं जाता है। हे प्रभो ! यही यथार्थ तत्त्व प्रतीत होता है ।

ऐसे ही अधोलिखित पद्य में अंशांशी भाव का संकेत किया गया है

"अंशीह तत्कः खलु यत्र दृष्टिः शेषः समन्तात्तदनन्य सृष्टिः ।
स आगतोऽसौ पुनरागतो वा परं तमन्वेति जनोऽत्र यद्वाक् ॥"[32]

अंशी यहाँ कौन है ? जहाँ दृष्टि पड़ती है, वहाँ शेष (अंश) ही सर्वत्र प्रतीत होता है । अतः सृष्टि उससे भिन्न नहीं है । वह आया अथवा पुनः पुनः आया परन्तु जन वर्ग उसी से ही सम्बन्ध करता है । उससे भिन्न का बोध नहीं होता ।

जैन सिद्धान्त में अणुवाद ने आत्मा के अनेकत्व को स्वीकार किया है । इसलिये अद्वैतवाद का विरोध होने से आत्मा के नित्यैकत्व के खण्डन में छब्बीसवें सर्ग का इक्यानवें श्लोक दिया गया है -

नित्यैकतायाः परिहारकोऽब्दः क्षणस्थितेस्तद्विनिवेदि शब्दः ।
सिद्धोऽधुनार्थः पुनरात्मभूप ! संज्ञानतो नित्यतदन्यरूपः॥"[33]

नित्यत्व और एकत्व का बाधक क्षण से आरम्भ कर बनने वाला अब्द अर्थात् वर्ष है । एक ही व्यक्ति कभी बालक एवं कभी राजा भिन्न उपाधियों से नियुक्त होने से भिन्न रूप में समझा जाता है न कि एक ही रूप में ग्रहण किया जाता है । अमरकोश आदि के आधार से आँख के बन्द करने और खोलने को निमेष कहा गया है । अट्ठारह निमेष की एक काष्ठा होती है । तीस काष्ठाओं की एक कला होती है । तीस कलाओं का एक क्षण होता है । बारह क्षणों का एक मुहुर्त होता है । तीस मुहुर्त का एक अहोरात्र होता है। पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष एवं दो पक्षों का एक मास । दो-दो मास की एक ऋतु बनती है

। तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन (उत्तरायण-दक्षिणायन) का एक वर्ष (अब्द) होता है। इस प्रकार वर्ष के अनेक अवयव होने से नित्यत्व और एकत्व दोनों सम्भव नहीं हैं। इसी प्रकार आत्मा में भी नित्य एकत्व करना उचित नहीं है।

ऐसे ही श्लोक संख्या बानवें में भी इसी वस्तु का विवेचन कर तीन प्रकार के तत्त्व पर बल दिया गया है, जो दर्शनीय है

"काष्ठं यदादाय सदा क्षिणोति हलं तटस्थो रणकृत्करोति ।
कृष्टा सुखी सारथिरेव रौति न कस्त्रिधा तत्त्वमुरीकरोति ॥"[35]

तटस्थ रथकार (बढ़ई) जिस काष्ठ को काट एवं छीलकर हल बनाता है, जिससे खेत जोतने वाला कृषि उत्पन्न कर सुखी होता है। इसी प्रकार रथारूढ़ सारथी सुखी एवं चेतन होने से शब्द करता है। अत: जड, जीव और आत्मा (परमात्मा) इन तीन तत्त्वों को कौन नहीं स्वीकार करता है ? (परन्तु यह ध्येय है कि जैन सिद्धान्तों में चेतन अणु स्वरूप है अतएव एकत्व न होकर अनन्तत्व है)।

इसी प्रकार निम्न में भी सामान्य विशेष भाव से सामान्य और विशेष को सिद्ध किया गया है। यथा-

"नि:शेषतद्व्यक्तिगतं नरत्वं विशिष्यते गोकुलतस्ततस्त्वम् ।
सामान्यशेषौ तु सतः समृद्धौ मिथोऽनुविद्धौ गतवान्प्रसिद्धौ ॥"[36]

यहाँ कहा गया है कि सामान्यत: व्यक्ति में, यह नर है नरत्व की स्थिति प्रतीति होती है। विशेष रूप से उसका नामकरण अथवा गोकुल आदि अमुक स्थान से आया हुआ है, यह विशेष रूप से बोध होता है। इस प्रकार सामान्य और विशेष रूप में ही सत्य से अनुविद्ध प्रतीति होती है। यही वस्तु जड और चेतन में भी समझनी चाहिए। आगे के श्लोक में इसी का स्पष्टीकरण किया गया है -

"सदेतदेकं च नयादभेदाद् द्विधाऽभ्यधात्त्वं चिदचित्प्रभेदात् ।
विलोडनाभिर्भवतादवश्यमाज्यं च तक्रं भुवि गोरसस्य ॥"[37]

यहाँ वर्णन है कि हे भगवन्, वह यह एक है इस अभेद सिद्धान्त को जड और चेतन भेद से आपने दो प्रकार का कहा है। ठीक ही है, क्योंकि लोक में गोरस दुग्ध के बने हुए दही को मथने से घृत होता है। इस प्रकार दुध का ही परिणाम भूत तक्र और घृत है।

अनादि सिद्ध द्वैत दर्शन को व्यक्त करते हुए कहा गया है। यथा-

"भवन्ति भूतानि चितोऽप्यकस्मात्तेभ्योऽथ सा साम्प्रतमस्तु कस्मात् ।
स्वलक्षणं सम्भवितास्ति यस्मादनादिसिद्धं द्वयमेव तस्मात् ॥"[38]

एक चित्त से भूत मात्र की उत्पत्ति होती है। वह उत्पत्ति जड भूतों से क्यों मानी जाय?

क्योंकि स्व लक्षण जब सम्भव है तो अन्य स्वीकार करना उचित नहीं। इसलिये चेतन और जड अनादि सिद्ध हैं।

इस प्रकार कह कर अभाववादी बौद्ध के दर्शन का खण्डन करने के लिये महाकवि ने उपासक जयकुमार के मुख से आगे के श्लोक में व्यक्त किया है-

"यद्गोमयोदाविह वृश्चिकादिश्चिच्छक्तिरायाति विभो अनादिः ।
जनोऽप्युपादानविहीनवादी वह्निं च पश्यन्नरणेः प्रमादी ॥"[39]

इस श्लोक में कहा है कि गोबर और जल (भैंस के गोबर और दही एवं घोड़ी की लीद तथा गधे के मूत्र) से बिच्छु आदि की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये अभाववादी का कथन है कि अभाव से ही अनादि प्रवाहवान जगत् की सृष्टि हुई है। उसके खण्डन में उपासक अपने देव को सम्बोधित करके कह रहा है कि, हे विभो। समर्थशालिन्, उपादान कारणहीन बोलने वाला मनुष्य (अभाववादी बौद्ध) क्या वह काष्ठ के भीतर अग्नि को देखते हुए भी प्रमाद नहीं कर रहा है। काष्ठ अरणी के भीतर अग्नि का निवास रहता ही है जो दहन करने में समर्थ है। परन्तु वह परस्पर रगड़-घर्षण से ही यज्ञादि में अभिव्यक्त किया जाता है।

आगे का श्लोक भी दर्शन से सम्बन्धित है। यथा-

"शरीरमात्रानुभवात्सुनामिन्नव्यापकं नाप्यणुकं भणामि ।
आत्मानमात्माङ्गनयाथस्ति कामी नखाच्छिखान्तं पुलकाभिरामी ॥"[40]

हे सुनामिन्। शरीर मात्र के स्पर्श से ही कामी जन अङ्गना के स्पर्श से अपने को नखशिख रोमांच युक्त कर लेता है। फिर भी वह कहे कि मैं व्यापक हूँ एक हूँ, यह कहाँ तक सम्भव होगा। 'मैं' वह अव्यापक या अणु हूँ, कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। नियति के आधीन रहने से स्वतन्त्रता कहाँ है? प्रत्येक कर्म की स्थिति से दोष मात्र ही है या कहाँ है। क्योंकि शुभाशुभ कर्मानुसार दोष-गुण दोनों आते रहते हैं। ये सब प्रयोग भोग विषयों में ही हैं। तुम्हारी उत्कृष्ट वाणी इससे भिन्न है। पवित्र ज्ञान रूपी नौका से इस संसार रूपी नदी को पार किया जा सकता है।

उक्त भाव को महाकवि ने निम्न श्लोक से व्यक्त किया है

"स्वतन्त्रतान्यङ नियतेस्तु का वा दोषैकता वा प्रतिकर्मभावात् ।
भुक्तौ प्रयुक्तौ न पराश्रया वाक् सरित्तवार्थ्य शुचिबुद्धिनावा ॥"[41]

अग्रिम श्लोक में भी दर्शन की ही अभिव्यक्ति है

"अहो कथञ्चिद्विभवेत्प्रकृत्या पक्तिर्जलस्यानलवत्प्रवृत्त्या ।
अमत्रवत्तत्र परत्रनिष्ठां स मुक्तवाँस्त्वं जगतः प्रतिष्ठाम् ॥"[42]

इसमें सांख्य सिद्धान्त पर उदासीनता प्रकट करते हुए कहा गया है कि आश्चर्य है। सत्व, रजस, तमस, स्वरूप प्रकृति द्वारा भले ही किसी प्रकार यह सृष्टि हो, तथा जड, जल या अनल की भाँति उसका विस्तार हो, प्रेरणाएं उत्पन्न हों, परन्तु पात्र के आधीन जलादि होने से परतन्त्रता सिद्ध होती है जो जड जगत् की स्थिति है, जिसे तुम पार कर चुके हो। पुनरपि द्रष्टव्य है-

"साधे मुधाहं ममकारवेशं संक्लेशदेशं जितवानशेषम् ।
प्रक्षीणदोषावरणेऽथ चिद्वान्सम स्तमारात्स्फुटमेव विद्वान् ॥"[43]

हे परोपकारिन् ! व्यर्थ ही मैंने क्लेश के स्थान मन्नभूत ममता पर विजय प्राप्त किया। क्योंकि दोष आवरण के नष्ट होने पर चित स्वरूप समस्त स्वत: प्राप्त हो जाता है । यह विद्वान् के लिये सर्वथा सुगम है।

श्लोक संख्या एक सौ एक में कहा गया है कि एक ही के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु उत्पन्न है । यह जो लोग अनुमान करते हैं, वह कहाँ तक उचित है ? क्योंकि अपरिमित का निर्माता कौन हो सकता है ? इस भू मण्डल में असमर्थतावश व्यक्ति उपनेत्र (चश्मा) के द्वारा किसी से सूने हुए पदार्थ को देखता है ऐसे ही जिस वस्तु के ज्ञान में शंका नहीं है वहाँ वेद के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को प्राप्त कर युक्ति के द्वारा लोग वहाँ उसे देखते हैं ।

इस भाव को कवि ने अधोलिखित पद्य से व्यक्त किया है

"यन्मीयते बस्त्वखिलप्रमाता भवेदमेयस्य तु को विधाता ।
श्रुत्याखिलार्थाधिगमोऽप्यशक्त्यावलोक्यते भुव्युपनेत्रयक्त्या॥"[44]

ऐसे स्थलों का कोई बोध नहीं कराता, न तो कोई मार्ग ही प्रतीत कोई ही एक इस प्रकार की वाणी की सम्प्राप्ति का बोध नहीं करा पाता है । युक्ति और आगम के द्वारा विरोध शून्य दोष रहित एक आप ही प्रतीत होते हैं । इस प्रकार देव की बारम्बार प्रशंसा कर एवं इन्द्रादि के जीवन को भी तुच्छ बतलाकर उपास्य देव की वाणी का आदर कर जयकुमार के माध्यम से स्तुति समाप्ति की गयी है ।

इस प्रकार कवि भूरामल जी शास्त्रों का अगाध पाण्डित्य प्राप्त था। उनका व्याकरण, दर्शन, काव्य, संगीत आदि पर समान अधिकार था । भारतीय संस्कृति के प्रति उनमें अपार श्रद्धा थी । गृहस्थ जीवन को उन्होंने उत्तम स्थान प्रदान किया है । यज्ञ कर्म अनुष्ठान ज्ञान वैराग्य के प्रति उनमें अमिट भाव था । यही कारण है कि उनके विशाल काव्य में भारतीयता का कोई पक्ष अछूता नहीं रहा और दर्शन विशेषकर जैन दर्शन के लिये वे समर्पित थे । इसलिये सम्पूर्ण काव्य ही तदर्थ और सदुपदेशपरक है । उनके व्यक्तित्व का आकलन सीमित शब्दों में सम्भव नहीं है ।

* * *

फुट नोट

1. श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
   वाणीभुषणमस्त्रियंघृतवरीदेवी च यं धी च यं ।
   तेनास्मिन्नुदिते जयोदयनयप्रोद्धारसारात्रिश्रतः,
   नानानव्यनिवेदनातिशयवान् सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ ज.म.1/114

2. विनमामि तु सन्मतिकमकामं द्यामितकैमहितं जगति तमाम् ।
   गुणिनं ज्ञानानन्दमुदासं रुचां सुचारुं पूर्तिकरं कौ ॥ ज.म. 28/101

3. द्रव्यदेशसमयस्वभावतः पर्ययोऽस्ति निखिलस्य चेत्सतः ।
   वृद्धिहानिनियमोऽपि भोजनाःन्निसम्भ्रतिमार्गदेशना(?) ॥ ज.म. (प्र.सं.) 2/119

4. ज.म. 1/20 5. ज.म. 1/95 6. वही, 4/16 7. ज.म. 11/87

8. ज.म. 7/53 9. ज.म. 7/54 10.ज.म. 5/90 11.वही, 6/89

12. ज.म. 7/73 13.ज.म. 8/21, 22, 23 14.ज.म. 8/49

15. ज.म. 8/89 16.ज.म. 8/47 17.ज.म. 2/120

18. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मुषिका सलभाः सगाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयस्मृताः ॥ म.स्मृ.

19. दण्डयांस्तु दण्डयेद् दण्डैरदण्डयान् दण्डयेन्नहि ।
    अदण्डयन् नृपो दण्डयान् न दण्डयांश्चापि दण्डयन् ॥
    नृपतिर्वाच्यतां प्राप्य चौरकिल्विषमाप्नुयात् ॥ का.पु.

20. ज.म. 3/1 21.ज.म. 2/87 22.वही, 2/109 23.ज.म. 11/95

24. ज.म. 26/80 25.ज.म. 26/82 26.ज.म. 26/83, 84

27. ज.म. 26/85 28.ज.म 26/86 29.ज.म. 26/87 30.वही, 26/88

31. वही, 26/89 32.ज.म. 26/90 33.वही, 26/91

34. अष्टादशनिमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
    तास्तु त्रिंशत्क्षणस्तेतु मुहूर्तो द्वादशस्त्रियाम् ॥
    ते तु त्रिंशदहोरात्रः पक्षस्ते दशपंच च ।
    पक्षौ पर्वापरौ शुक्लकृष्णौ मासस्तु तावुभौ ॥
    द्वौ-द्वौ मार्गादिमासौ स्यादृतुस्तैश्यनंत्रित्रिः ।
    अयने द्वे गति रुदग्दक्षिणर्कस्य वत्सरः ॥ - अ.को 1/4/11, 12, 13

35. ज.म. 26/92 36.ज.म. 26/93 37. ज.म. 26/94 38.वही, 26/95

39. ज.म. 26/96 40.वही, 26/97 41. ज.म. 26/98 42.वही, 26/99

43. ज.म. 26/100 44.वही, 26/101

❑❑❑

द्वितीय - अध्याय

'जयोदय महाकाव्य' की कथावस्तु

कथा - विभाग, स्रोत एवं ऐतिहासिकता

जयोदय महाकाव्य की कथा वस्तु

प्रथमः सर्गः

जयोदय महाकाव्य के प्रथम सर्ग में मर्वप्रथम जिन भगवान् की वंदना की गयी है, श्री ऋषभदेव तीर्थङ्कर के समय भगवान् जिन मेन के इच्छानुमार अपूर्व गुणों से सम्पन्न महाराज जयकुमार हस्तिनापुर के शामक हुए, जिनकी कथा एक बार श्रवण से भी अमृत पीने की इच्छा व्यर्थ प्रतीत होती है। अमृत केवल काममस्वरूप एक ही पुरुषार्थ प्रदान करता है। परन्तु महाराज जयकुमार की कथा धर्मार्थ, काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थो को प्रदान करने वाली है। इनके लीला कथा के स्मरण मात्र से इह लोक-परलोक दोनों पवित्र हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार का कथन है कि मेरी वाणी जो कथा का मेवन करेगी वह क्यों न पवित्र होगी ? यह वाक्यार्थ नैषधकार हर्ष की पंक्ति का साक्षात् अनुमरण करता है। यथा -

''पवित्रमत्रा तनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा ।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥''[1]

महाराज जय कुमार की कथा का विशेष महत्व प्रदर्शन किया गया है। अकम्पन की पुत्री मुलोचना जयकुमार के यश आदि को सुनती है तथा राजा जयकुमार पवित्र तेजस्विनी वनिता मण्डल में श्रेष्ठ गुण शालिनी मुलोचना के गुणों की अपने दरबारियों मे मुनता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के प्रति प्रेम रखने लगते हैं।

ततः किसी समय जयकुमार को मुनि राज के दर्शन हुए। नवनीतवत् कोमल चित्तवाले जयकुमार ने मुनिराज की तीन बार परिक्रमा कर हाथों को जोड़कर नम्रतापूर्वक उनके मामने बैठ गये और ऋषिराज मे बोले कि हे भगवन् ! दु:ख पूर्ण स्थिति में निवाम करने वाले हम गृहस्थों के लिये क्या करणीय है ? क्या अकरणीय है ? इमका उपदेश करें। ततः आगम शास्त्रानुसार उचित एवं मनोरम आचार का मुनिराज ने उपदेश किया जिमका विवरण द्वितीय सर्ग मे दिया गया है।

मर्ग की समाप्ति में नैषधकार की भाँति वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री ने भी अपना परिचय दिया है

''श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयं ।
तेनास्मिन्नुदिते जयोदयनयप्रोद्धारसाराश्रितो,
नानानव्य-निवेदनातिशयवान् सर्गोऽयमादिर्गतः ॥''

द्वितीयः सर्गः

इस सर्ग में सम्यक् हित करने वाले जिन भगवान् को नियम पूर्वक बद्धांजलि के साथ प्रणाम कर मुनिराज ने मुक्त कण्ठ से गृहस्थ धर्म का उपदेश किया है ।

इस प्रकार ऋषिराज ने संहिता शास्त्र, मुप्तशास्त्र प्रभृतिशास्त्रों का जयकुमार के लिये अनेकों प्रकार का उपदेश किया। ततः निषिद्ध वस्तुओं का वर्णन किया यथा - द्यूत क्रीडा, मांस, मदिरा, पराङ्गना, मृगया, चोरी, वैश्यागामिता, नास्तिकता इन सभी का मनुष्य को त्याग करना चाहिए अन्यथा सारी पृथ्वी आपदाओं मे भर जायेगी। उपदेश श्रवणकर महाभाग जयकुमार अपने भवन को लौट रहे थे तो साथ में उपदेश को सुनने वाली सर्पिणी को एक दिन अन्य सर्प से अनुरक्त हुई देखकर हाथ में स्थित कमल से उसे भयभीत किया क्योंकि विद्वान् अनुचित स्थान में रति को कैसे सहन कर सकता है - "सहेत् विद्वान् अपदेकुतो रतम्" "गतानुर्गतिको लोकः" के आधार से अन्य लोगों ने भी उस सर्पिणी को पीटा । मृत्यु को प्राप्त हुई वह सर्पिणी अपने पति के साथ देवाङ्गना बनकर पहुँची । वह अन्यमनस्क होकर पुनः जयकुमार के प्रति ईर्ष्या रखती हुई अपने पति देव को सारा वृत्तान्त कह सुनायी । अपनी कामिनी के कथन पर अन्तःकरण से विश्वास किया हुआ क्रोधाभिभृत वह यक्ष जयकुमार को मारने हेतु आया । उस समय जयकुमार अपनी प्रियतमाओं के समक्ष पूर्व घटना का यथार्थ वर्णन कर रहे थे, जिसे सुनकर वह देवरूपधारी सर्प अज्ञानता से दूर हो अपने मन में अपनी कुलटा स्त्री की कुटिलता पर विचार करने लगा ।

ततः रतिप्रभ नामक देवरूपधारी सर्प स्त्रियों की निन्दा करते हुए गजपत्त नरेश जयकुमार के समीप पहुँचा और अपनी स्त्री की निन्दा कर एवं राजा की प्रशंसा कर उनका सेवक बन गया । ततः जयकुमार के आदेश से अपने घर को चल दिया ।

तृतीयः सर्गः

इस सर्ग में महाकवि ने प्रथम जयकुमार की सभा का वर्णन किया है । पुनः सभा में सिंहासनारूढ़ महाराज जयकुमार के पास काशी नरेश अकम्पन का दूत आकर महारानी सुप्रभा के कुक्षि से उत्पन्न एवं चन्द्रिका की भाँति पृथ्वी पर प्रसन्नता की धारा बहाने वाली, इक्षु यष्टि की भाँति प्रतिदिन उत्तरोत्तर सरसता से भरी हुइ, जगत् आह्लाद कारिणी, नित्य नवीन शोभा को धारण करने वाली, कामदेव को प्रगट करने वाली चन्द्रलेखा की भाँति वह कौमारावस्था को पार कर चुकने वाली किन्तु स्वाभाविक स्नेह के कारण कामदेव से अवलेशित, अनुपम सौन्दर्य युक्त वाणी में स्याद्वाद की विचित्रता से पूर्ण रमणी रत्न मूर्धन्या काशी नरेश महाराज अकम्पन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर का समाचार देता है ।

स्वयंवर समाचार को सुनकर सुलोचना परिग्रहार्थ काशी प्रस्थान के लिये उत्कण्ठित महाराज जय कुमार ने मस्तक पर मणिमय मुकुट को धारण कर, श्री तीर्थङ्कर के चरणों पर

प्रमाण कर प्रस्थान किया। जिस प्रकार सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूप तीन साधनों से गमन करने वाले चतुर्दश गुण स्थानों को प्राप्त करने वाले श्वेत ध्यान द्वारा मुक्ति प्राप्त कर ली जाती है, उसी प्रकार चौदह लगाम को धारण करने वाले, जल-थल-आकाश तीन मार्गों से गमन करने वाले श्वेत घोड़ों से शीघ्र ही जयकुमार काशी पहुँचे।

ततः काशी नरेश उस जयकुमार को सादर नगर में ले गये तथा प्रेम के साथ आवासादि का समीचीन प्रबन्ध किया।

चतुर्थः सर्गः

सुलोचना के स्वयंवर का समाचार पाकर भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति चलने के लिये उत्सुक होते हैं। किन्तु सुमति नामक मन्त्री ने कहा कि महाराज आपका जाना ठीक नहीं है क्योंकि गुणवान् व्यक्ति को बिना निमन्त्रण के नहीं जाना चाहिए। इसके पश्चात् सहसा दुर्मति नामक मन्त्री पहुँचकर बोला कि सार्वजनिक अवसरों पर जो जाता है, उसके लिये निमन्त्रण रहता ही है। इसलिये अवश्य चलें।

ततः अष्टचन्द्र नरपति स्वयं वरार्थ संगठित सभा में जाने के लिये उद्यत हो गया तथा सज-धज कर काशी नगरी को शीघ्र पहुँच गया। भरत-पुत्र अर्ककीर्ति को आये हुए जानकर अकम्पन ने हाथ में उपहार लेकर उनका स्वागत किया तथा निवासार्थ राजभवन ही बता दिया। स्नानादि क्रियानन्तर अर्ककीर्ति ने स्वयंवर सभा में सुलोचना के द्वारा वरण न किये जाने के परिस्थिति पर विचार करते हुए अन्त में उसके अपहरण का निश्चय करता है। यह सुनकर उसके निकटस्थ सेवकों ने अपने-अपने ढंग से सुझाव पेश किये।

अन्ततः दुर्मति ने सुलोचना के आगे-आगे चलने वाले कंचुकी को समझाकर सुलोचना से अर्ककीर्ति को माल्यार्पण कराने के प्रयास के प्रस्ताव का सभी से समर्थन प्राप्त कर कंचुकी से विनम्र प्रस्ताव रखता है। महेन्द्र कंचुकी से मनोनुकूल उत्तर को प्राप्तकर प्रसन्नता के साथ अर्ककीर्ति के पास पहुँचकर बोला कि ईश तो भगवान् ऋषभदेव ही हैं आप लोगों का अभीष्ट पूरा होगा। किसी ने कहा हमारे प्रभु नव-वधू के स्वामी बनेंगे। मिष्ठान्न एवं गीत सुनने के पात्र हम लोग बनेंगे।

इस प्रकार हास्य विनोद महोत्सवानन्तर शरद्ऋतुरूपी नायिका देखने के लिए आ पहुँची। शरद् का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है, उसी के वर्णन में सर्ग की समाप्ति की गयी है।

पंचमः सर्गः

पंचम सर्ग में स्वयंवर का वर्णन किया गया है, जिसमें शस्त्र-शास्त्र निपुण वीरों का आगमन हुआ है। कुछ लोग उत्सव दर्शन की इच्छा से तथा कतिपय सुलोचना के अपहरण की इच्छा से पहुँचे। काशी राज ने आगन्तुक लोगों को सुन्दर निवास स्थान देकर समयोचित

भाषण, माल्यदान, विनयादि द्वारा भव्य स्वागत किया। पृथ्वी की रत्न सुलोचना हेतु दिक्पाल भी पहुँचे। सर्व प्रथम पहुँचने की इच्छा से आगन्तुकों के कारण राज-मार्ग का तिल मात्र भी स्थान रिक्त नहीं था। जगत् के सभी राजा आ पहुँचे तो महाराज जयकुमार भी पधारे, जिससे वह सभा और भी निखर पड़ी। उन पर सब राजकुमारों की आश्चर्य मय दृष्टि पड़ी। वह स्वयंवर सभा भी इन्द्र सभा से भी बढ़कर थी। क्योंकि इन्द्र सभा में एक शुक्र, एक वृहस्पति और एक चन्द्रमा है। यहाँ अनेकों शुक्र (कवि) वृहस्पति (विद्वान्) एवं चन्द्र विराजमान थे।

ततः अकम्पन के ज्येष्ठ भ्राता चित्राङ्गद महाराज की आज्ञाकारिणी विद्यारूपी बुद्धि देवी से समागत राजकुमारों का महाराज अकम्पन ने गुण वर्णन प्रारम्भ करवा दिया।

तदनन्तर युवकों के मन में रति के समान हर्षोत्पादिका, दरिद्रों के लिये लक्ष्मी के सदृश, शोभनाङ्गी, बिम्ब फलाधरोष्ठी, सुलोचना उत्तम, नूतन निर्मल, प्राङ्गण से युक्त सभा मध्य में पहुँची।

षष्ठः सर्गः

षष्ठ सर्ग में समागत राजकुमारों का विद्या देवी द्वारा परिचय एवं कन्या द्वारा जयकुमार के गले में मालार्पण दिखाया गया है। सर्ग में श्लेष, विरोधाभास आदि का विशेष प्रयोग किया गया है।

भू-मण्डल में सम्मानित एक-एक राजाओं का राजुकमारी सुलोचना के लिये परिचय देने लगी, जिस प्रकार आचार्य विद्यानन्द की मति तत्त्वार्थ-सूत्र का अर्थ बतलाती है, उसी प्रकार कंचुकी द्वारा सूचित तत्तत् राजकुमारों के सम्बन्ध में अर्ककीर्ति, कलिङ्गाधिपति, कामरूपाधिप, कांचीपति, काविलराज, मालवदेशाधिपति प्रभृति जो भी धरणीपति पहुँचे थे, विद्यादेवी ने सबका शीघ्रता से वर्णन किया।

तदनन्तर मेघेश्वर जयकुमार की सम्पत्ति, वीरता, वैभव आदि का वर्णन सुनकर नतवदना सुलोचना ने अक्षर माला के समान अपनी निश्चल वरमाला को कम्पन युक्त हाथों से जयकुमार के गले में डाल दी। सुलोचना के रोम बाल भाव धारण करने वाले वर की शोभा देखने हेतु गरदन को ऊपर उठाकर खड़े हो गये। जयकुमार के निर्मल हृदय में प्रतिबिम्बित माला कुछ भीतर प्रविष्ट हुई कुछ ऊपर उठी हुई से ऐसा प्रतीत हुई मानो यह कामदेव की वाण परम्परा है। इस प्रकार सुलोचना के माल्यार्पण को देखकर अन्य राजकुमारों के मुख मलिन हो गये। जयकुमार का मुख अधिक प्रसन्न हो उठा।

जयकुमार और सुलोचना के परस्पर प्रशस्त मेल को देखकर आकाश से पुष्प वर्षा हुई।

तदनन्तर वन्दी जनों की विरुदावली प्रारम्भ हुई । प्रसन्नचित्त जयकुमार अर्थियों को रत्नादि सम्पत्ति देता हुआ शिविर में प्रवेश किया ।

छठें सर्ग की समाप्ति में षडारचक्रश्लोक द्वारा नृपति परिचय प्रकट किया गया है ।

सप्तमः सर्गः

मप्तम सर्ग में अर्ककीर्ति के सेवक दुर्मषंण द्वारा स्वयंवर के विरुद्ध कोलाहल मचाया गया है । मन्त्रियों के समझाने पर भी वह कोलाहल रुका नहीं । अर्ककीर्ति ने रणभेरी बजाकर युद्ध की घोषणा कर दी ।

दुर्मर्षण कहते हैं इमे मैं स्वयंवर नहीं समझता किन्तु इदंकर है क्योंकि कन्या ने परानुज्ञा से माला डाली है । मायावियों की माया सरलता से समझ में नहीं आती । काशी नरेश ने अपने अहंकार से यहाँ छल किया है । यदि ऐसा न होता तो विद्या देवी के मुख मे विपुल रिपु-मण्डल के रहने पर भी जयकुमार के गुणों का ही विशेप रूप से वर्णन क्यों होता । इम प्रकार घोषणा करता हुआ वह चक्रवर्तिपुत्र जयकुमार को उपहास, व्यङ्ग्यात्मक अनेक वाक्यों से कुम्भकार रजक आदि बना दिया ।

इस प्रकार दुर्मर्षण के अनेकशः उत्तेजक वाणी के प्रभाव से भरत मम्राट् के पुत्र अर्ककीर्ति के नेत्र लाल हो गये तथा उसके वाग्वह्नि मे भरत के पुत्र मुख से वहुशः शब्दाङ्गार निकलने लगे। वे बोले हे मित्र! यह अकम्पन अपने नामार्थ पर विश्वाम करता है किन्तु मेरा क्रोध पर्वतवत् अचल राजाओं के भी कम्प का कारण बन जाता है। इसको यह जानना नहीं है कि मेरा सुदृढ़ मुष्टि खड्ग काशीपति अकम्पन का नाश कर उस प्रशस्त कन्या को यहाँ लायेगा। इस समय जयकुमार के बल का धैर्य संग्राम में यम जिह्वा सदृश खड्ग के धारों से देखा जायेगा। मैं नीति विद्या विशारद हूँ। योग से विजय लक्ष्मी एवं वरमाला दोनों को ग्रहण करूँगा क्योंकि नीति विज्ञ अपने भुजबल पर विश्वास रखते हैं। इस प्रकार अर्ककीर्ति ने बहुशः उद्गार व्यक्त किया।

तदनन्तर निर्दोष मन्त्री के द्वारा अर्ककीर्ति को विविध ढंग से समझाये जाने पर भी मारकेश की दशा के अधीन होता हुआ अर्ककीर्ति मन्त्री के उपदेशामृत को अनादर कर युद्ध के लिये उत्कृष्ट दोषों से युक्त हो गया।

यह समाचार सुनकर अकम्पन मन्त्रियों से परामर्श कर अर्ककीर्ति को समझाने हेतु एक दूत को प्रेषित किया एवं दूत अर्ककीर्ति के पास पहुँचकर अकम्पन के सन्देशों को कहा । प्रत्युत्तर में अर्ककीर्ति ने अनेक असह्य वचन कहे एवं दूत ने भी कटु भाषण करके प्रस्थान कर दिया ।

पुनः दूत अकम्पन से अर्ककीर्ति के यथार्थवृतान्त को कह दिया । सुनकर अकम्पन पक्ष के लोग भी युद्ध के लिये उद्यत हो गये ।

इस प्रकार 103 श्लोक पर्यन्त अर्ककीर्ति का रण प्रस्थान तथा आगे के श्लोकों में युद्धार्थ सजी हुई सेना का वर्णन चक्रबन्ध वृत्त के द्वारा दिखाकर सप्तम सर्ग की ममाप्ति की गयी है ।

अष्ठम: सर्ग:

अष्टम सर्ग में अर्ककीर्ति एवं जयकुमार के दल से भयङ्कर युद्ध दिखाया गया है । जिसमें वर्णित है कि सैन्य के भयङ्कर शब्दों से आकाश भर गया । सूर्य मानो भय के कारण उठी धूलि मे छिप गया । उठी हुई धूलि मे घने अन्धकार में हाथों में चंचल चमकती हुई खड्ग पंक्ति को बिजली समझकर मयूर शावक के के ध्वनि करने लगे । सूर्य के रुक जाने एवं आकाश में अत्यन्त घने अन्धकार मे व्याप्त होने के कारण युद्ध करते हुए वीरों के रक्त प्रवाह में संध्या काल की शोभा प्रकट हो गयी। उस समय में गजारोही गजारोही पर पदाति पदाति पर, रथी-रथी पर, अश्वारोही अश्वारोही पर आक्रमण करने लगा । इस प्रकार तुल्य प्रतिद्वन्दियों का युद्ध होने लगा ।

विविध रूपों में दोनों पक्षों में भयंकर घमामान युद्ध हुआ । अककीर्ति पक्ष की तुलना में जयकुमार अपने को तुच्छ ममझने लगा जिमसे नागचर देव का आमन कम्पित हो उठा क्योंकि पुण्यशाली व्यक्ति का वहाव देव को अनुकूल बना लेता है । उस नागचर देव ने नागपाश और अर्धचन्द्र वाण प्रदान किया । जयकुमार उस की महायता मे शत्रुओं को आत्म ममर्पण करा दिया एवं अककीर्ति को नागपाश मे बाँधकर अपने रथ पर डाल दिया। अनेक लोगों ने उसके विजय के कारण को अनेक ढंग मे माना । लेकिन ग्रन्थकता की दृष्टि में मुलोचना द्वारा अर्हन् के मद्‌गुणों की स्तुति ही कारण है ।

युद्धोत्पन्न पाप की निवृत्ति के लिये महाराज अकम्पन ने अर्हन् देव की पूजा की, पश्चात् अपराजित मन्त्र जप करने वाली मुलोचना को स्नेह भरी दृष्टि मे देखा एवं बोले 'हे पुत्रि। अर्हन् देव की कृपा से तेरे इच्छानुमार वीरशिरोमणि जयकुमार को विजय प्राप्त हुयी । हे माननीया । ममता छोड़ो घर चलो ऐसा कहकर उसके साथ महाराज अकम्पन घर चल दिये।

इस प्रकार चक्रबन्ध द्वारा अर्क पराभव में अष्टम सर्ग की ममाप्ति की गयी है ।

नवम: सर्ग :

नवम सर्ग में दिखाया गया है कि जयकुमार की विजय एवं अर्ककीर्ति की पराजय मे महाराज अकम्पन प्रसन्न न होकर अन्यमनस्क हो गये । और अर्ककीर्ति को प्रसन्न करने का उपाय सोचने लगे । सोचा कि अक्षमाला नाम की दूसरी कन्या अर्ककीर्ति को प्रसन्नता हेतु अर्पण कर देने मे ही मुझमें प्रसन्नता आ सकती है । व्याकुलता को दूर करने के लिये अन्य कोई गति नहीं है ऐसा सोचकर अकम्पन सेना विनाशक अर्ककीर्ति के पास पहुँचे । अनेक प्रकार से अनुनय-विनय कर अपनी पुत्री अक्षमाला को ग्रहण करने का निवेदन किया

इस प्रकार अकम्पन के कहने पर जयकुमार के विरोधी अर्ककीर्ति का रोष दूर हो गया ।

ततः पराजित अर्ककीर्ति ने अकम्पन से अपनी अविवेकिता और अज्ञानता को स्वीकार करते हुए अपनी ही निन्दा की । जयकुमार ने भी अर्ककीर्ति से क्षमा निवेदन किया जो विस्तृत रूपों में वर्णित है । समर में जिस प्रकार परस्पर विरोध हुआ उसी प्रकार कतिपय क्षणों में ही पुनः मेल भी हो गया। अर्ककीर्ति - जयकुमार का यह मिलन तीनों पक्षों के लिये आनन्ददायक बना। अन्त में सुमार्ग विज्ञ महाराज अकम्पन ने सुलोचना की अनुजा अक्षमाला को भगवान् जिन का स्मरण कर चक्रवर्ती पुत्र अर्ककीर्ति को अर्पण कर दिया।

ततः अकम्पन ने अपने हृदय से अभिन्न, गुण-दोष विचार में समर्थ, विपत्ति निवारक, सुमुख नामक दूत को चक्रवर्ती भरत के पास भेजा । दूत भरत के पास पहुँचकर अपने स्वामी के सन्देश को चक्रवर्ती से निवेदन किया ।

चक्रवर्ती सम्राट् महाराज भरत अनेक प्रकार से अकम्पन आदि की प्रशंसा करते हुए एक अच्छे सम्राट् की भाँति, विनम्र वाणी में बोले कि हे विचक्षण ! लक्षण से विचार करने पर सुलोचना के पिता उत्तम पुरुष हैं और जयकुमार भी महामना उदारचित्त हैं, केवल अर्ककीर्ति तीक्ष्ण स्वभाव वाला है, ऐसा समझो ।

इस प्रकार चक्रवर्ती भरत के उत्तम वचन को सुनकर दूत बोला हे सुदर्शन ! आपका तेज मित्र सूर्य पर भी विजय प्राप्त करे । आपकी महिमा पृथ्वी परिमाण वाली एवं अद्भुत है । यद्यपि सुदर्शन दुर्जन संहारक है परन्तु सज्जन का प्रतिपादक भी है । इस प्रकार वह दूत चक्रवर्ती भरत की महिमा गान कर तथा उनके प्रति पुनः अनुराग प्रदर्शित कर उनकी चरणधूलि को लेकर प्रस्थान किया । लौटकर अकम्पन से समाचार निवेदन किया । अकम्पन भी प्रसन्न होकर भावी कार्य में लग गये ।

इस प्रकार भरतरवन नामक चक्रबन्ध से इस सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

दशमः सर्ग :

दशम सर्ग में विवाहोत्सव की तैयारी का वर्णन किया गया है । घन-सुषिर - तनत-आनद्ध चार प्रकार के बाजे बजने लगे । सुलोचना को सखियों ने उसे सजाया । महाराज अकम्पन ने जयकुमार को बुलाने के लिये सेवकों को भेजा । जयकुमार को इनके आत्मीय व्यक्तियों ने सजाया।

प्रजा जनों द्वारा राजमार्ग व्याप्त हो गया । स्त्रियों में शीघ्रता करने की स्थिति उत्पन्न हो गयी । जयकुमार को देखकर स्त्रियाँ परस्पर नाना प्रकार की बातें करने लगीं कि हे सखी! मैं समझती हूँ कि सुन्दरी सुलोचना के प्रशंसनीय आचरण, राजा अकम्पन का चरित्र तथा कवियों का छन्दोबद्ध गुण-गान से त्रैलोक्य का पूर्ण सुख इस वर के व्याज से एकत्रित हो

गया है । इस प्रकार जयकुमार के सम्बन्ध में अनेक लोगों ने अनेक प्रकार की बातें कीं।

ततः अकम्पन भवन में जयकुमार के पहुँचने का वर्णन तथा मंगल-मण्डप का मनोहारी वर्णन किया गया है ।

तदनन्तर जयकुमार और सुलोचना का परस्परावलोकन कराकर सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है ।

एकादशः सर्ग :

एकादश सर्ग में जयकुमार के मुख से सुलोचना का सौन्दर्य वर्णन दिखाया गया है। यह सम्पूर्ण सर्ग इसी में समाप्त किया गया है । जैसे सर्व प्रथम सुलोचना के सौन्दर्यामृत प्रवाह की नदी में जयकुमार के नयनमीन युगल खेलने लगे । जयकुमार उत्कण्ठापूर्वक सुलोचना को देखने लगा । अवलोकन क्रम में प्रथम मुख ततः वक्षस्थल की ओर दृष्टि गयी । सुलोचना की त्रिवली रूपी सोपान पंक्ति का आश्रय लेकर शनैः शनैः नाभिरूपी सरोवर में जयकुमार की तृष्णा से भरी हुई दृष्टि पहुँची । तदनन्तर पुनः सुन्दर चरण कमलों में स्थिर हुई ।

बुद्धिमती, शीलवती सुलोचना की जंघाएँ गोल, सदाचार सम्पन्न श्रेष्ठ वर्ण एवं स्वर्ण प्रतिम बतायी गयी हैं ।

इसका नितम्ब गुरु है, ऊपर की ओर स्तन मण्डल भी गुरु है । इस कारण मध्यभाग (कटि प्रदेश) प्रतीत नहीं होता । क्षमाशीला सुलोचना ने गुरु स्तन भार से कटि प्रदेश कहीं नष्ट न हो जाय, इस विचार से ही मानो कटि को करधनी से लपेटकर निर्विघ्न कर लिया है ।

नायिकाओं के निर्माण में सर्वप्रथम सृष्टि सरस्वती की है । ततः दूसरी सृष्टि लक्ष्मी की, जो सुन्दरतर हुई । तत्पश्चात् तीसरी सृष्टि सुलोचना की हुई । यह सुलोचना सुन्दरतम स्वरूपा हुई । इन तीनों को बताने के लिये मानो ब्रह्मा ने सुलोचना के शरीर में त्रिवली के रूप में तीन रेखाओं का निर्माण किया ।

इसी प्रकार ओष्ठ, हाथ, मुख, नासिका, नेत्र, केश, पलक (निमेष) आदि अंगों का वर्णन किया गया है । पुनः पुनः अङ्गों पर दृष्टिपात करके वर्णन का रूप देकर इस एकादश सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है ।

द्वादशः सर्ग :

इस महाकाव्य का द्वादश सर्ग सरस्वती एवं ऋषियों की वन्दना से आरम्भ होता है। जयकुमार पाप विनाशक धर्मचक्र से कल्याण की याचना करते हैं । पुनः अर्चनोपरान्त सुलोचना ने चिरकाल के बाद प्राप्त हुए जयकुमार को वरमाला पहना देती है ।

कमलमाला परिधापनान्तर सुलोचना लज्जा अनुभाव से नम्र हो गयी है ।

इस अवसर पर महाराज अकम्पन ने साहसपूर्वक कहा कि मेरी पुत्री इस समय दान देने योग्य है वह आपके प्रसन्न चरणों की सेविका बने यह मेरा दृढ़ संकल्प है ।

जयकुमार ने कहा हे श्वसुर ! मेरी बुद्धि सुलोचना की अभिलाषिणी है, अतः मुझे प्राप्त हो ।

सुलोचना की माता सुप्रभा ने कहा वह मुझे प्राणों से प्रिय है, अस्तु आपके लिये वह प्रसाद रूप में है ।

महाराज अकम्पन के द्वारा कन्यादान के सम्बन्ध में दोनों कुलों के पवित्रता, अभ्युदय आदि के उद्घोष का वर पक्षीय व्यक्तियों द्वारा समर्थन हुआ ।

तत: गृहस्थों के लिये शास्त्रोक्त छ: कर्म प्रतिदिन के लिये बताए गये हैं । कन्या पक्ष के द्वारा भी इन दोनों के सम्बन्ध का समर्थन हुआ ।

तदनन्तर दोनों के समुचित संस्कारों का वर्णन किया गया है । वीर जयकुमार के हाथ पर सुन्दरी सुलोचना का हाथ पड़ने से भविष्य में पुरुषायित चेष्टा का यह सूचक है, ऐसा सोचकर सखियों का समूह हँस पड़ा ।

पुन: कर पास और कुश सूत्रों से उन दोनों का कङ्कण बन्धन हुआ।

तदनन्तर हवन कालिक लाजा का वर्णन किया गया है । जैन दर्शन के अनुसार सात परम स्थान पद माने गये हैं, इसका वर्णन महाकाव्य में विस्तृत ढंग से हुआ है ।

पुन: महाराज अकम्पन द्वारा विवाहोत्सव काल में दान सप्तपदी के पण तथा दम्पति द्वारा कामना की अभिव्यक्ति एवं पंच परिमेष्टि अर्हन्त आदि की पुष्पांजलि का अपण तत: शिष्टाचार आदि दिखाया गया है ।

तदनन्तर सब लोग मिलकर सुस्पष्ट रूप से सद्भावना से भगवान् जिनेन्द्र देव की स्तुति करने लगे कि भगवान् की स्तुति हम लोगों की मनोवाञ्छित सिद्धि प्रदान करे ।

इस प्रकार सुलोचना और जयकुमार के विवाह वणन के माध्यम से द्वादश सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

त्रयोदशः सर्ग :

तेरहवें सर्ग में काशी नरेश अकम्पन के यहाँ से विदा होकर जयकुमार के प्रस्थान का वर्णन किया गया है । जयकुमार ने हस्तिनापुर गमन के लिये महाराज अकम्पन से प्रार्थना की । अकम्पन ने मौन धारण किये हुए जयकुमार के चरणों को अश्रु बिन्दुओं से अभिषिक्त कर उनके मस्तक पर अक्षत छोड़ा । प्रस्थान कालिक भेरी आदि बजने लगे ।

अस्तबल में हाथी को आस्तरण झूले आदि लगा दिया, सारथी ने रथ को सजाकर घोड़ों के मुख में लगाम लगा दिया । भेरी आदि वाद्य को सुनकर पदाति लोग भी चलने

के लिये तैयार हो गये । दूसरों से अस्पृश्य महासती सुलोचना को जयकुमार ने स्वयं ऊँचे रथ पर बैठाया । विदा के समय में सुलोचना की माता उससे बोली हे पुत्रि ! तुमको विदा करने से मेरा मन बहुत खिन्न हो रहा है किन्तु ललना जाति के लिये यह व्यवहार नहीं है, इसलिये तुम जाओ ।

जयकुमार के प्रस्थान काल में अग्रगामी व्यवस्थापक जन समुदाय द्वारा मार्ग की भीड़ को दूर करने का वर्णन किया गया है, जिससे ससैन्य जयकुमार के चलने में सुविधा हो सके । जन समुदाय मधुरालय के साथ जयकुमार का अनुगमन करता हुआ प्रणाम कर अपने देश की सीमा से लौट आया। ततः सुलोचना एवं राजा अकम्पन के पुत्रों के साथ जयकुमार आगे बढ़ा। जयकुमार सबसे सम्मानित होकर गज पंक्ति अश्वराजि एवं जन समूह तथा सुलोचना के साथ अनेकशः हास्य विनोद करते हुए नगर भूमि को पारकर फलों से नम्र वन भूमि में पहुँचे ततः सारथी द्वारा उस भूमि का सुन्दर वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार चक्रवर्ती भरत के सेनापति जयकुमार के सामने जाह्नवी दिखायी पड़ी, जिसका हृदयग्राही वर्णन हुआ है । पुनः जयकुमार शिविर में पहुँचकर ससैन्य विश्राम किये ।

थोड़ी ही देर में दुकानदार शिविर के चतुर्दिक् दुकानें फैला दिये, जिनमें जयकुमार के साथ-साथ ग्राहक लोग भी पर्याप्त संख्या में अपनी आवश्यकताओं को खरीदने लगे ।

ततः गंगा स्नान एवं विश्राम तथा जल पान प्रभृति क्रियाओं का मनोरम वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार त्रयोदश सर्ग में जयकुमार के गंगा तट पर विश्राम का वर्णन कर सर्ग की समाप्ति की गयी है, जो गंगागतजय इस चक्रबन्ध से सूचित किया गया है ।

चतुर्दशः सर्गः

चतुर्दश सर्ग में वन विहार एवं जल क्रीडा का वर्णन किया गया है । गंगा के तट प्रदेश जो शान्तिमय थे, उसमें जनता की महती रुचि उत्पन्न हुई । मानो ब्रह्मा के पुत्र नारद के लिये सुललित तारों से युक्त उनके उत्सव के लिये वह महती रुचि थी अर्थात् महती नाम की वीणा ही थी। शीतल मन्द सुगन्ध वायु से संपृक्त वह रम्य प्रदेश दूर से ही सूरत के योग्य विलक्षण प्रतीत हुआ ।

इसी प्रकार लता द्वारा वृक्ष के आलिङ्गन को देखकर युवतियों में प्रशस्त नायिकाओं ने नायक का आलिङ्गन किया ।

जल क्रीडा के निमित्त जल में सुन्दरियों का प्रवेश हुआ । प्रियतम के हाथ का सम्पर्क सपत्नी के लिये दुःखदायक हो गया । चपलतावश जल में किसी विलासवती के जघन प्रदेश में फैले हुए वस्त्र को खींच दिया, जिससे नग्न कान्ति के ब्याज से ऐसा प्रतीत होता था कि मानो यह कामदेव के हेतु निर्मित की गयी उसकी प्रशस्ति है ।

सुन्दरियों के जघन प्रदेश के आघातवश तट प्रदेश पर पहुँचा हुआ जल मालिन्य को प्राप्त हुआ ठीक ही है जड (जल) व्यक्तियों के लिये तिरस्कार अत्यन्त कष्टदायक होता है । इस प्रकार जल-विहार का वर्णन दिखाया गया है ।

अन्त में विविध क्रीडाओं का वर्णन कर सरिदवलम्ब नामक चक्रवन्ध से इस सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

पंचदशः सर्ग :

इस सर्ग में सन्ध्या एवं रात्रि का वर्णन किया गया है । सन्ध्याकाल ऐसा लग रहा था मानो प्रियतम के संगम हेतु उत्सुकता से भरी हुई कामनियों के रक्तानुराग पूर्ण कटाक्ष वाणों एवं कमलवसतियों का निकटतम सम्बन्ध होने से सूर्य लालिमा को प्राप्त होने लगा। जिस प्रकार उदय काल में सूर्य रक्त रहता है, उसी प्रकार अस्तकाल में भी रक्त ही रहता है । महान्- पुरुष भी विपत्ति और सम्पत्ति दोनों काल में एक समान ही रहते हैं ।

इधर सूर्य बिम्ब अस्त हो रहा था, उधर चन्द्रबिम्ब उदय हो रहा था । मानो क्रोध से भरे हुए होने से कामदेव के ये दोनों लाल नेत्र हैं। घर-घर में दीपक जल उठे मानो फैले अन्धकार में सूर्य ने अपने टुकड़े-टुकड़े कर उनसे घर में विराजमान हो गया हो ।

अन्धकार से ऐसा प्रतीत होता है मानो रात्रि आकाश को ही पान कर लिया है । रात्रि का प्रभाव फैलने से आकाश भाग दिखायी नहीं दे रहा है । सन्ध्याकाल में की गयी सत्क्रियाएँ फलवती होती हैं । रात्रि ऐसी लग रही थी मानो प्रखर किरण सूर्य रूप चाण्डाल के सम्पर्क से आकाश रूपी भवन को दूषित समझकर रात्रि रूपी वधू अन्धकार रूप गोबर से उसे लीप रही हो । इसी प्रकार चन्द्र-बिम्ब, चन्द्रोदय, चन्द्रिका आदि का मनोरम वर्णन हुआ है ।

इसके पश्चात् मानिनी नायिका तथा नायकों के पारस्परिक सम्वाद के द्वारा हृद्य वर्णन है । जैसे - कोई सखी नायिका से कह रही है कि हे सखि! तुम भी सुन्दर अङ्गवाली हो चुकी हो वह युवक भी चंचल है, ये गाढ़ी रात्रि है, एकान्त में हमारे कहे हुए वृत्तान्त कहने योग्य हैं, समस्या अत्यन्त पीड़ा-दायिनी है । भगवान् शंकर इष्ट को प्रदान करें । इस प्रकार कामिनी की अनुकूल चेष्टाओं को दया की भाँति पूर्ण करने वाली नायक के प्रति भेजी गयी दूती सन्देश द्वारा सन्देश दानादि का वर्णन किया गया है । इस वर्णन में कवि की कल्पनाओं का उत्थान कर सर्ग की निशासमागम चक्रबन्ध के द्वारा समाप्ति कर दी गयी है ।

षोडशः सर्ग :

सोलहवें सर्ग में मद्यपान गोष्ठी का वर्णन किया गया है । अर्द्धरात्रि रूपी तीर्थ में कामदेव स्नान करके मानो जय के लिये निकल पड़ा । तारुण्य वश एक दूसरे के परस्पर उपकार युवजनों में वार्तालाप चलने लगे । कोई कहता है -

अधम निशाचर कामदेव मुझ एकाकी के पीछे लगा हुआ है। यदि अष्टाङ्ग ' यम नियमासन- प्राणायाम - प्रत्याहार - धारणाधार समाधि:' योगसूत्र का अवलम्बन लूँ तो कैसे निर्वाह हो सकता है। मेरे विरह का स्थान एक मात्र स्वयं मुख है। आश्चर्य है मेरा मन तो एकान्त में रहने वाला अनुराग रहित है परन्तु प्रियतमे तुम्हारा अधराग्र भाग प्राप्त है तो मन का अनुराग अनुकूल होगा ही।

इसी प्रकार बहुश: प्रेम वार्ता का वर्णन किया गया है। पति ने पत्नी का आकस्मिक नाम लिया आश्चर्य है। ऐसी स्थिति में पत्नी के लिये दी गयी मदिरा मद से भी बढ़कर भयङ्कर हो गयी तथा पत्नी के लिये केवल मदिरा को देखने मात्र से ही मद और बढ़ गया। मद्यपान कर प्याले का त्याग की हुई, जिसके अधर से मधुर मद्य चू रहा था ऐसी सुन्दरी के अधर भाग का अत्यन्त आदर से मधुर रसाल के समान दक्ष नायक ने तत्क्षण आस्वाद किया।

मद्यपान का विलक्षण वर्णन कर कवि ने मद्यपान की अधमता का भी प्रकार दिखाया है।

इस सर्ग में नायक-नायिका भेद दृष्टि से भी व्यवहार का वर्णन किया गया है। जिसमें नायक-नायिका के हाव-भाव, कटाक्ष, विक्षेप का मनोरम चित्रण कर अनेक प्रकार के नायक नायिकाओं के चर्चा का वर्णन कर राजा कामदेव की स्तम्भन विद्या सुन्दरी का वर्णन किया गया है। तदनन्तर लालसोत्पादक स्वरूप में इस सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है।

सप्तदश: सर्ग :

सत्रहवें सर्ग में रात्रि क्रीडा का वर्णन किया गया है। आद्योपान्त सर्ग का पर्यवसान इसी में हुआ है। अधिकतया सुरत वासना का निर्देश दिखाया गया है। अत्यन्त मानी एवं समृद्ध वियोगियों के चित्त को हरण करने एवं उन पर प्रहार हेतु बलवान् चन्द्रमा जब उदित हुआ तो ऐसा लगा सभी कामिजन अतिशय भयभीत होकर एकान्त में चले गये। जयकुमार ने सुरत निमित्त सुलोचना से याचना नहीं किया अपितु मौनता ही रति के प्रति उत्सुकता की सूचक हुई। रत प्रवृत्त जयकुमार ने सुलोचना के 'न' 'न' जैसे पदों को ही आमन्त्रण मानकर लता रूप सुलोचना को स्वयं वृक्ष रूप में स्वीकार कर उसके अन्त:करण में सतत बने रहने का कामी हो गया।

सुलोचना एवं जय की विविध मनोवृत्तियों का विस्तार से वर्णन करने के पश्चात् उनके प्रत्येक अङ्गों का विलक्षण वर्णन करते हुए उनकी अनेक चेष्टाओं तथा क्रीडाओं का चित्ताकर्षक वर्णन कर सर्ग की समाप्ति की गयी है। जो शिष्टों के सुरतोपहार के उपयुक्त सम्यक् सूक्तियों से युक्त क्रिया एवं चेष्टाओं से परिपूर्ण है।

अष्टादशः सर्ग :

अट्ठारहवें सर्ग में प्रभातकाल का वर्णन किया गया है। प्रभातकाल में सूतगण राजा की स्तुति में प्रवृत्त होते हैं। सूर्य के उदय होने से निर्मल प्रकाश फैलेगा। सबका कल्याण होगा। ऐसा विचार कर ब्राह्मण स्वस्तिवाचन करने लगे। रात्रि प्रबन्ध का ऐश्वर्य गुणशाली की भाँति जब समाप्त होने लगा, मन्द-मन्द वायु बहने लगी, वायुवश जल राशि में जब कुछ स्पन्दन होने लगा तब रात्रि शीघ्रता से निकल गयी। प्रातःकालिक वाद्यों का विराम हो जाने पर राजा के स्थान पर पहुँचकर सूतगण रात्रि समाप्ति की सूचना हेतु मधुर मनोरम गान करने लगे। इस प्रकार बहुविध प्राभातिक प्रक्रिया का समासोक्ति आदि के द्वारा बड़ा ही मनोरम चित्रण है।

ततः राजाओं को सम्बोधन कर सूतगण के कथन का मनोरम वर्णन हुआ है। पुनः आगे कहा गया है कि जगे हुए अर्हन् देवोपासक का देवर्षियों की भाँति अभिनन्दन करने वाले नन्दीगण नियोग रूप मन्त्र से स्तुति किये।

इस प्रकार अनेकविध हास्योत्पादक वृत्त तथा नायक नायिका विहार आदि का अनेकशः वर्णन कर इस सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है।

एकोनविंशतिः सर्ग :

यहाँ प्रथमतः जयकुमार के द्वारा सन्ध्यावन्दन करना दिखाया गया है। साँमयिक वणन के साथ शान्ति समुद्र जिन भगवान् की विस्तृत स्तुति दिखायी गयी है। शीघ्रतापूर्वक दैनिक कृत्य सम्पन्न करने से पवित्र अन्तःकरण उसने कोमल हाथ से प्रियाधरणी का स्पर्श किया। समीपवर्ती जल प्रवाह में स्नान करने के अनन्तर उसने पयोधरीभूत-चतुः समुद्रा तथा लतावत्सक गो (पृथ्वी) की परिक्रमा कर शुद्ध निर्जन स्थान में प्रवेश किया। वहाँ उसने प्राणायाम सम्पन्न किया मानो यह सोचकर कि जिसने प्राण को नियन्त्रित नहीं किया वह प्राणियों को क्या अपने वश में कर सकता है।

ततः स्वयं जल (जड) प्रवाह के लिये सेतु सरीखे गुरु के सामने उपस्थित हुआ। सन्ध्या के यथार्थ तत्त्वों को अपनाकर दीप्तिमान् निमल शरीरधारी होकर स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ का स्तुति प्रसङ्ग अत्यन्त व्यापक एवं दाशनिक विचारों से परिपूर्ण है।

आगे गृहस्थ जीवन का प्रशंसापरक वर्णन किया गया है। तदनन्तर महात्माओं का यह महत्व है कि शीतोष्णादि दुःख को सहन करते हैं। कोने में रखे गये स्थिति मात्र को सूचित करने वाले काष्ठ सदृश बहुत से मनुष्य परोपदेश करने में कुशल तो हैं पर जिसने अपने चित्त को यथार्थतः नियन्त्रित कर रखा हो, वही वास्तविक शिष्ट व्यक्ति कहे जाने का अधिकारी है, आदि बातें कही गयी हैं।

इस प्रकार अर्हन् देव के स्तुति में ही इस सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है, जो शान्तिसिन्धु स्तवचक्र बन्ध नाम से व्यवहृत है ।

विंशतितमः सर्ग :

बीसवें सर्ग में जयकुमार द्वारा चक्रवर्ती महाराज भरत के समीप जाने का वर्णन किया गया है । वहाँ से लौटते समय जब उनका गज गंगा में प्रवेश करता है तभी एक देव (जलचर रूपधारी मत्स्यविशेष) ने गज पर आघात कर दिया । गजाघात से जयकुमार को अत्यन्त व्यथा हुई और वह जल में डुबने सा लगा । यह देखकर गंगा के दूसरे तट पर अवस्थित सुलोचना उसके उद्धारार्थ नमोकार मन्त्र का जप करती हुई गंगा में प्रविष्ट हुई । उस सती के पुण्य प्रभाव से जल देवता का आसन काँपने लगा और वह स्वयं वहाँ आकर उपस्थित भी हुआ । सुलोचना एवं जयकुमार की पूजाकर अपना परिचय देकर वह लौट गया । इस कथा को विस्तार में प्रस्तुत करते हुए भरतवन्दनचक्रबन्ध नाम से इस सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

एकविंशतितमः सर्गः

इस सर्ग में नगर की ओर जयकुमार के प्रस्थान का वर्णन किया गया है । प्रस्थान काल में अवचक्र से सुसज्जित हस्तिसमूह, जिन आदि से सुसज्जित घोड़े, अश्वसन्नद्ध रथ गमन हेतु सजाये गये । इस प्रकार सेना से युक्त होकर उसने प्रसन्नता पूर्वक प्रस्थान किया।

इस प्रस्थान बेला में पदाति, अश्व आदि सेना का मनोरम वर्णन करते हुए नृतनालय का चित्ताकर्षक चित्रण किया गया है । नर नायक जयकुमार जब धनधान्य परिपूर्ण गुणशालिनी पृथ्वी को देखते हुए चल रहे थे तो मार्ग में शबर आदि के नायक लोग प्रसन्नतावश गजमुक्ता फल की माला एवं पुष्प आदि उपहार लेकर विनत होकर महाराज को देखने के लिये आये। महिषी धवलिमा से अलंकृत एवं एकत्र अवस्थित गोपों के घरों को देखकर सुलोचना हर्ष विभोर हो गयी । गोपगण अपनी झोपड़ियों पर हाथ को रखे हुए आश्चर्य पूर्ण चंचल नेत्रों से राजा को देख रहे थे । यहाँ गो वधूटियों द्वारा दधिमन्थन वैभव के साथ उनके मुखादि अङ्गों की शोभा का मनोरम वर्णन किया गया है । दर्शनार्थ आये हुए आभीरों को विद्वान्, न्यायप्रिय जय ने कुशल आदि पूछकर प्रेमपूर्वक विदा किया ।

ततः सुलोचना के साथ राजा जयकुमार ने नगर में प्रवेश किया जहाँ उनके भव्य स्वागत का दिव्य वर्णन किया गया है । वहाँ पहुँचकर राजा जयकुमार ने हेमाङ्गदादि के समक्ष सुलोचना के विशाल भाल प्रदेश पर पट्ट को बाँधा ।

पुनः राजधानी में समागत हेमाङ्गद आदि वीरों का जयकुमार के द्वारा सत्कार दिखाकर विदा करते हुए नगरागमन जय चक्रबन्ध के साथ इस सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है ।

द्विविंशतितमः सर्गः

बाइसवें सर्ग में सुलोचना के साथ जयकुमार के वार्तालाप का वर्णन किया गया है। दम्पति का पारस्परिक जीवन सम्बन्ध महत्वशाली एवं योग्यतानुरूप समुचित रूप में दिखाया गया है, जो राष्ट्र एवं प्रजा वर्ग के लिये भी हितावह है। पति-पत्नी का जीवन किस प्रकार सफल बन सकता है, उसका यथार्थ स्वरूप इस सर्ग से प्रदर्शित किया गया है।

परस्पर के सान्निध्य से ही दाम्पत्य जीवन में सुख-शान्ति तथा वैभव उपस्थित हो सकता है। इस पर यहाँ अनेक अन्तरङ्ग दृष्टियों से प्रकाश पाया गया है। दम्पति की प्रेममयी वार्ता का विस्तृत निबन्धन करने के अनन्तर महाकवि ने संसार में सुलोचना और जयकुमार की यश प्रतिष्ठा के चिरस्थाई होने की कामना करता है। वह चाहता है बाला सुलोचना गद्य रूप चिन्तामणि एवं जयकुमार धर्म, कल्याण स्वरूप अधिपति होकर अपने यशस्तिलक से भूतल को अलङ्कृत करें।

अनेक मण्डल का आश्रय होने से जय को समुद्र एवं गुण सम्पत्तियों से सम्पकृत्त होने से सुलोचना को घटोग्नि बताया गया है।

अन्त में उभय की प्रशंसा करते हुए उनके अनुराग को उत्कृष्ट बताया गया है। दोनों को परस्पर प्रवृत्त कराने के कारण प्रवर्तन नामक चक्रबन्ध से सर्ग की समाप्ति दिखायी गयी है।

त्रयोविंशतितमः सर्गः

इस सर्ग में सत्कुलप्रसूत जयकुमार अपने अनुज विजय को राज्यभार समर्पण कर हृदय में हित की भावना रखकर प्रजा की प्रियता हेतु साधना में तत्पर हो जाते हैं। यहाँ भी प्रियतमा के सान्निध्य से उत्पन्न हर्ष एवं विलक्षण सुख से वह तृप्त होते हैं। सन्नीति, सेना एवं गुप्तचरों को सुष्ठु व्यवस्था के कारण जयकुमार विहीन भी प्रजा सुखी एवं प्रभायुक्त हुई। भू-तल में ईति भाव का अभाव फैलने लगा। धरा छः प्रकार के दुर्भिक्ष से शून्य रही।

ततः नैषध की परम्परा पर चलते हुए कवि ने विरोधाभास के माध्यम से जयकुमार की बातें पुनः प्रारम्भ कर दी हैं।

एक बार ऐसा हुआ कि प्रासाद भवन के शिखर पर युवतिसमूह से परिवेष्टित जयकुमार एक गगनगामी व्योम यान को देखकर प्रभावती ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाता है। चेतना शक्ति लौटने पर पूर्व जन्म की बातों का स्मरण हो आया। उसी समय एक कबूतर दम्पति को देखकर प्रतिव्रता सुलोचना को भी पूर्वजन्म का स्मरण हो आता है। यही नहीं कई अन्य पूर्व जन्मों के वृत्तान्त का भी ज्ञान हो जाता है।

तदनन्तर अन्य लोगों को विश्वास दिलाने हेतु जयकुमार के द्वारा जन्मान्तर के वृत्तान्त को सुनाने के लिये सुलोचना प्रेरित की गयी। प्रेरणा पाकर सुलोचना ने अपने एवं जय के पूर्वभवों का क्रमिक, समुचित एवं विस्तृत वर्णन किया।

इस प्रकार पूर्वभव के वर्णनानन्तर वैराग्य परक संगीत स्थायी टेक के माध्यम से इसी गीत में ही सर्ग की समाप्ति की गयी है। यह संगीत चर्पट मंजरी की भाँति वर्णित है। षडरचक्रबन्ध से सर्ग का समापन किया गया है। यहाँ जयकुमार को दिव्य ज्ञान विभूति सम्पन्न बताया गया है।

चतुर्विंशतितमः सर्ग :

इस सर्ग में जयकुमार एवं सुलोचना का सह विहार चित्रित किया गया है। जिस प्रकार विष्णु लक्ष्मी से एवं शंकर पार्वती से सदा संयुक्त रहे, उसी प्रकार सुलोचना के साथ जयकुमार का सम्पर्क सर्वोत्तम एवं पवित्र रहा। कुलाचल की भाँति कुल के दृढ़ परम्पराओं का जयकुमार ने निर्वाह किया। जैसे पर्वतों पर मेघ मण्डल स्वयं परिव्याप्त होता है, वैसे ही जयकुमार ने राजाओं पर अपने प्रभाव का विस्तार किया।

आगे सुलोचना को सम्बोधन कर विहार काल में जयकुमार ने हिमालय का वर्णन किया है। इसके बाद उसने जिन भगवान् की लम्बी स्तुति की है। इस स्तुति के सन्दर्भ में युवावस्था में दया करनी चाहिए एवं सुकृत्यों में रुचि रखनी चाहिए इत्यादि वेद वाक्यों का परिपालन करते हुए उसने देवेन्द्र को प्रसन्न किया। जय की निष्काम भावना को देखकर यक्ष सुप्रभ देव ने सपत्नीक उसका पूजन किया।

अन्ततः जयकुमार और सुलोचना के अखिल तीर्थ - देश का भ्रमण दिखाते हुए सर्ग की समाप्ति की गयी है। सर्ग की समाप्ति में ग्रन्थकार ने अपने वीरोदय काव्य का भी नामोल्लेख किया है।

पंचविंशतितमः सर्गः

पंचविंशति सर्ग में जयकुमार के वैराग्योत्पत्ति का वर्णन किया गया है। सांसारिक अरुचि उत्पन्न हो जाने के कारण जयकुमार को शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसकी सम्पूर्ण विचार धारा ही बदल गयी। उसने विचार किया कि विश्व के सारे वैभव स्वप्न सदृश हैं। यह सम्पूर्ण विश्वपदार्थ नश्वर है। नेत्र के बन्द होने पर मृगाक्षी युवतियाँ, मत्त हाथी, चंचल घोड़े, सेनाएँ ये सब के सब व्यर्थ हो जाते हैं। अन्ततः जयकुमार की तत्परता भगवान् जिन की उपासना में बढ़ जाती है।

ततः स्त्रियों के मलमूत्रमय घृणा के योग्य जघन प्रदेश में व्रण सदृश स्थान (वराङ्ग) में नियत रूप से घर्षण करते हुए आनन्द को प्राप्त करने वाले विषयी जनों के प्रति आश्चर्य एवं दुःख प्रगट करते हुए वैराग्य प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार इस सर्ग में जैन पद्धति के उत्कृष्ट भावनाओं का वर्णन कर जय सद्भावना चक्रबन्ध से सर्ग की समाप्ति की गयी है। इस सर्ग में भजन के पाँचवें श्लोक[2] की पुनरावृत्ति सर्ग के अट्ठाइसवें श्लोक में की गयी है।

षडविंशतितमः सर्गः

छब्बीसवें सर्ग में जयकुमार के पुत्र का राज्याभिषेक एवं जैन धर्म के स्वरूप का वर्णन कर दार्शनिक स्तवन किया गया है। अत्यन्त पराक्रमी अनन्तवीर्य नामक पुत्र प्राप्ति के बाद राजा जयकुमार के द्वारा पुत्र का राज्याभिषेक होता है। अनन्तर वह सत्कृत्य से युक्त इन्धिका नामक प्रिया को प्राप्त करता है। पुनः आशंसा व्यक्त की गयी है कि जयपुत्र अनन्त शत्रु स्वरूप रोग से पृथ्वी की रक्षा करें।

ततः मनसा-वाचा-कर्मणा सुख हेतु जिन भगवान् की अर्चना को दिखाकर स्याद्वाद की महिमा का गुणगान किया गया है। गोमय वृश्चिक आदि दृष्टान्तों के द्वारा अनेक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। प्रभु को ही आधि-व्याधि का निर्भ्रान्त सन्देह शून्य चिकित्सक कहा गया है। अत्यन्त गम्भीर संसार मार्ग से विरक्त सिद्ध की इच्छा करने वाले प्रश्न के सम्बन्ध में स्वयं साक्षात् उत्कृष्ट विद्वान् जयकुमार को बताते हुए जयकुमार के प्रशंसा में ही पर्यवसान कर षडर चक्रबन्ध द्वारा सर्ग की समाप्ति की गयी है।

सप्तविंशतितमः सर्गः

सत्ताइसवें सर्ग में जयकुमार का ऋषभदेव भगवान् के पास पहुँचकर दीक्षा हेतु उनसे याचना करने का वर्णन है। अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले सभा के भूषण लोक प्रधान देव आनन्द दाता भगवान् ऋषभदेव ने मनुजाधिपति जयकुमार को सम्भवतः सत्य विभव के लिये कृपा करते हुए उपदेश किया।

साधारण व्यक्ति शरीर धोने, पोंछने में ही हृदय से प्रवृत्त होता है। परन्तु विद्वान् धैर्यशाली पुरुष शरीर की सेवा में तत्पर नहीं होता। इस प्रकार अनेकशः उपदेश वचनों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पन्द्रह दिन या मास पर्यन्त मननशील व्यक्ति गुरु के पास पहुँचकर सुन्दर मति सम्पन्न होकर लेश्या बुद्धि को प्राप्त होता है। और वह भैक्ष शुद्धि को अपराध नहीं समझता है। महामुनियों का शरीर विकार से शून्य शुद्ध हेम सदृश प्रतीत होता है।

इस प्रकार वैराग्योत्पादक उपदेशों का वर्णन कर सत्कर्तव्य पथोपदेश हेतु तत्परता इस सर्ग में दिखाकर सर्ग का पर्यवसान किया गया है।

अष्टाविंशतितमः सर्गः

अष्टाविंशति सर्ग में जयकुमार की तपस्या का वर्णन किया गया है। पर्यवसान में इस सर्ग की प्रशंसा की गयी है। सज्जनों के पालक जयकुमार ने वैयक्ति वृत्ति को परिवर्तित कर गुरु की कृपा से भव्य जीवन को प्राप्त किया। राजचर्या का परित्याग कर हृदय कमल को विकसित करने के लिये अर्हन् देव की कृपा से उनके पास पहुँचकर उसने तपश्चर्या

को ही अपना धन बनाया । ततः तपस्या द्वारा अपरिवर्तनशील शुद्ध कांचन स्वरूप को धारण किया ।

'सोऽहम्' का विचार करते हुए अहंकार से दूर हुए जयकुमार ने समारोह क्रम से वम्नु संविद को ग्रहण कर स्वराज्य सिद्धि की प्राप्ति की । इन सब वर्णनों के पश्चात् वृषभत्व का विवेचन किया गया है ।

तपश्चर्या परिणाम चक्रबन्ध का विवेचन करने के अनन्तर प्रकृत महाकाव्य के फल पर प्रकाश डाला गया है । पुनः महाकवि अपनी स्थिति का संकेत करता है कि इस प्रबन्धार्थ को बिना श्रम के पूरा करने में गुरु कृपा सेतु ही कारण है । अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए वह कह रहा है कि जो प्रमुख जिन सेनादि कवि हुए हैं, वे वन्दनीय हैं । हम लोग कवि हैं परन्तु नाम मात्र के हैं । गुणभद्र कथाओं को कहते हैं उसमें भला प्रवृत्ति कहाँ से हो सकती है । इस प्रकार इस काव्य की पूर्ति की गयी है । यहाँ सामन्तभद्र, विद्यानन्द, शिवायन आदि नामक धेनु का भी संकेत कवि ने किया है । अन्त में कवि का कथन है कि यह काव्य मधुर महापुराण का आलोडन कर क्षीर सागर से मथ कर निकाले हुए नवनीत की भाँति है । महाकवि ने इस काव्य की प्रतिष्ठा की अभिलाष रखते हुए गुणी विरक्त ज्ञानानन्द को प्रणाम किया है । और अन्त में यह भी बताया गया है कि श्रावण मास की पूर्णिमा तिथि को इस काव्य की पूर्ति की गयी ।

कथा–विभाग

शास्त्रीय दृष्टि से कथा-विभाग पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट है कि जय-सुलोचना के इतिवृत्तात्मक इस महाकाव्य की कथा इतिहास सिद्ध होने के कारण प्रख्यात कोटि की है । पूर्व की पंक्तियों में मैंने इसका उल्लेख भी किया है । स्पष्ट है कि जय सुलोचना की कथा आधिकारिक कोटि में भी आती है । जयकुमार के सन्दर्भ में आने वाली अर्ककीर्ति आदि की कथाओं को हम सहायक कथा मानकर प्रकरी की कोटि में रख सकते हैं ।

सन्ध्यादि विभाग के सन्दर्भ में प्रारम्भ के माङ्गलिक श्लोक के अनन्तर जयकुमार महाराज की कथा को पवित्र बताकर कवि ने बीज का वपन कर दिया है, प्रारम्भ भी कथा का यहीं से होता है । अतः बीज और आरम्भ के योग से हम यहाँ से मुख सन्धि मानेंगे जो मुनिराज के उपदेश पर्यन्त तक चलती है । क्योंकि जयकुमार के माध्यम कवि जैन धर्म का प्रचार और शान्त्यादि वृत्ति को ही कथा का चरम लक्ष्य मानता है । अतः सर्पिणी वृत्त से लेकर काशिराज पुत्री सुलोचना के स्वयंवर की तैयारी पर्यन्त तक लक्ष्य की ओर कथा के अग्रसर होने के कारण विन्दु-यत्र के योग से प्रतिमुख सन्धि बनती है । सुलोचना स्वयंवर में अनेक राजन्यों के समाहित होने और स्वयंवर के पश्चात् अनाहूत भी अर्ककीर्ति द्वारा युद्ध की घोषणा और युद्धादि का वर्णन गर्भसन्धि का निर्माण करता है । अनन्तर गृहस्थ धर्म में रहते हुए जयकुमार और सुलोचना को विद्याधर दम्पति तथा कपोत दम्पति के दर्शन से पूर्व जन्मों के स्मरणादि वृत्ति पूर्वक जैन धर्म की दीक्षा पर्यन्त विमर्श सन्धि बनती है । और अन्ततः अनेक

प्रकार के सद्धर्मों के उपदेश से ज्ञान-वैराग्य पूर्वक जय को प्राप्त मोक्षाप्ति से जैन धर्म से धर्मार्थकाम मोक्ष चारों की उपलब्धि बताकर निर्वहण सन्धि का निर्माण किया गया है ।

जयोदय महाकाव्य का स्रोत

जयोदय महाकाव्य का आधार जिनसेन का आदि पुराण है । जिसमें उन्होंने वृषभदेव के समकालीन महापुरुषों का वर्णन किया है । जयोदय के प्रथम सर्ग के द्वितीय श्लोक में कवि ने स्वयं कहा है - ''पुरा पुराणेषु धुरा गुरूणां यमीश इष्टः समये पुरूणाम्'' इसकी स्वोपज्ञ टीका में कवि ने कहा है अथ 'पुरा, प्राचीनकाले, 'पुराणेषु' द्वादशाङ्गस्वनारूपशब्देषु 'गुरूणां', आचार्याणां 'धुरा' प्रधानभूतेन तेन भगवज्जिनसेनमहानुभावेन, 'पुरूणां', श्रीमद्-वृषभनाथतीर्थङ्कराणां, 'समये' अवसरे 'यमीना' संयतानामीशो गणाधिप 'इष्ट' इच्छाविषयीकृतः सः । महाकवि ने जयोदय की कथा को महापुराण से लेने की स्वीकारोक्ति अपने प्रकृत महाकाव्य में की है[3] । इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि जयोदय महाकाव्य के स्रोत के रूप में कवि ने आचार्य जिनसेन के आदिपुराण को सामने रखा ।

जयोदय महाकाव्य की भूमिका में पं. इन्द्रलाल जी ने भी स्पष्ट कहा है - '' श्री भूरामल शास्त्री महोदयोजैनः अनेन महाकविना श्री महापुराणोक्त जयकुमार-सुलोचना कथानकमवलंव्याष्टाविंशतिसर्गात्मकमेतन्महाकाव्यं व्यरचि ।''

आचार्य जिनसेन के वैयक्तिक जीवन के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती है। अभी तक के अनुसन्धान से चन्द्रसेन के शिष्य आर्यनन्दी, उनके वीरसेन तथा वीरसेन के जिनसेन शिष्य थे । जिनसेन के शिष्य गुणभद्र और गुणभद्र के शिष्य लोकसेन थे, इतना ही ज्ञात है । जिनसेन के अतिरिक्त वीरसेन स्वामी को दशरथ गुरु नाम के एक और शिष्य थे। श्रीगुणभद्र स्वामी ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में अपने आपको उक्त दोनों गुरुओं का शिष्य बतलाया है । विनयसेन मुनि भी वीरसेन के शिष्य थे, जिनकी प्रेरणा से जिनसेनाचार्य ने पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना की थी -

> **''श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्ग श्रीमानभृद् विनयसेन मुनिर्गरीयान्।**
> **तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टित मेघदूतम् ॥''**

देवसेनाचार्य ने अपने दर्शनसार में लिखा है कि विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने आगे चलकर काष्ठासंघ की स्थापना की थी । यथा -

> **''सो सवणसंघवज्झो कुमारसेणी दु समय मिच्छत्तो ।**
> **चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघं परुवेदि ॥''**

जयधवला टीका में भी श्रीपाल, पद्मसेन और देवसेन इन तीनों विद्वानों का उल्लेख आता है । यथा -

> **''टीका श्री जय चिह्नितोरुधवला सूत्रार्थ संद्योतिनी**
> **स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतपः श्रीपालसंपालिता ।''**

सम्भवत: ये जिनसेन के सधर्मा या गुरुभाई थे जैसा कि आदि- पुराण से स्पष्ट होता है -

"भट्टाकलङ्क श्रीपाल पात्र केसरिणां गुणाः ।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥"[4]

आदिपुराण की पीठिका में श्री जिनसेन स्वामी ने 'जयसेन' का गुरु रूप में स्मरण किया है -

"सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।
मन्मनः सरसि स्थेयान् मृदुपादकुशेशयम् ॥"[5]

जिनसेन स्वामी के महापुराण का रचना काल नवीं शताब्दी है। जिनसेन स्वामी वीरसेन स्वामी के शिष्य थे। आपके विषय में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में ठीक ही लिखा है कि जिस प्रकार हिमालय से गंगा के प्रवाह का सर्वज्ञ के मुख से सर्वशास्त्ररूप दिव्य ध्वनि का, और उदयाचल के तट से देदीप्यमान् सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार वीरसेन स्वामी से जिनसेन का उदय हुआ।

जयधवला की प्रशस्ति में आचार्य जिनसेन ने अपना परिचय बड़ी ही आलंकारिक भाषा में दिया है। यथा -

'उन वीरसेन स्वामी का शिष्य जिनसेन हुआ, जो श्रीमान् था और वह उज्ज्वल बुद्धि का धारक भी था। उसके कान यद्यपि अविद्ध थे तो भी ज्ञानरूपी शलाका से बेधे गये थे[6]।' प्रभावपूर्ण होने के कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उत्सुक होकर वरण करने की इच्छा से मानो स्वयं ही उसके लिये श्रुतमाला की योजना की थी[7]। जिसने वाल्यकाल से ही अखण्डित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था फिर भी आश्चर्य है कि उसने स्वयंवर की विधि से सरस्वती का उद्वहन किया था[8]। जो न बहुत सुन्दर था और न अत्यन्त चतुर ही फिर भी सरस्वती ने अनन्यशरणा होकर उसकी सेवा की थी[9]। 'बुद्धि, शान्ति और विनय यही जिसके स्वाभाविक गुण थे, उन्हीं गुणों से वह गुरुओं की आराधना किया करते थे। ठीक ही है, गुणों के द्वारा किसकी आराधना नहीं होती[10] ?' शरीरसे वह यद्यपि कृश थे परन्तु तपरूपी गुणों से कृश नहीं थे। वास्तव में शरीर की कृशता, कृशता नहीं है, जो गुणों से कृश है, वही कृश है[11]। 'जिन्होंने न तो कापलिका को ग्रहण किया और न अधिक चिन्तन ही किया फिर भी अध्यात्म विद्या के परंपारंगत थे[12]। 'जिनका काल निरन्तर ज्ञान की आराधना में ही व्यतीत हुआ, इसीलिये तत्त्वदर्शी उन्हें ज्ञानमय पिण्ड कहा करते हैं[13]।

कवि ने जिनसेन को प्रणाम किया है और उसकी काव्य कथा के निर्माण में ग्रन्थ के माध्यम से भूमिका प्रस्तुत करते हैं। अत: जिनसेन प्रणीत ग्रन्थों का भी उल्लेख करना उचित है। उनके द्वारा प्रणीत निम्नाङ्कित ग्रन्थों का पता चलता है -

1. **पार्श्वाभ्युदय :** जिनसेन स्वामी का पार्श्वाभ्युदय काव्य तीन सौ चौंसठ मन्दाक्रान्ता वृत्तों में पूर्ण हुआ है। भाषा, शैली बहुत ही मनोहर है।

2. **वर्धमान पुराण :** जिनसेन (द्वितीय) ने हरिवंश पुराण में इनकी दूसरी रचना वर्धमान पुराण का उल्लेख किया है । अनुपलब्ध होने से नाम से यह ज्ञात होता है कि इसमें वर्धमान स्वामी का कथानक होगा ।
3. **जय धवला टीका :** कषायप्राभृत के पहले स्कन्ध की चारों विभक्तियों पर जयधवला नाम की बीस हजार श्लोक प्रमाणात्मक टीका लिखकर जब श्री गुरु वीरसेनाचार्य स्वर्ग को सिधार चुके तब उनके शिष्य श्री जिनसेन स्वामी ने उसके अवशिष्ट भाग पर चालीस हजार श्लोक प्रमाण की टीका लिखकर उसे पूरा किया ।
4. **आदिपुराण :** यह महापुराण का आद्य भाग है । उत्तर भाग का नाम उत्तर पुराण है । आदि पुराण में सैंतालिस पर्व हैं, जिनमें बयालिस सम्पूर्ण करने के बाद तैंतालिसवें पर्व के श्लोक तीन तक जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं, शेष पर्वों के सोलह सौ बीस श्लोक उनके शिष्य भदत्त गुणभद्राचार्य द्वारा विरचित हैं । कवि परमेश्वर द्वारा कही हुई गद्य कथा के आदिनाथ चरित का आधार लेकर जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण की रचना की है । यह पुराण सुभाषितों का भण्डार एवं अद्वितीय ग्रन्थ रत्न है ।

गुणभद्राचार्य :

जिनसेन और दशरथ गुरु के शिष्य गुणभद्राचार्य भी अपने समय के बहुत बड़े विद्वान हुए हैं[14] । आप उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, पक्षोपवासी, तपस्वी तथा भावलिंगी मुनिराज थे । इन्होंने सोलह सौ बीस श्लोक रचकर आदिपुराण को पूरा किया । तत्पश्चात् आठ हजार श्लोकों में उत्तरपुराण की रचना की । गुणभद्राचार्य जी अपने रचना के प्रारम्भ में जो पद्य लिखे हैं, उनसे इनके गुरुभक्त हृदय की अभिव्यक्ति होती है । यथा -

''इक्षीरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि रसावहम् ।
यथा तथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यतेमया ।।

गुरुणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वन्वः ।
तरुणां हि स्वाभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ।।

निर्यान्ति हृदयाद्वाची हृदि मे गुरवः स्थिताः ।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्नमेऽत्र परिश्रमः ।।

पुराणमार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम् ।
भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते[15] ।।''

गुणभद्राचार्य के अधोलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं -

1. **उत्तरपुराण :** यह महापुराण का उत्तर भाग है । इसमें प्रथमतः अजितनाथ से लेकर तेईस तीर्थंकरों, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र और नौ प्रति नारायण तथा जीवन्धर स्वामी आदि के कुछ कथानक दिये हुए हैं । इनकी रचना भी कवि परमेश्वर के गद्यात्मक पुराण के आधार पर हुई होगी । आठवें, सोलहवें, बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर

को छोड़कर अन्य तीर्थंकरों के चरित्र बहुत ही संक्षेप से लिखे गये हैं। गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण के विषय में एक दन्त कथा प्रसिद्ध है -

जब जिनसेन स्वामी को इस बात का विश्वास हो गया कि अब मेरा जीवन समाप्त होने वाला है और मैं महापुराण को पूरा नहीं कर सकूँगा तब उन्होंने अपेन योग्य दो शिष्यों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा कि यह जो सामने सूखा वृक्ष खड़ा है, इसका काव्य वाणी में वर्णन करो। गुरुवाक्य सुनकर उनमें से पहले ने कहा, 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' फिर दूसरे शिष्य ने कहा, 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।' गुरु को द्वितीय शिष्य की वाणी में रस दिखा, अतः उन्होंने उसे आज्ञा दी कि तुम महापुराण को पूरा करो। गुरु आज्ञा को स्वीकार कर द्वितीय शिष्य ने महापुराण को पूरा किया। यह द्वितीय शिष्य गुणभद्र ही थे।

2. **आत्मानुशासन :** यह भर्तृहरि की वैराग्य शतक शैली पर आधारित दो सौ बहत्तर पद्यों का बड़ा ही सुन्दर ग्रन्थ है।

3. **जिनदत्त चरित्र :** अनुष्टुप् छन्द में रचित नव सर्गात्मक छोटा सा काव्य है, जो अति रम्य है।

हरिवंश पुराण के द्वादशनें सर्ग में जयकुमार और सुलोचना की कथा का वर्णन हुआ है।

महाकवि पुष्प दन्त प्रणीत महापुराण (आदिपुराण उत्तर पुराण) में अपभ्रंश माध्यम से जयकुमार एवं सुलोचना की कथा निबद्ध की गयी है।

अपने शोध के सन्दर्भ में मैंने अनेक लोगों से पत्राचार द्वारा जो तथ्य उपलब्ध किये उनसे ज्ञात होता है कि कवि पंप विरचित 'आदि पुराण' (कन्नड़) में भी जय और सुलोचना का कथानक वर्णित है।

भट्टारक सकलकीर्ति के 'आदि पुराण' (15वीं शताब्दी) भट्टारक चन्द्रकीर्ति के 'आदिपुराण' (17वीं शताब्दी) में भी जयकुमार चरित्र सम्भाव्य है। परन्तु लेखक को ये कृतियाँ देखने को नहीं मिल सकीं।

इसके अतिरिक्त एक पुराण ही 'जयकुमार पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। पर वह अप्रकाशित है। अतः मुझे उसे भी देखने का अवसर नहीं मिल सका।

जयोदय महाकाव्य की ऐतिहासिकता

जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक पुरुष माने जाते हैं। वैसे ही जैन धर्म के भगवान् महावीर की भी ऐतिहासिकता पूर्णतः निर्विवाद है।

जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का काल भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व का है। अतः पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक होने में किंचित् सन्देह नहीं है। जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे[10]। चूंकि कृष्ण को भारतीय इतिहासकार ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं अतः नेमिनाथ भी निश्चय ही ऐतिहासिक हैं।

भरत चक्रवर्ती के समकालीन जयकुमार का आदिपुराण में पूर्ण आख्यान मिलता है। वहाँ का वर्णन भी मर्यादित है । इसलिये इस इतिवृत्त को पौराणिक या ऐतिहासिक मानने में संशय का स्थान नहीं है । इस प्रकार हम इसे प्रख्यात कोटि के इतिवृत्त में रख सकते हैं ।

***

फुट नोट

1. नै.म., 1/3
2. यदुपश्रुतिनिर्वृत्तिश्रिया कृतसंकेत इवाथकौधियाम् ।
   विजनं हिजनैक नायकः सहसैवाभिललाष सायकः ॥ ज.म., 25/88
3. महापुराणं मधुरं विलोड्य क्षीरवन्मया ।
   नवनीतमिवारब्धं प्रीत्यै भूयात्सतामिदम् ॥ ज.म., 28/91
4. आ.पु., भाग-1, 1/53 5. वही, 1/57
6. तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः ॥ अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया।
7. यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका । स्वयंवरीतुकामेव श्रौतीं मालामयूयुजत् ॥
8. येनानुचरितं बाल्याद् ब्रह्म व्रतमखण्डितम् । स्वयंवर विधानेन चित्रमूढ़ा सरस्वती॥
9. यो नाति सुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः । तयाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥
10. धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिका गुणाः । सूरीनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न वः ।
11. यः कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणैः। न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ।
12. यो नागृहीलापालिकान्नाप्यचिन्तयदञ्जसा । तथाप्यध्यात्मविद्याब्धेः परं पारमशिश्रियत्॥
13. ज्ञानाराधनया यस्य गतः कालो निरन्तरम् । ततो ज्ञानमयं पिण्डं यमाहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥
    ज.ध., श्लोक 27, 28, 29, 30, 31, 32, 33, 34
14. तस्य य सिस्सी गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो ।
    पक्खोववासमंडी महातवो भावलिंगी व ॥ दर्शन सार
15. आ.पु.भा.-2, 43/14, 17, 18, 40
16. (अ) आसीदन्धकवृष्णेश्च सुभद्रा वनितोत्तमा ।
    पुत्रास्तस्या दशोत्पन्नास्त्रिदशाभा दिवश्युताः ॥
    समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तथाऽस्तिमितसागरः ।
    हिमवान् विजयश्चान्योऽचलो धारणपूरणौ ॥
    अभिचन्द्र इहाख्यातो वसुदेवश्च ते दश । - हरि.पु.सर्ग 18/12, 13, 14 पू.
    (कंस) स्वसारं प्रददौ तस्मै देवकीं गुरुदक्षिणाम् । -हरि.पु. 33/39 उत्त.
    सशङ्खचक्रादिसुलक्षिताङ्गः स्फुरन्महानीलमणिप्रकाशः ।
    स देवकीसुतिगृहं स्वदीप्त्या प्रदीप्तिमान् द्योतयति स्मकृष्णः॥ - हरि.पु. 35/20
    अथात्र यदवृत्तमतीष पावनं पुरेव तु श्रेणिक लोकहर्षणम् ।
    दशार्हमुख्यस्यं सुसौर्यवासिनः श्रृणु प्रवक्ष्येऽवहितस्तदद्भुतम्॥
    जिनस्यनेमेस्त्रिदिवावतारतः पुरेव षण्मासपुरस्सरा सुरैः ।
    प्रवर्तिता तज्जननावधिर्ग्रहे हिरण्यवृष्टिः पुरुहूतशासनात् । - हरि.पु. 37/1,2

    (ब) श्वेताम्बर साहित्य में भी नेमिनाथ के पिता का नाम समुद्र विजय और कृष्ण के पिता का नाम वसुदेव मिलता है । - सम.सू. 158

❑ ❑ ❑

तृतीय - अध्याय

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों की परम्परा में जयोदय का महाकाव्यत्व, महाकाव्यों की परम्परा में जयोदय का स्थान तथा जयोदय एवं पूर्ववर्ती महाकाव्य

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों की परम्परा

भारतीय काव्य के निर्माण की पूर्ण प्रेरणा कवियों को रामायण एवं महाभारत से प्राप्त हुई है। उक्त महाकाव्य पाश्चात्य दृष्टि से एपिक के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि उनकी रचना शैली एवं विषय की विवेचना में परवर्ती महाकाव्यों से नितान्त पार्थक्य है।

भारतीय महाकाव्य के विकास में वेदों की भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता है ।

ऋग्वेद में (5/61) श्यावाश्य ऋषि ने अपने आश्रयदाता राजा तरन्त तथा उनकी विदुषी महिषी शशीयसी के दान की खूब प्रशंसा की है। अथर्ववेद राजा परीक्षित् के राज्य-काल में अनुभूयमान सौख्य की विपुल प्रशंसा में कतिपय मंत्रों का उल्लेख करता है[1] । संहिता, विशेषत: ब्राह्मणों में प्राचीन कीर्ति-सम्पन्न राजाओं के विषय में अनेक ग्राह्य गाथाएँ भी उधृत की गयी हैं, जिनमें प्राचीन ऐतिहासिक राजाओं के जीवन की किन्हीं विशिष्ट घटनाओं का साहित्यिक उल्लेख भी हमें वहाँ प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के शुन: शेप तथा ऐन्द्रमहाभिषेक वाले अंशों में भी ऐसी मान्य गाथाएँ हैं। कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक में ऋग्वेदीय उर्वशी-पुरुरवा के संवाद को साहित्यिक रूप दिया है। ऋग्वेद के संवाद सूक्तों एवं ब्राहमणों-उपनिषदों के आख्यानादि के रहते भी मुख्यतया रामायण तथा महाभारत ही संस्कृत श्रव्य तथा दृश्य काव्यों के अक्षय स्रोत है। अनन्तर इस सम्बन्ध में पुराणों की महत्वपूर्ण भूमिका की भी उपेक्षा संभव नहीं है।

लौकिक संस्कृत के महाकाव्यों के विकास की शृंखला की प्रथम लड़ी में कविता लिखने का प्रथम उदय वाल्मीकि के मुखारविन्द से हुआ। रामायण आदि काव्य एवं वाल्मीकि हमारे आदि कवि हैं । जिस अवसर पर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं' के रूप में वाल्मीकि की करुण रसाप्लुत वैरवरी स्खलित हुई, उसी समय भारतीय काव्य का प्रथम अकुंर उद्भूत हुआ। आदि वाल्मीकि का आदि काव्य संस्कृत भारती का नितान्त अभिराम निकेतन है ।

वाल्मीकि की 'रसमय पद्धति' को हम सुकुमार मार्ग कह सकते हैं। रस ही उसका जीवन है स्वाभाविकता उसका भूषण है। कालिदास ने इस शैली को अपनाकर यश: अर्जन किया है। इस परम्परा में महर्षि वाल्मीकि के अतिरिक्त कवि कुलगुरु कालिदास को भी स्थान प्राप्त है।

कालिदास में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। रघुवंश 2/4 में कालिदास ने 'पूर्वसूरिभि:' के द्वारा वाल्मीकि की ओर संकेत किया है। परवर्ती कुछ कवियों ने कालिदास की शैली को अपनाने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ अश्वघोष के ऊपर कालिदास की

स्पष्ट छाप है। गुप्तकाल की प्रशस्ति लेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी।

संस्कृत साहित्य के विकास में महाकवि भारवि का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा, क्योंकि उन्होंने महाकाव्य लिखने की एक नयी शैली को जन्म दिया। आचार्य कुन्तल इस अलङ्कार-बहुल पद्यति को विचित्र-मार्ग की संज्ञा देते हैं। इसकी दो विशेषताएँ हैं- विषय और भाषा। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि परवर्ती कवियों के सामने दो प्रकार की शैलियाँ विद्यमान थीं। प्रथम वाल्मीकि-कालिदास की रसमयी शैली और दूसरी भारवि-माघ की अलंकृत शैली। परिणामतः संस्कृत काव्य क्षेत्र में पूर्व के सुकुमार मार्ग के स्थान पर विचित्र मार्ग का प्रसार हुआ।

वर्ण्य - विषय तथा वर्णन प्रकार के सामंजस्य का जो भाव कालिदास तथा अश्वघोष में उपलब्ध होता है, व्याकरण एवं अलंकार की प्रधानता के कारण परवर्ती कवि उसके प्रति उतने जागरूक नहीं है । भारवि, भट्टि, कुमारदास तथा माघ इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं । भारवि का किरातार्जुनीय, भट्टि का 'रावण वध', कुमारदास का 'जानकी हरण', माघ का 'शिशुपालवध' प्रवरसेन का 'सेतुबन्ध', अभिनन्द का 'रामचरित', काश्मीरी कवि भर्तृमेण्ठ का 'हयग्रीव-वध', क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा-मंजरी', सोमेन्द्र, मंखख का 'श्री कण्ठ चरित' महाकवि श्रीहर्ष का 'नैषध' आदि प्रमुख महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में आते हैं।

संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में जैन पण्डितों का भी प्रमुख योगदान रहा है । जैन पण्डित गण प्राचीन काल से संस्कृत भाषा तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् होते आये हैं। उन्होंने अपने तीर्थङ्करों का चरित्र अलंकृत शैली में लिखकर जैन धर्म की महती सेवा की है । ऐसे जैन कवियों की बहुत बड़ी संख्या है। प्रमुख महाकवियों एवं उनके महाकाव्यों को यहाँ प्रस्तुत करना असमीचीन नहीं होगा -

610 ई के धनेश्वर सूरि का 'शत्रुंजय महाकाव्य', पन्द्रहसर्गात्मक वाग्भट्ट (1140) कृत 'नेमिनिर्वाण काव्य' उन्नीस सर्गात्मक अभयदेव (1221 ई.) कृत 'जयन्त-विजय काव्य', अमर चन्द्रसूरि (1241 ई.) कृत 'बाल-भारत', 'छन्दोरत्नावली', 'स्याद्-शब्द समुंचय' तथा 'पद्मानन्द काव्य', वीर नन्दी (1300 ई.) रचित 'चन्द्रप्रभ चरित', देवप्रभसूरि (1250 ई.) विरचित 'पाण्डव-चरित्र', तेरह शतक के वस्तुपाल कृत 'नर नारायण नन्द', बालचन्द्र सूरि (13 शतक) कृत 'वसन्त-विलास', देव विमल गणि (17 शतक) रचित 'हीर-सौभाग्यं' एवम् हरिचन्द्र बारहवीं शतक के कवि की रचना 'धर्म शर्माभ्युदय' प्रमुख हैं । हर्षचरित के आरम्भ में बाणभट्ट ने जिस गद्यबन्ध वाले भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है, उससे ये भिन्न है[2] । भट्टार हरिचन्द्र गद्य के लेखक थे, महाकाव्य के नहीं ।

ऐतिहासिक महाकाव्योंकी परम्परा में पद्मगुप्त परिमल कृत 'नव साहसाङ्क चरित' विल्हण का 'विक्रमांक देव चरित' तथा कल्हण की 'राज तरंगिणी' आदि काव्य आते हैं ।

जैन कवि ऐतिहासिक महाकाव्यों की रचना में नितान्त दक्ष हैं, परन्तु इनका साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्य परिवर्तनशील है। जैन आचार्य हेमचन्द्र (1089 - 1173ई.) का 'कुमारपाल चरित', विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुए सोमेश्वर का 'सुरथोत्सव' और 'कीर्ति-कौमुदी', अरिसिह कृत 'सुकृत- संकीर्तन', बालसूरि का 'वसन्त- विलास' इसी विषय पर है ।

नयचन्द्रसूरि रचित 'हम्मीर महाकाव्य', काश्मीरी कवि जयानक का 'पृथ्वीराज - विजय' और वाक्पतिराज का 'गउ बहो' प्राकृत में निबद्ध ऐतिहासिक काव्यों में अपनी शैली गत विशिष्टता के कारण नितांत प्रख्यात है ।

इनके अतिरिक्त महाकाव्यों की ही परम्परा में शास्त्र काव्य तथा देव काव्य का उल्लेख भी समीचीन है । ऐसे काव्यां का प्रथम निदर्शनभट्टिकाव्य है। काश्मीर कवि भट्टभीम रचित 'रावणार्जुनीय', हलायुध का 'कवि रहस्य' केरल के कवि वासुदेव का 'वासुदेव विजय' (अपूर्ण) एवं नारायन कवि का 'धातुकाव्य शास्त्र' काव्य की परम्परा में उल्लेखनीय है। इसके बाद हेमचन्द्र का 'कुमार पाल चरित' ऐतिहासिक होने के साथ ही 'शास्त्र काव्य' भी है । गोकुलनाथ का 'भिक्षाटन' नीलकण्ठ दीक्षित का 'शिव लीलार्णव' जयद्रथ रचित 'हरिचरित चिन्तामणि' आदि शैव काव्य तथा 'वैद्य जीवन' के कर्ता लौलिम्बराज का 'हरिविलास' राज चूड़ामणि दीक्षित का 'रुक्मिणी- कल्याण', कृष्णदास कविराज का 'गोविन्द लीलामृत' आदि काव्य कृष्ण की परम्परा में आते हैं । इन्हें देव काव्य कहा जा सकता है ।

महाभारत के कथानक तथा अवान्तर आख्यानों के आधार पर संस्कृत तथा जैन कवियों ने नवीन काव्यों का निर्माण किया। अमर चन्द्र सूरि का 'बाल भारत' समग्र महाभारत को एक ही ग्रन्थ के भीतर निबद्ध करने का सफल प्रयास है। इसके बाद देव प्रभसूरि का 'पाण्डव-चरित', कृष्णानन्द का 'सहृदयानन्द, वामन भट्टबाण का 'नलाभ्युदय', वस्तुपाल रचित 'नर नारायण नन्द', साकल्यमल्ल रचित 'उदार राधव', सोमेश्वर कवि का 'सुरथोत्सव', गोविन्दमखी का 'हरिवंश-सारचरित', वेंकटेश्वर का 'रामचन्द्रोदय' एवं 'रघुवीर चरित' नामक महाकाव्य इसकी परम्परा में आते हैं ।

वासुदेव का 'युधिष्ठिर विजय' तथा 'कवि राक्षसीय' काव्य यमक काव्य की परम्परा में एवं संध्याकर नन्दी का 'रामचरित', धनंजय का 'द्विसंधानकाव्य', कविराज सूरि का 'राघव - पाण्डवीय' हरिदत्त सूरि रचित 'राघवनैषधीय', विद्यामाधव का 'पार्वतीरुक्मणीय' वेंकटाध्वरी रचित 'यादव राधवीय' चिदम्बर सुमति का 'राघवपाण्डवयादवीय' तथा दैवज्ञ सूर्य्य विरचित 'रामकृष्ण विलोम' नामक काव्य श्लेष काव्य के अन्तर्गत समाहित किये जा सकते हैं । चिदम्बर कवि ने पंच कल्याण चम्पू नामक एक विचित्र चम्पू की रचना की है, जिसमें एक ही श्वास में राम, कृष्ण, शिव, विष्णु तथा सुब्रह्मण्य के विवाह का कथानक वर्णित है। श्लेष के चमत्कार प्रदर्शन का यह सबसे विलक्षण प्रयास है ।

इस प्रकार वेद से प्रारम्भ कर अद्यावधि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा का एक लम्बा इतिहास है। वेद उनके मूल हैं तो रामायण, महाभारत पुराण कथा के स्रोत। सहज से विचित्र-मध्यम मार्ग की और निरन्तर प्रवहमान इस काव्य पथ में जैन-बौद्ध कवियों ने भी अपनी प्रतिभा-कौशल का पर्याप्त विजृम्भण किया है। इस मार्ग में हमारे प्रकृत महाकाव्य की क्या भूमिका है ? इस पर हम दृष्टिपात करेंगे। प्रथमत: तो देखना है कि प्रकृत रचना क्या महाकाव्य की कसौटी पर सटीक है ? पुनश्च महाकाव्यों में उसका स्थान क्या है ? हम इसी की ओर चल रहे हैं।

जयोदय महाकाव्य का महाकाव्यत्व

जयोदय के महाकाव्यत्व को परखने के पूर्व महाकाव्य का ज्ञान सर्वथा नान्तरीयक है, क्योंकि बिना इस ज्ञान के किसी काव्य को कसौटी पर कसा नहीं जा सकता। अत: महाकाव्य किसे कहते हैं ? इस पर कुछ दृष्टिपात करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

संस्कृत साहित्य में अनेक लक्षण ग्रन्थ निर्माता हुए हैं, जिनमें काव्य के प्राय: प्रत्येक अङ्गों की पूर्ति साहित्य दर्पण से ही हो जाती है। इसलिये काव्य के विषय में आचार्य विश्वनाथ के मत को समक्ष रखकर उसी के आलोक में जयोदय का महाकाव्यत्व परीक्षित करेंगे।

काव्य दृश्य और श्रव्य के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें दृश्य काव्य अभिनेत्र होता है, उसी को रूपक भी कह सकते हैं। रूपक के दस भेद बतलाये गये हैं। इनके अतिरिक्त अट्ठारह प्रकार के उप रूपक भी कहे गये हैं[3]। इस प्रकार रूपकों का बड़ा विशाल परिवार है, जो प्रकृत में उपयोगी नहीं है। इसलिये हम श्रव्य काव्य की ओर दृष्टिपात करते हैं।

छन्दोबद्ध पद को पद्य कहते हैं। जिस वस्तु का एक पद्य में वर्णन हो उमे मुक्तक काव्य कहते हैं। दो पद्यों में वर्ण्य विषय को जुग्मक काव्य कहते हैं। तीन पद्य से, जिसका वर्णन हो उसे सान्दानतिक कहते हैं। चार पद्यों में निबद्ध रचना को कलापक कहते है। पाँच पद्य वाली रचना कुलक होती है। इसी प्रकार छ:, सात, आठ, नौ, दस से सम्बन्धित को भी कुलक कहा जाता है[4]।

आचार्य विश्वनाथ द्वारा निरूपित काव्य लक्षण इस प्रकार है -

महाकाव्य सर्ग बद्ध होना चाहिए। काव्य का नायक कोई देव या सत्कुलोत्पन्न क्षत्रिय होता है। वह धीरोदात्त गुणों वाला एक व्यक्ति हो सकता है अथवा एक ही वंश में उत्पन्न अनेक भी कुलीन राजा हो सकते हैं[5]।

महाकाव्य में शृङ्गार, वीर या शान्त में से कोई एक रस प्रधान होता है तथा अन्य रस उसी के पोषक होकर अङ्ग रूप में आते हैं। जिस प्रकार नाटकों में पंच सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख. गर्भ, विमर्श और निर्वहण) होती हैं, उसी प्रकार काव्य में भी उनका होना आवश्यक है[6]।

महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक होता है अथवा लोक प्रसिद्ध किसी सत्पुरुष पर आश्रित होता है । उसका फल (धर्मार्थ, काम, मोक्ष) पुरुषार्थ चतुष्टय की प्रप्ति होती है या किसी एक की प्राप्ति भी दिखायी जाती है[7] ।

महाकाव्य के प्रारम्भ में नमस्कारादि मङ्गलात्मक स्वरूप रखे जाते हैं अथवा वस्तु निर्देशात्मक माङ्गलिक नाम के द्वारा काव्यारम्भ होता है । कहीं-कहीं खलनिन्दा या सज्जन प्रशंसा आदि भी देखी जाती है[8] ।

सर्गों का निर्माण एक प्रकार के छन्द से किया जाता है। परन्तु सर्ग समाप्ति में अन्य छन्दों का निवेश अपेक्षित होता है। सर्गों की संख्या न तो अति अधिक न अति न्यून होनी चाहिए। इसलिये आठ से न्यून कथमपि नहीं होनी चाहिए[9] ।

छन्दों या वृत्तों के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि एक सर्ग में एक ही वृत्त का प्रयोग तो होता है, पर किसी-किसी सर्ग में विविध वृत्तों का भी प्रयोग किया जाता है। सर्गान्त में भावी कथा की सूचना भी दी जाती है[10] ।

महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न काल, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, विप्रलम्भ, मुनि, यज्ञ, रण, प्रयाण, विवाह, उपाय चतुष्टय, मंत्रणा, पुत्रोत्पत्ति, राजा, अमात्य, सेनापति आदि का साङ्गोपाङ्ग विवरण रहता है[11] ।

महाकाव्य का नामकरण कहीं-कहीं कवि के नाम पर किया जाता है। यथा- 'माघ काव्यम्' आदि । वृत्त प्रधान द्वारा भी काव्यों का नामकरण होता है- यथा 'कुमार सम्भवम्' आदि । नायक के नाम पर भी नामकरण होता है, जैसे - 'रघुवंश महाकाव्यम्'। सर्गों के नाम वक्तव्य विषय की दृष्टि से भी किये जाते हैं, जैसे 'सन्ध्या वर्णनो नाम दशमः सर्गः' आदि[12]। जिसमें इतिवृत्त का पूर्ण समावेश रहता है, उसे महाकाव्य कहते हैं। एक देश के वर्णन को खण्डकाव्य कहते हैं ।

अब इन लक्षणों को ध्यान में रखते हुए हम जयोदय महाकाव्य के महाकाव्यत्व पर विचार करें ।

वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री प्रणीत जयोदय भी एक महाकाव्य है, जिसकी रचना अट्ठाइस सर्ग में महाकवि ने की है इस प्रकार सर्गबद्धता यहाँ विद्यमान है। प्रकृत महाकाव्य के नायक सोमकुलोत्पन्न जयकुमार हैं। महाराज जयकुमार की कथा महाकवि ने महापुराण से ग्रहण की है । श्री शास्त्री जी स्वयं अपने ग्रन्थ में इस कथा को 'महापुराण' से लेने की घोषणा करते हैं[13] । 'जयोदय महाकाव्य' का नायक जयकुमार धीरोदात्त गुण सम्पन्न है । सुलोचना के स्वयंवर से लेकर अर्ककीर्ति के साथ हुए युद्ध, अर्ककीर्ति के पराजय, दोनों के मिलने पर अर्ककीर्ति के प्रति जयकुमार की उक्ति आदि वृत्तान्त उनके नायकत्व के पोषक

हैं -

**''त्वदपरो जलबिन्दुरहं जनो जलनिधे मिलनाय पुनर्मनः ।
यदगमं भवतो भुवि भिन्नतां तदुपयामि सदैव हि खिन्नताम् ॥''**[14]

समुद्र और बिन्दु की अन्योक्ति द्वारा अर्ककीर्ति से जयकुमार कहता है कि हे जलनिधे! आप समुद्र के समान और मैं उसकी मात्र एक बूँद हूँ। जो कि तेरा ही अङ्गभूत जन है, किसी कारण भू-मण्डल पर तुमसे जो अलग हो गया, निश्चय ही इसका मुझे अत्यन्त दुःख है। अतः पुनः आप से मिलना चाह रहा हूँ। यहाँ पराजित शत्रु से विजेता का विनम्रता पूर्वक निवेदन धीरोदात्तता का द्योतक है ।

पुनः अग्रिम श्लोक भी इसी की पुष्टि करता है

**''हृदनुतप्तमहो तव चेद्यदि किमु न तापमहो मयि सम्पदिन् ।
तदनुतापि न मेऽप्युपकल्पनं भवितुमेति नभः सुमकल्पनम् ॥''**[15]

अर्थात् हे वैभवशालिन् ! यदि आपका हृदय संतप्त है तो मेरे मन में भी कम संताप नहीं है । मेरा हृदय ताप से रहित है, यह कहना आकाश कुसुम के समान है अर्थात् हम दोनों ही परस्पर वियोग से दुःखी हैं ।

पुनः आगे कहते हैं कि हे समुद्र ! संताप का वेग आप का क्या बिगाड़ेगा? क्योंकि समुद्र में उत्पन्न वडवानल सरीखा अग्नि भी अपना कुछ प्रभाव नहीं दिखा पाता । और भी मुझ पर तो सदैव हवा आदि की बाधा सताती रहती है । बिन्दु होने के कारण मैं किसी के प्यास को भी नहीं बुझा सकता लेकिन आप तो समुद्र हैं । अतः आपके ऊपर मेरा क्या प्रभाव पड़ सकता है ।

**''विनतिरस्ति समागमनाय ये सम्पुधामुपयामि तव क्रमे ।
न मनसीति भजेः किमु बिन्दुनाप्यवयवावयवित्वमिहाधुना ॥''**[16]

तात्पर्य है कि, समागम करने के लिये आपसे बार-बार विनती है। आपके चरणों में मेरा प्रणाम है । इस प्रकार का कथन सर्वश्रेष्ठ नायक से ही सम्भव है। इस प्रकार जयोदय में सत्कुलोत्पन्न जयधीरोदात्त नायक है जो महाकाव्य की दूसरी विशेषता को पुष्ट करता है ।

इस महाकाव्य में शृङ्गार, वीर, करुण, रौद्र आदि रसों ने यद्यपि स्थान प्राप्त किया है, तथापि शान्त रस ही अङ्गी है। शृङ्गार रस के अनन्त उदाहरण महाकाव्य में प्राप्त हैं, जिसमें एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

**''मुखारविन्दे शुचिहासके शरेऽलिवत्स मुग्धो मधुरे मृगीदृशः ।
प्रसन्नयोः पादसरोजयोर्दृशं विशेष्य पद्मापि जयस्य सम्बभौ ॥''**[17]

जयकुमार मृगाक्षी सुलोचना के मधुर कान्ति हास्य से भरे हुए मुख कमल रूपी बाण के आधान हो गया। उसी प्रकार सुलोचना भी उसके निर्मल चरण कमलों में अपने नेत्रों को टिकाकर अत्यन्त सुशोभित हुई। परस्पर एक दूसरे के प्रति रतिभाव की पुष्टि होने से यहाँ शृङ्गार का परम पोष हो रहा है।

जयकुमार और अर्ककीर्ति का प्रचण्ड युद्ध विस्मय पोषक होकर वीर रस को अभिव्यंजित कर रहा है

''समुत्स्फुरद्विक्रमयोरखण्डवृत्या तथाश्चर्यकरः प्रचण्डः।
रणोऽनवीयाननयोरभाद्वै स दिव्यशस्त्रप्रतिशस्त्रभावैः॥''[18]

युद्धभूमि में मरे हुए शत्रुवीरों की स्त्रियों के अश्रुजल प्रवाह करुण रस की व्यजंना कराने में पूर्ण सक्षम है

''मृताङ्गनानेत्रपयःप्रवाहो मदाम्भसां वा करिणां तदाहो।
योऽभूच्चयोऽदोस्ति समानुमानमुद्गीयतेऽसौ यमुनाभिधानः॥''[19]

रौद्र रस का एक उदाहरण अवलोकनीय है

''क्षमायामस्तु विश्रामः श्रमणानां तु भो गुणः।
सुराजां राजते वंश्य स्वयं माञ्चकमूर्धनि॥''[20]

मंत्रियों द्वारा समझाये जाने के अनन्तर क्रुद्ध अर्ककीर्ति बोला कि हे मंत्रिन्! क्षमाशील होना संन्यासियों का काम है। क्षत्रियों का पुत्र तो अपने बल द्वारा सिंहासन के शिखर पर आरूढ़ होता है। इस प्रकार अर्क के क्रोध की पुष्टि होने से यहाँ पर रौद्र रस की प्रतीति स्पष्ट है।

अङ्ग रूप में आये हुए उक्त रसों के अतिरिक्त जयोदय महाकाव्य में शान्त रस की अङ्गी रूप में स्थापना हुई है। शान्त रस का कतिपय उदाहरण प्रस्तुत है। जैसे

''युवतयो मृगमञ्जुललोचनाः कृतरवाद्विरदामदगोचनाः।
लहरिबत्तरलास्तुरगाश्चमू समुदये किमु दृक् झपनेऽप्यमू॥''[21]

अर्थात् सारे वैभव स्वप्न सदृश हैं। दृश्य पदार्थ नश्वर हैं। नेत्र के बन्द होने पर मृगाक्षी युवतियाँ मत्त हाथी आदि साधक नहीं बनते हैं। यह वर्णन शान्त का पोषक है। इसी प्रकार अधोलिखित श्लोक में भी शान्ति की ओर संकेत मिलता है।

''शरीरमात्रं मलमूत्रकुण्डं समीक्षमाणोऽपि मलादिझुण्डम्।
त्यजेदजेतव्यतया विरोध्यमेकान्तमेकान्ततया विशोध्य॥''[22]

यह शरीर मल मूत्र का पात्र मलादि का ही समूह है, यह विचार करता हुआ भी मन शोधन कर अर्थात् विषयों से मन को पृथक् कर जीतने में असह्य होने के कारण विरोधी

पदार्थों का निश्चित त्याग करना चाहिए। इस प्रकार वैराग्योत्पादक स्थलों का सन्निवेश शान्ति का पोषक है ।

पुराण सम्बन्ध होने के कारण यह विख्यात ऐतिहासिक वृत्तान्त लिया गया है। धर्मार्थकाम मोक्ष चारों वर्गों का वर्णन होते हुए भी यहाँ शाश्वत सुख मोक्ष की ओर संकेत किया गया है । मोक्ष के लिये ज्ञान अपेक्षित है । जैसे -

''स्तवोऽथ बोधस्य समाश्रमे तु निरीहतायाः स समस्ति हेतुः ।
मनश्चनः काञ्चन काञ्चनाप्य यो वा यदर्थी सततदभ्युपायः ॥''[23]

यहाँ कवि ने कहा है कि शान्त स्थान में ज्ञान परक स्तोत्र निरीहता का निष्कामता का सर्वथा कारण है ।

अग्रिम श्लोक में भी कहा गया है -

''धर्मस्वरूपमिति सैष निशम्य सम्यग्नर्मप्रसाधनकरं करणं नियम्य।
कर्मप्रणाशनकशासनकृद्धुरीणं शर्मैकसाधनतयार्थितवान् प्रवीणः ।''[24]

अर्थात् धर्म के स्वरूप को सुनकर क्रीडा के साधन उपकरण सामग्री को तिरस्कृत कर कर्म के विनाशक तथापि कल्याण का साधन है उसे ही दक्ष जयकुमार ने चाहा । ये सब शान्त के परिपोषक एवं मोक्ष के सोपान बनते हैं ।

महाकाव्यों में नमस्कारात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक मंगल होते हैं। यहाँ भी जिन स्वामी को प्रणाम कर कथानक का आरम्भ किया गया है। जैसे

''श्रियाश्रितं सन्मतिमात्मयुक्त्याऽखिलज्ञमीशानमपीतिमुक्त्या ।
तनोमि नत्वा जिनपं सुभक्त्या जयोदयं स्वाभ्युदयाय शक्त्या ॥''[25]

यह महाकाव्य नमस्कारात्मक मंगल से पूर्ण है ।

महाकाव्य में खलों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा आती है यहाँ भी पुराणपुरुष भरत के मुख से अर्ककीर्ति पर आक्षेप किया गया है तथा काशी नरेश अकम्पन तथा जयकुमार के गुणों की प्रशंसा की गयी है । भरत की यह उक्ति द्रष्टव्य है

''जयकुमारमुपेत्य सुलक्षणा सुदृगतः प्रतिभाति विचक्षणा ।
मम महीवलयेऽपि वदापरः सपदि तत्सदृशः कतमो नरः ॥''[26]

इस भू-मण्डल में जयकुमार के समान कौन है ? सुलोचना जयकुमार को वरण की तो निश्चित ही सौभाग्यशालिनी होगी । वह विदुषी प्रतीत होती है ।

निम्नलिखित श्लोक में अर्ककीर्ति की निन्दा करते हुए भरत कह रहे हैं

''अहमहो हृदयाश्रयवत्प्रजः स्वजनवैरकरः पुनरङ्गजः ।
भवति दीपकतोऽञ्जनवत् कृतिर्न नियम खलु कार्यपद्धतिः ॥''[27]

अर्थात् अर्ककीर्ति स्वजन से ही वैर करने वाला हो गया है, ठीक है, प्रदीप से कज्जल उत्पन्न होता है । कारणानुसार कार्य होता है यह नियम सर्वथा घटित नहीं है । ऐसा अर्थान्तरन्यास के द्वारा समर्थन किया गया है।

इसी प्रकार अकम्पन के प्रति प्रशंसा-परक वाक्य द्रष्टव्य है -

**"सुमुख मर्त्यशिरोमणिनाऽधुना सुगुणवंशवयोगुरुणाऽमुना ।
बहुकृतं प्रकृतं गुणराशिना पुरुनिभेन धरातलवासिनाम् ॥"[28]**

अकम्पन के विषय में उन्होंने कहा है कि गुणशाली वंश, अवस्था में वृद्ध मनुज शिरोमणि महाराज अकम्पन भूतलवासियों के लिये ऋषभ के समान हैं । इस समय स्वयंवर सम्बन्धी जो कार्य उन्होंने किया है वह सुचारुरूप में सम्पन्न किया है ।

ऐसा ही एक और उदाहरण प्रस्तुत है -

**"भुवि सुवस्तु समस्तु सुलोचनाजनक एष जयश्च महामनाः ।
अयि विचक्षण लक्षणतः परं कटुकमर्कमिमं समुदाहर ॥"[29]**

यहाँ यह कहा गया है कि सुलोचना के पिता उत्तम पुरुष हैं । जयकुमार भी महामना उदार चित्त वाला है । किन्तु अर्ककीर्ति ही केवल तीक्ष्ण (कटु) स्वभाव वाला है ।

इस महाकाव्य में छन्दों की रचना समुचित ढंग से की गयी है । अधिकांशतः अनेक सर्गों में छन्दों का बाहुल्य है । यथा-प्रथम सर्ग में उपेन्द्र व्रजा, इन्द्रव्रजा, उपजाति, अनुष्टुप्, आर्या, द्रुतविलम्बित आये हुए हैं । द्वितीय सर्ग में रथोद्धता शार्दुलविक्रीडित, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, भुजङ्गप्रयात आये हैं । सर्ग की समाप्ति में छन्द बदले भी गये हैं तथा सर्ग की समाप्ति में कवि अपने माता-पिता के परिचय के साथ कृति का भी परिचय देने में तत्पर है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को छन्द निर्माण करने में लेशमात्र भी आलस्य नहीं प्रतीत होता था ।

यह महाकाव्य न तो स्वलप है न तो अति विशाल है । अट्ठाईस सर्गों में इस महाकाव्य का निर्माण किया गया है । सर्ग की समाप्ति में भावी सर्ग के कथांश की सूचना मिलती जाती है ।

इस महाकाव्य में प्रातःकालिक वर्णन का मनोहर दृश्य भी है । जैसे-

**"स्वस्तिक्रियामतति विप्रवदर्कचारे भद्रं सुगेहिवदिते कमल प्रकारे।
स्वस्तु स्वतोऽद्य भवितुं जगतोऽधिकारे सर्वत्र भाविनि किलामलताप्रसारे ॥"[30]**

**"सुक्तिं प्रकुर्वति शकुन्तगणणऽर्हतीव
युक्तिं प्रगच्छंति च कोक युगे सतीव ।
मुक्तिं समिच्छति यतीन्द्रवदब्जबन्धे
भुक्तिं गते सगुणवद्रजनीप्रबन्धे ॥"[31]**

इसी प्रकार आगे भी कहा गया है कि जब प्रातःकालिक बाजों का विराम हो गया, तब भूपति के स्थान पर पहुँचकर सूतगण रात्रि व्यतीत हो गयी, यह सूचित करने के लिये उत्सव हेतु मधुर मनोरम गान करने लगे । इसके भाव को अधोलिखित पद्य में देखा जा सकता है-

''विश्रान्तिमभ्युपगते तु विभाततूर्ये श्रीमेदिनीरमणथाम समाययुर्वै।
सुता जगुः सुमृदुमञ्जुलमुत्सवाय रात्रिव्यतीतिविनिवेदनकारणाय ॥''[32]

इस महाकाव्य में सन्ध्या वर्णन भी मनोरम है। एक ओर सूर्य अस्त हो रहा था तथा दूसरी ओर चन्द्रबिम्ब उदय हो रहा था इस बीच का काल सन्ध्या होता है। इन दोनों कालों का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है-

''रवेरथो बिम्बमितोऽस्तगामि उदेष्यदेतच्छशिनोऽपि नामि ।
समस्ति पान्थेषु रुषा निषिक्तं रतीश्वरस्याक्षियुगं हि रक्तम् ।।''[33]

रात्रि वर्णन प्रसङ्ग में दीपकों पर उत्प्रेक्षा करते हुए कवि ने कहा है कि मानो सूर्य ने ही अपने अङ्गों के टुकड़े करके घर घर में उनसे विराजमान हो गया है

''उपद्रुतोंऽशुस्तिमिरैः सरद्भिर्भयेऽप्यसम्मूढमतिर्महद्भिः ।
विखण्डय्य देहं प्रतिगेहमेष विराजते सम्प्रति दीपवेषः ।।''[34]

इसी प्रकार वनों का वर्णन भी मनोरम और पर्याप्त है। वन विहार के समय सारथी राजकुमार जय से कहता है कि

''अपि वालवबालका अमी समवेता अवभान्ति भूपते ।
विपिनस्य परीतदुत्करा इव वृद्धस्य विनिर्गता इतः ।।''[35]

यहाँ एकत्रित अजगर के बच्चे इस बूढ़े वन की निकली हुई आँतों के सदृश प्रतीत होते है। पुनः आगे कहा गया है कि हे जयकुमार । इधर देखिये साँप औकम्बी उच्छ्वास लेते हुए ऐसा जा रहा है मानो वृक्षों की लम्बाइ को ही नाप रहा है

''स्फटयोत्कटया समुच्छ्वसन्नयि षट्खण्डिबलाधिराद्रितः ।
अधुनाऽऽयततां महीरुहामनुगच्छन्निव याति पन्नगः ।।''[36]

एक अन्य श्लोक भी द्रष्टव्य है

''द्विपवृन्दपदाद्दिगम्बरः सघनीभूय वने चरत्ययम् ।
निकटे विकटेऽत्र भो विभो ननु भानोरपि निर्भयस्त्वयम ।।''[37]

वन में विचरते गजसमूहों को अन्धकार सा बताया गया है ।

प्रकृत महाकाव्य में नदी वर्णन का भी अभाव नहीं है -

''रजस्वलामर्ववरा धरित्रीमालिङ्ग्य दोषादनुषङ्गजातात् ।
ग्लानिं गताः स्नातुमितः स्मयन्ति प्रोत्थाय ते सम्प्रति सुस्रवन्तीम् ।।''[38]

यहाँ भागीरथी को पार करने का वर्णन किया गया है ।

अग्रिम श्लोक में भी प्यासे अश्व का वर्णन है जो गंगा के निर्मल जल में अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर अपनी प्रिया का स्मरण कर अपनी प्यास ही भूल जाता है -

''पिपासुरश्व प्रतिमावतारं निजोयमम्भस्यमलेऽवलोक्य ।
स सम्प्रति स्म स्मरति प्रियाया द्रुतं विसस्मार पिपासितायाः ।।''[39]

नदी वर्णन में ही एक और श्लोक अवलोकनीय है -

''सुरापगायाः सलिलैः पवित्रैर्मातङ्गतामात्मगतामपास्तुम् ।
किलाम्बुजामोदसुवासितैस्तैः स्नाति स्म भूयो निवहो द्विपानाम् ॥''[140]

यहाँ कहा गया है कि हाथियों का समूह भी अपनी मातंगता (चाण्डालपना) को दूर करने के लिये ही मानो गङ्गा के पवित्र जल में स्नान किया ।

जयोदय महाकाव्य में पर्वतों का भी यथावसर वर्णन मिलता है। महाकवि ने विजयार्ध पर्वत तथा कैलास पर्वत का विशेष वर्णन किया है ।[41]

महाकाव्य में यात्रा का वर्णन होना चाहिए । इस महाकाव्य में भी जयकुमार का नगर की ओर प्रस्थान का वर्णन किया गया है । प्रस्थान काल में झूल से सुसज्जित हस्ति समूह जिन आदि से सुसज्जित घोड़े, अश्व सन्द्ध रथ समन्वित शूरों से युक्त जयकुमार का प्रसन्नता पूर्वक बताया गया है । यथा -

''शासनं समुपगम्य भूपतेः पत्तनं प्रति पुनर्विनिर्गतेः ।
इत्थमाह समनीकिनीश्वरो गत्वरत्वसमयातिसत्वरः ।।''[42]

''सज्जिताःसपदि हस्तिसञ्चयाः स्युश्च कश्यकुथसंयुता हयाः ।
युग्यसंयुतयुगा अथोरथा गन्तुमाग्रहधराश्च सत्पथा ।।''[43]

महाकाव्य में संग्राम का वर्णन होता है। जयोदय महाकाव्य में जय और अर्क का युद्ध दिखाया गया है। युद्ध वर्णन प्रसङ्ग में यह कहा गया है कि जब प्राणों की रक्षा करने वाले धीर-वीर जयकुमार ने धनुष उठाया तब नाना दिशाओं से आये उसके शत्रुवर्ग ने तृणता स्वीकार कर ली । अर्थात् जयकुमार के सामने शत्रु टिक नहीं सके। जैसे हवा से तृण उड़ जाता है वैसे ही वे तितर बितर हो गये। इसकी रम्य योजना अवधेय है-

''यदाशुगस्थानमितः स धीरः प्राणप्रणेता जयदेव वीरः।
अरातिवर्गस्तृणतां बभार तदाऽथ काष्ठाधिगतप्रकारः ।।''[44]

जयोदय में विवाह का भी वर्णन प्राप्त होता है । सुलोचना ने स्वयंवर विधि से जयकुमार का वरण कर लिया है। सुलोचना के पिता काशिराज अकम्पन कन्यादान के लिये तत्पर होते हैं तथा पुरोहितों के द्वारा हवन कार्य प्रारम्भ हो गया। उस समय सारा भू-मण्डल कुसुमांजलि से परिपूर्ण हो गया तथा वर-वधू की ललाट रेखा उदार ज्वारों से परिपूर्ण हो गयी। सारी जनता रोमांचित हो उठी-

''कुसुमाञ्जलिभिर्धरा यवारैरुभयोर्मस्तकचूलिकाभ्युदारैः ।
जनता च मुदञ्चनैस्ततालमिति सम्यक् स करोपलब्धिकालः ॥''[45]

इस महाकाव्य में पुत्र उत्पत्ति का भी वर्णन हुआ है । यथा-

'' समभूत्समभूतरक्षणः स्वसमुत्सर्गविसर्गलक्षणः ।
शिवमानवमानवक्षणः नृपतेरुत्सवदुत्सवक्षणः ।।''[46]

अनुनामगुणैकभूरभूदथ शैवं करिरेत तदङ्गभूः ।
न हि शत्रुभिरन्ततामितः स्विदनन्तोत्तरवीर्यसंज्ञितः ॥''[47]

यहाँ जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य की जन्मोत्पत्ति का वर्णन है ।

पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों ने महाकाव्य को 'एपिक' की संज्ञा प्रदान की है । उनके महाकाव्यों में भी उन तथ्यों का समावेश है जो अपने यहाँ वर्णित है । पाश्चात्य विद्वान् डिक्सन के शब्दों में 'महाकाव्य सभी देशों में एक जैसा है । पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी जगह उसकी आत्मा और प्रकृति में एकता दृष्टिगोचर होती है । महाकाव्य चाहे कहीं भी लिखा गया हो, उसकी रचना सुशृङ्खलित होनी है । वह प्रकथन प्रधान होता है । उसका सम्बन्ध महान् चरित्रों से होता है । उसमें महत्कार्य, गौरवमयी शैली, महत् चरित्र आदि का सुनियोजन होता है । उपाख्यानों तथा सविस्तार वर्णनों से उसका कथानक विशाल बनाया जाता है।'' इस प्रकार प्रकृत वर्णन में निर्धारित समस्त लक्षणों के आधार पर किसी भी साहित्य रचना को महाकाव्य का नाम दिया जा सकता है ।

इस प्रकार ''जयोदय महाकाव्यम्'' भारतीय साहित्य एवं पाश्चात्य साहित्य में वर्णित महाकाव्यों के लक्षणों के आधार पर महाकाव्य सिद्ध होता है। प्रकृत में महाकाव्य के समग्र तत्त्वों का विनिवेश हुआ है । छन्दों की विविधता, रस की परिपक्वता, श्लेष, यमक, विरोधाभास आदि अलङ्कारों से समन्वित इस काव्य में शब्दों की विन्यास पद्धति अतिरम्य है । अतः महाकाव्यों के लक्षणों से युक्त महाकवि भूरामल प्रणीत जयोदय महाकाव्य उत्कृष्ट महाकाव्यों की पंक्तियों में रखने योग्य है ।

महाकाव्यों की परम्परा में जयोदय का स्थानः

जयोदय की कथावस्तु, भाषा शैली, अलङ्कार निवेश, रस परिपाक समस्त का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृत काव्य को कालिदास की सहज सरस रम्य पद्धति में तो नहीं ही रखा जा सकता । अलङ्कृत पद्धति के काव्य ग्रन्थ भारवि माघ श्री हर्ष के मार्ग से किंचित् साम्य होने पर भी जयोदय को उनकी भी श्रेणी में रखना संभव नहीं प्रतीत होता। कवि ने श्रीहर्ष का अनुकरण करने का प्रयास अवश्य किया है पर शब्द वैचित्र्य तक ही रह गया है । नैषध का अर्थ-सौन्दर्य प्रकृत शब्दाडम्बर पूर्ण काव्य में कहाँ । परवर्ती काव्यों की श्रेणी में भी इसे रखना संभव नहीं । अतः मेरी दृष्टि से जयोदय को शब्द-वैचित्र्य पद्धति में निबद्ध मानकर पं० राज जगन्नाथ द्वारा निरूपित काव्य के चतुर्थ भेद में रखना अधिक समीचीन होगा ।

जयोदय एवं पूर्ववर्ती महाकाव्यः

राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में शब्दार्थोपहरण के प्रकार बताये हैं । संस्कृत कवियों में अपने से पूर्ववर्ती काव्यों का विषय-शब्द-अर्थ का स्वीकार प्रायः देखा जाता है । रघुवंश महाकाव्य के प्रणयन काल में महाकवि कालिदास स्वयं भयभीत है कि समुद्र सदृश विशाल सूर्यवंश का वर्णन करने में मैं कैसे समर्थ हो सकूँगा? पुनः अभिव्यक्त करते हैं कि पूर्व कवि

महर्षि ने इस विषय हेतु दरवाजा खोल दिया है। इसलिये उसमें से विषय रत्न ग्रहण करने में मेरी भी मति समर्थ हो जायेगी[48]। जिस प्रकार छेदे गये मणि में सूत्र पहुँच जाता है वैसे ही मैं भी इस विशाल वंश के वर्णन में मार्ग पा सकूँगा। ऐसे ही अन्यान्य कवियों ने भी पूर्ववर्ती कवियों को अपनाया है। आचार्य वामन ने दस शब्दगत और दस दस अर्थगत बीस गुणों को स्वीकार किया है, जिनमें समाधि भी एक गुण है। समाधि का लक्षण है कि पदार्थ पर (वर्ण विषय पर) दृष्टिपात करना[49]। वह दो प्रकार है: (1) अयोनि और (2) अन्यच्छायायोनि[50]।

1. **अयोनि:** कवि सम्प्रदाय में किसी ने वैसा वर्णन न किया हो, ऐसे वर्णन को अयोनि समाधि कहते हैं।

2. **अन्यच्छायायोनि:** प्राचीन कवि परम्परा के द्वारा व्यवहृत पदार्थ का कुछ प्रकारान्तर में प्रतिबिम्ब रूप में वर्णन करने को अन्यच्छायायोनि समाधि कहते हैं।

जयोदय महाकाव्य के निर्माता वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री जी इस अन्यच्छायायोनि से शून्य नहीं है। अनेक स्थलों में पूर्ववर्ती कवियों के वर्ण्य विषय को बड़े आदर के साथ अपनी कविताओं में स्थान दिया है। काव्य के प्रारम्भिक श्लोक ही नैषधीयचरितमहाकाव्य से मिलते जुलते हैं-

> **"तनोति पुते जगती विलासात्स्मृता कथा याऽथ कथं तथा सा।**
> **स्वसेविनीमेव गिरं ममाऽऽरात् पुनातु नाऽतुच्छरसाधिकारात् ॥"**[51]

प्रकृत श्लोक का अर्थ है कि राजा जयकुमार की कथा पुण्यशालिनी है। स्मरण करने मात्र से जगत् को पवित्र कर देती है। विनोद के साथ भी यदि स्मरण किया जाय तो यह लोक परलोक दोनों को पवित्र कर देती है।

ठीक इसी प्रकार का नैषधकार का भी श्लोक है-

> **"पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।**
> **कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥"**[52]

अर्थात् जिस नल की कथा कलियुग में स्मरण करने मात्र से संसार को पवित्र करती है। वह कथा मलिन भी अर्थात् दोष से युक्त भी मेरी वाणी को क्यों पवित्र नहीं करेगी? दोनों श्लोकों में समानता वर्णन करने की शैली में स्वल्प मात्र ही अन्तर है।

ऐसे ही नैषध के अनेकों श्लोक इस महाकाव्य की समानता में अनुकूल हैं। जयोदय का निम्नलिखित श्लोक दर्शनीय है-

> **"अधीतिबोधाचरणप्रचारैश्चतुर्दशत्वं गमितात्युदारैः।**
> **सार्धं सुविद्याऽथ कलाः समस्ता द्वासप्ततिस्तस्य बभुः प्रशस्ता ॥"**[53]

जिसका अर्थ है कि महाराज जयकुमार सुन्दर विद्याओं के अध्ययन, बोध (ज्ञान) आचरण (अपने जीवन-क्षेत्र में उतरना) और प्रचार स्वरूप निर्दोष एवं विशाल साधनों से चार प्रकार

की प्राप्त हुई । और उसके इन चार के चौदह और चौदह के अर्थ से कुल बहत्तर विद्याएँ उसे प्राप्त थी । कवि को बहत्तर कलाएँ अभीष्ट हैं इसलिये यहाँ चतुर्दशत्व की सीमा को पारकर चार (अर्थशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र, आयुर्वेद और धनुर्वेद) को लेकर अट्ठारह विद्याएँ होती हैं । उनका चतुर्गुण कर बहत्तर कवि को अभिप्रेत है ।

इसी वस्तु को पूर्ववर्ती नैषधकार ने इस प्रकार कहा है

**''अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्स्वयं न वेद्मि विधासु चतुर्दशस्वयम् ।।''**[54]

अर्थात् विद्याएँ चारो वेद, छः वेदाङ्ग मीमांसा न्याय धर्मशास्त्र पुराण मे चौदह विद्याएँ प्रसिद्ध हैं । इन विद्याओं को नल ने अध्ययन, ज्ञान आचरण, अध्यापन की दृष्टि से छप्पन प्रकार की विद्याओं को नहीं बनने दिया ? चतुर्दशत्व ही कैसे रह गया ? यह मैं नहीं कह सकता ।

विवाह संस्कार सम्पन्न होने के अनन्तर जिस समय सुलोचना जयकुमार प्रस्थान करते हैं । उस समय जो अश्वादि चल रहे उनमें क्या भाव उत्पन्न हुए? उसमें महाकवि ने इस प्रकार कहा है

**''कियती जगतीयती गतिर्नियतिर्नो वियति स्विदित्यतः ।
विपदिङ्गणरिङ्गणेन ते सुगमा जग्मुरितस्तुरङ्गमाः ।।''**[55]

अथात् अश्वों ने विचार किया कि यह पृथ्वी मेरे चलने के लिये कितनी है ? अन्त में हमको आकाश में चलना ही होगा । अतः वे घोड़े उसी समय आकाश में उछलते हुए गमन करने लगे । यह भी नैषधकार की छाया है । यथा

**''प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ।।''**[56]

जिसका तात्पय है कि वे वेगशाली घोड़े अपने मन में विचार करते हैं कि हम लोगों को चलने के लिये यह पृथ्वी कितने पाद प्रक्षेप (कितने कदम) होगी ? इससे अच्छा होता कि समुद्र भी स्थल बन जाता । मानो यह विचार कर वेग के अभिमानी घोड़े ने समुद्र को स्थल बनाने के लिये पाद प्रक्षेप से धूलि को उड़ाया।

इसी प्रकार नैषध मे मिलता-जुलता जयोदय महाकाव्य का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है-

**''सुरतरङ्गिणि उत्कलिकावतीतरणिरद्य न विद्यत इत्यतः ।
पृथुलकुम्भयुगं हृदि सन्ददधद् घन मस्य स पारमुपागतः ।।''**[57]

प्रकृत पद्य में यह कहा गया है कि सुरत समुद्र में अनुराग जहाँ उछाल मार रहा है, उत्कण्ठा से भरी हुई मनोवृत्ति रूपी कोई नौका ऐसी नहीं है जिसके द्वारा उसको पार किया जाय । ऐसा सोचकर सुलोचना के वक्षस्थल में विद्यमान विशाल जो कुम्भ युगल थे, उन्हीं के सहारे जयकुमार ने उस सान्द्र अनुराग जलपूर्ण समुद्र को पार किया ।

इसी से साम्य रखता हुआ नैषध का श्लोक प्रस्तुत है-

"उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥"[58]

अर्थात् दमयन्ती नल के हृदय में कैसे प्रवेश कर सकती थी? क्योंकि लज्जा रूपी विषम नदी पड़ी हुई थी, उसे पार कर जाना दुर्गम था। परन्तु तारुण्यावस्था के नवीन उपहार रूप में वक्षस्थल पर विशाल दो कुम्भ प्रदान कर दिया । जिसके सहारे वह सुन्दरी दमयन्ती दुर्गम लज्जा रूपी नदी को पार कर नल के हृदय में पहुँच गयी ।

इसी प्रकार अधोलिखित श्लोक अमरूक शतक मे काफी साम्य रखता है -

"लीलातामरसाहतोऽन्यवनितादष्टाधरस्त्वाऽजनः
सम्मिश्राब्जरजस्तयेव सहसा सम्मीलितालोचनः ।
वध्वाः पूतिकृतितत्परं मुकुलितं वक्त्रं पुनश्चुम्वतो
निर्यातिस्म तदेव तस्य नितरां हर्षाश्रुभिः श्रीमतः ॥"[59]

यहाँ नायक-नायिका के क्रीडा प्रसङ्ग में कहा गया है कि किसी अन्य की स्त्री के अधर दंशन करने के कारण नायिका ने लीला कमल से नायक के मुख मण्डल पर प्रहार किया । कुशल नायक ने नेत्र में कमलरज पड़ जाने के बहाने (यथार्थतः पराग नेत्र में पड़े नहीं थे) अपने नेत्रों को सहसा बन्द कर लिया । मुग्धा नायिका अपने मुख को मुकुलित कर फूँक के द्वारा पराग को निकालने में प्रवृत्त हो जाती है । अवसर पाकर धूर्त कुशल उस नायक ने उसके मुख का चुम्बन ले लिया । इसी का पूर्ण प्रतिबिम्ब अमरूक शतक में दर्शनीय है । यथा-

"लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिः शङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केशरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता तत्र सा
भ्रान्त्या धूर्ततयाथ वा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥"[60]

अमरूक शतक का श्लोकार्थ यह है कि अन्य स्त्री के अधर को किसी नायक ने निर्भय होकर दंशित कर लिया । अतएव नायिका लीला कमल से क्रोधवश से पीट देती है । धूर्त नायक कमल केशर से दूषित नेत्र हो चुके हैं, ऐसी कपट मुद्रा में नेत्रों को बन्द कर लिया । मुग्धा नायिका अपने मुख को कुड्मलित कर आँखों में फुँकना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बिना झुके ही उसने प्रियतम का चिरकाल तक चुम्बन ले लिया । क्रुद्ध नायिका को शान्त करने के लिये नम्र होना आवश्यक था परन्तु धूर्त नायक ने नेत्र कमल केशर युक्त हो गये हैं ब्याज बनाकर बिना क्रोध शान्त किये ही चुम्बन में सफल हो गया। दोनों पद्यों में पूर्णतः साम्य है ।

जयोदय महाकाव्य में कालिदास के काव्यों की भी छाया देखने को मिलती है। प्रकृत महाकाव्य का प्रकृत पद्य रघुवंश महाकाव्य से साम्य रखता है -

''पयोधरीभूतचतु:समुद्रां समुल्लसद्वत्सलतोरुमुद्राम ।
प्रदक्षिणीकृत्य स गामनुद्राग् जगाम चैकान्तमहीमशूद्राम् ॥''[61]

यहाँ कहा गया है कि वह राजा जयकुमार ने शूद्ररहित अर्थात् पवित्र चतु: समुद्र स्तन वाली नाना प्रकार के प्रिय लताओं से परिपूर्ण प्रशस्त चिह्न वाली गो (भूमि) की परिक्रमा कर प्रस्थान किया।

यहाँ रघुवंश का श्लोक द्रष्टव्य है-

''निवर्त्यराजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभि: ।
पयोधरीभूतचतु:समुद्रां जुगोप गोरुपधरा मिवोर्वीम् ॥''[62]

प्रकृत पद्य में महाकवि ने कहा है कि सुन्दर कीर्तियुक्त दयालु राजा दिलीप अपनी प्रिय पत्नी को लौटाकर चारों समुद्रों को चार स्तनों के समान धारण किये हुए गौ की पृथ्वी की भाँति रक्षा करने लगे।

पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव का यहाँ मैंने दिङ्मात्र निदर्शन प्रस्तुत किया है। यथार्थ तो यह है कि सम्पूर्ण जयोदय में कालिदास, श्रीहर्ष ही नहीं अन्य अनेक कवियों के पूर्ण प्रभाव हैं। प्राय: सभी वर्णन कहीं न कहीं से प्रभावित अवश्य हैं। मैंने विस्तार में उनका प्रदर्शन उचित नहीं समझा।

***

फुट नोट

1. अथर्व वेद, काण्ड 20, सूक्ति 127
2. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थिति:। भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥ हर्षचरित
3. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुन: काव्यं द्विधा मतम् ।
   दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥
   भवेदभिनयोऽवस्थानुकार: स चतुर्विध: ।
   आङ्गि को वाचिकश्चैवमाहार्य: सात्त्विकस्तथा॥
   नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमा: ।
   ईहामृगाङ्कवीथ्य: प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥
   नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
   प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ।
   संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।
   दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च॥
   अष्टादश प्राहुरूपकाणि मनीषिण: । - सा.द. 6/1, 2, 3, 4, 5, 6 पृ.
4. द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानतिकं त्रिभिरिष्यते ॥ कलापकं चतुर्भिश्च पंचभि कुलकं मतम् ।
   - सा.द. 6/314 उत्त., 315 पृ.

5. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर: ॥ सद्वश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुण न्वत: ।
एकवंशभवा भूपा: कुलजा वहवोऽपि वा । - सा.द. 6/315 उ- 316
6. शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते । अङ्गानि सर्वेऽपि रसा: सर्वे नाटक सन्धय: ।
- सा.द. 6/317
7. इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् । चत्वारस्तस्य वर्गा: स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥
- सा.द. 6/318
8. आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ - सा.द. 6/319
9. एकवृत्तमयै: पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकै: ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा: सर्गा अष्टाधिका इह ॥ - सा.द. 6/320
10. नानावृत्तमय: क्वापि सर्ग: कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया: सूचनं भवेत् ॥ - सा.द. 3/321
11. सन्ध्यासूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासरा: । प्रातर्मध्याह्नमृगया शैलर्तुवनसागरा: ॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा: । रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादय: ॥
वर्णनीया यतायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह । सा.द. 6 322, 323, 324 पू
12. कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु । सा.द. 6 324 का उत्त., 6 325 का पूर्वा
13. महापुराणं मधुरं विलोड्य क्षीरवत्स्वया । नवनीतमिवारब्धं प्रीत्यै भूयात्सतामिदम् ॥
ज.म. 28/91

14. ज.म. 9/41	15.ज.म. 9/43	16.वही, 9/46	17.ज.म. 23/5
18 वही, 8/74	19.ज.म. 8/41	20.वही, 7/46	21 वही, 25/4
22 ज.म. 27 36	23.वही, 27/54	24.ज.म. 27/65	25.वही, 1/1
26 वही, 9 79	27.ज.म. 9/81	28.वही, 9/83	29.ज.म. 9/84
30. ज.म. 18 2	31.वही, 18 3	32.वही, 18/8	33.वही, 15/10
34 ज.म. 15 21	35.ज.म. 13 45	36.ज.म. 13/46	37.ज.म. 13/48
38. ज.म. 13 92	39.वही, 13 93	40.वही, 13/94	41.ज.म.,सर्ग 6 एवं 23
42. ज.म. 21 1	43.वही, 21 2	44.वही, 8/48	45.ज.म. 12/57
46 वही, 26 1	47.वही, 26 2		

48. अथवा कृतवाग्द्वारेवंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभि: मणौ वज्रोत्कीर्णे सूत्रस्येवास्तिमे गति:॥ -र.वं. 1/4
49. अर्थदृष्टि: समाधि: - वामन - का.सू. 3/2 6
50. अर्थो द्विविध: - अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा - का.सू. 3/2/8

51. ज.म. 1 4	52.नै म. 1/3	53.ज.म. 1/12	54.नै.म. 1/4
55. ज.म. 13/24	56.नै.म. 1 69	57.ज.म. 17/108	58.नै.म. 1/48
59. ज.म. 16/80	60.अमरूक शतक	61.ज.म. 19/13	62.रघु.म., अ. 2

❑ ❑ ❑

चतुर्थ - अध्याय

'जयोदय महाकाव्य'

में रस भाव

विमर्श

रस भाव विमर्श

रस शब्द की प्राचीनता वेदों मे ही ममुपलब्ध है । लौकिक रस एवं काव्य जगत् के रस में महान् भेद है तो भी वेद में रस शब्द का उल्लेख सोमरस के अर्थ में दिया गया है[1] । काव्य जगत् में प्रकाश्यमान रस का भी स्थान वैदिक-साहित्य में निर्दिष्ट है ।

"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति ।"[2]

इस प्रकार उस आनन्दार्थ में भी अभिव्यक्त है । वैदिक साहित्य में रस-भाव आदि शब्दों का यद्यपि उल्लेख अवश्य है तथापि साहित्यिक सम्प्रदाय में इसके स्वरूप आदि के निर्णय का श्रेय सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र प्रणेता आचार्य भरत मुनि को ही है ।

काव्य मीमांसाकार राजशेखर ने भी काव्य मीमांसा के प्रथम अध्याय के आरम्भ मे ही लिखा है कि रस का उपदेश सर्वप्रथम प्रजापति ने नन्दिकेश्वर को किया[3] ।

रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी आठ रसों का उल्लेख मिलता है[4]

ध्वन्यालोक निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य ने भी रामायण को करुण रस प्रधान कहा है । आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक और भवभूति के उत्तररामचरित मे आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण में करुण रस का परिपाक समर्थित है।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में रस की प्राचीनता को स्वीकार किया है[6] । भरत मुनि ने अपने अभीष्ट ग्रन्थ में कहा है कि रस के बिना किसी भी अर्थ की प्रवृत्ति नहीं होती । इन्होंने अलङ्कार, गुण और दोष के रस संश्रयत्व पर प्रकाश डाला है[8] । महाकाव्य के लिये रस एक आवश्यक तत्त्व है, दण्डी, भामह आदि इसे स्वीकार करते हैं[9] । शब्दप्रधान शास्त्र भी रससिक्त होने पर उपभोग योग्य बन जाता है[10] ।

अग्निपुराण के अनुसार वाग्वैदग्ध्यजन्य प्रधान होने पर भी काव्य में रस ही जीवन है[11] ।

नाट्यशास्त्र के छठे-सातवे अध्याय में रस का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है । इस के निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत मुनि का सूत्र इस प्रकार मिलता है -

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।"[12]

विभिन्न आचार्यो ने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार इस सूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है ।

भरत सूत्र के 'संयोगात्' और 'निष्पत्तिः' इन दो शब्दों को लेकर विद्वानों में मतभेद

आचार्य भट्ट लोल्लट ने 'संयोगात्' का अर्थ 'उत्पाद्योत्पादक भाव सम्बन्धात्' एवं 'निष्पत्तिः' का 'उत्पत्तिः' अर्थ लिया है । इन्होंने अनुकार्य राम, सीता आदि में रस प्रतीति मानी है । इससे प्रेक्षक सामाजिक को क्या उपलब्ध होगा ? इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यही है ।

आचार्य शंकुक ने 'संयोगात्' का अर्थ 'गम्य - गमक भाव सम्बन्धात्' (अनुमाप्यानुमापक भाव सम्बन्धात्) एवं 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'अनुमितिः' किया है । यह रसादि को अनुमिति में गतार्थ करते हैं । व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते । आचार्य शङ्कुक के मत से रस प्रतीति अनुकरणकर्ता नट में होती है । यह मत भी समुचित नहीं है । क्योंकि यहाँ भी प्रेक्षक को कोई उपलब्धि नहीं है । अनुमिति प्रक्रिया भी रस प्रतीति में बाधक है ।

आचार्य भट्टनायक ने 'संयोगात्' का अर्थ 'भोज्य भोजक भाव सम्बन्धात्' एवं 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'भुक्तिः' लिया है । रस प्रतीति अनुकार्य में या अनुकरणकर्ता नट में नहीं अपितु सामाजिक अथवा दर्शक में होती है । काव्य में आये हुए वृत्त का अभिधा या अभिनय द्वारा बोध कराये जाने के अनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा सीतात्व रामत्व का परित्याग हो जाने पर साधारणीकरण हो जाता है ।

ततः काव्य के तृतीयांश भोजकत्व व्यापार से रस का भोग किया जाता है । इस मत में यद्यपि प्रेक्षक पाठक को रसोपलब्धिता होती है पर नवीन दो व्यापारों की कल्पना के कारण यह मत भी ग्राह्य नहीं हो सका ।

आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार 'संयोगात्' का अर्थ व्यङ्ग्य व्यंजक 'भाव सम्बन्धात्' एवं 'निष्पत्तिः' का अर्थ अभिव्यक्ति है । इस प्रकार विभावानुभाव व्यभिचारी भाव के द्वारा व्यङ्ग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध से रत्यादि स्थायी भाव ही रस रूप में व्यंजित होते हैं[13] । लोक में कारण, कार्य और सहकारी कहे जाने वाले तत्त्व काव्यजगत् में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी नाम से जाने जाते हैं । आलम्बन उद्दीपन के भेद से विभाव दो प्रकार के होते हैं -

नायक-नायिका आदि मुख्य कारण आलम्बन विभाव कहलाते हैं एवं उत्पन्न होने वाले भाव के उत्तेजक उद्दीपन विभाव कहलाते हैं । जैसे- रति के उद्दीपक एकान्त निर्जन प्रदेश, चन्द्रोदय, वसन्तऋतु आदि ।

अङ्ग एवं स्वभाव से उत्पन्न कार्यों को अनुभाव कहा जाता है[14] । रत्यादि का स्तम्भन, पसीने का निकलना, रोमांच, स्वर भङ्ग, कम्पन, कान्ति में परिवर्तन, आँसू का निकलना, प्रलय अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषयों के प्रति शिथिल होना ये आठ प्रकार के सात्विक भाव बताये गये हैं । हाव-भाव, कटाक्ष, विक्षेप आदि भी अनुभाव रूप में ही व्यक्त होते हैं।

संचारी भाव या व्यभिचारी भाव :

जो भाव स्थिर न हों अपितु उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हों, ऐसे गतिशील भाव को

संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं । ये भाव तैंतीस प्रकार के साहित्यदर्पण में अनुपम ढंग से निर्दिष्ट हैं[15] ।

स्थायी भाव भी अन्य रसों में नियम न होने के कारण कभी-कभी व्यभिचारी भाव कहलाते हैं[16] । स्थायी भाव मन के उस भाव को कहते हैं जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से तिरोहित न हो सकें । काव्यादि में सतत उनके तारतम्य की गतिविधि बनी रहती है, जिससे ब्रह्मानन्द सहोदर रस का आस्वाद निष्पन्न होता है । प्रत्येक रसों के नियम स्थायी भाव हैं। जैसे - शृङ्गार का रति, हास्य का हाँस, करुण का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, भयानक का भय, बीभत्स का जुगुप्सा, अद्भुत का विस्मय और शान्त रस का स्थायी निर्वेद है[17] ।

यद्यपि करुण, बीभत्स, भयानक आदि रसों में क्रमशः शोक, जुगुप्सा, भय आदि स्थायी होते हैं एवं किसी प्रिय व्यक्ति का मरण, घृणित, दुर्गन्ध पूर्ण अस्थि पंजरादि का दर्शन, व्याघ्र सर्पादि भयानक प्राणी का दर्शन क्रमशः इन रसों में विभावादि होते हैं जो दुःख के कारण हैं परन्तु इतने मात्र से इन रसों में दुःख नहीं होता क्योंकि यहाँ विभाव अनुभाव, संचारी आदि भाव अलौकिक कारण होते हैं । यदि करुण रस प्रधान 'रामायण' दुःखदायक होता तो कोई उसके सुनने-पढ़ने या तद्विषयक अभिनय को देखने में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि कोइ भी व्यक्ति दुःख के लिये किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । अन्ततः इन अलौकिक विभावादि से के समान सुख ही उपलब्ध होता है ।

पं राज जगन्नाथ ने भी रसगंगाधर में रस विषयक प्राचीन मतों का सम्यक् विवेचन किया है । जिनमें कतिपय के लिये कोइ ऐतिहासिक आधार नहीं है । आचार्य अभिनवगुप्त एवं मम्मट के रस विवेचन से पं. राज में अन्तर दृष्टि मात्र का है । पं राज जगन्नाथ 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति के आधार पर रति आदि स्थायी भाव से अविच्छिन्न चैतन्य को रस मानते हैं परन्तु उक्त दोनों मतों में चैतन्य विशिष्ट स्थायी भाव को ही रस कहा गया है । केवल विशेषण-विशेष्य भाव मात्र का ही इस विषय में अन्तर है ।

रस संख्या की दृष्टि से भी आचार्यो में कुछ मतभेद हैं । नाट्य-शास्त्र प्रणेता भरत मुनि ने शान्त रस का लक्षण एवं विभावादि का प्रतिपादन नहीं किया है उसमें क्या कारण हो सकता है ? यह विचारणीय है । परन्तु यह कहा जा सकता है कि अनादिकाल से उत्पन्न राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोधादि का नाश होना सम्भव नहीं है अतएव शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद या शम का होना भी सम्भव न होने से शान्त रस नहीं कहा गया है ।

अभिनवगुप्त के अनुयायी काव्य प्रकाशकार मम्मट ने पहले आठ रसों को कहकर एवं उनके स्थायी भावों को दिखाकर निर्वेद प्रधान नवम शान्त रस भी है, ऐसा कहा है[18]।

इन सबके अतिरिक्त आचार्य रूद्रट ने प्रेयान् नाम का एक और भी रस स्वीकार किया

है[19] । इसी प्रकार साहित्यदर्पणकार ने वात्सल्यरस भी माना है जो उनके अभीष्ट ग्रन्थ से स्पष्ट है[20] । गोड़ी, वैष्णव आदि सम्प्रदायवादियों ने तो मधुररस को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है । माध्व सम्प्रदायवादियों ने भक्तिरस को प्रधानता दी है ।

दशरूपककार धनिक ने भी आठ रसों के अतिरिक्त शमप्रधान नवें रस शान्त की सत्ता स्वीकार करने पर भी अनभिनेय होने के कारण नाट्य में अनभीष्ट माना है[21] ।

रसों का पारस्परिक शत्रु–मित्र भाव :

किसी **भी** काव्य या महाकाव्य में प्रधानता किसी एक ही रस की होती है । अन्य रस गौण **होकर ही** स्थित होते हैं । यदि विरोधी रस की प्रबलता हो जाय तो रस दोष हो जाता है । **इसी प्रकार** काव्य में प्राय: विरोधी भाव नहीं ठहरते हैं । यदि विरोधी भाव आते भी हैं **तो बाह्य रूप में** ही आते हैं अर्थात् अङ्ग होकर के ही स्थित होते हैं अङ्गी की स्थिति में उनका विस्तार **नहीं** होता है ।

किन रसों का किन से विरोध है इनके विषय में भी आचार्यों ने अपना मत व्यक्त किया है । शृङ्गार का करुण, बीभत्स, रौद्र तथा भयानक के साथ विरोध है । इसी प्रकार हास्य का करुण और भयानक से, करुण का हास्य और शृङ्गार से, रौद्र का हास्य शृङ्गार तथा भयानक से विरोध है । शांत रस के शत्रुरसों में वीर, रौद्र, भयानक, शृङ्गार तथा हास्य रसों के नाम आते हैं और बीभत्स रस की शत्रुता केवल शृङ्गार के साथ है तथा अद्भुत का विरोध किसी के साथ नहीं है । इसी प्रकार वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य का भयानक रस से विरोध है । काव्याचार्यों ने रसों के परस्पर विरोध परिहार का भी निरूपण किया है। आचार्यों ने वीर रस, अद्भुत रस एवं रौद्र रस को परस्पर भिन्न माना है । इसी प्रकार शृङ्गार अद्भुत और हास्य रसों की परस्पर मैत्री है तथा भयानक और बीभत्स भी आपस में भिन्न हैं । रस सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा अन्यत्र व्यापक है । मैंने यहाँ संक्षेप में उसका दिग्दर्शन मात्र करने का प्रयास किया है ।

रसों के भेद

1. शृङ्गार रस

आचार्यों ने शृङ्गार के दो भेद स्वीकार किये हैं ।

1 संयोग   2 विप्रलम्भ

1. **आलिङ्गन** - चुम्बन आदि भेद से संयोग शृङ्गार के अनन्त भेद संभव हैं । जिनका परिगणन संभव नहीं । अत: प्राधान्येन उसका एक भेद माना गया है । मम्मट आदि आचार्यों ने विप्रलम्भ के 5 भेद स्वीकार किये हैं वे हैं अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप हेतुक । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लिखा है कि बिना विप्रलम्भ के सम्भोग शृङ्गार पुष्ट नहीं होता । शृङ्गार शब्द का अर्थ करते हुए उन्होंने कहा है कि शृङ्ग अर्थात् –

का भेद 'शृङ्गमऋच्छति प्राप्नोति इति शृङ्गार' शृङ्ग उपपद रहते हुए ऋधातु से 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् प्रत्यय करके शृङ्गार शब्द निष्पन्न होता है । इसके विष्णु देवता हैं । वर्ण इसका श्याम है[24] ।

आचार्य विश्वनाथ ने एक विलक्षण बात कही कि करुण विप्रलम्भ भी एक रस है[25]। नायक और नायिका में एक का लोकान्तर अर्थात् देहावसान हो जाय पुन: प्राप्त न होने के कारण आकुलता उत्पन्न होती हो प्राण वियोग हो जाने पर शोक मिश्रित जहाँ रति पुष्ट हो वहाँ करुण विप्रलम्भ रस होता है । मिलने की आशा का अभाव होने से केवल शोक ही जहाँ स्थायी भाव हो वहाँ रति के नष्ट होने से उत्कट शोक सम्भावित होने से करुण ही होता है ।

बाणभट्ट प्रणीत कादम्बरी में पुण्डरीक महाश्वेता का वृत्तान्त करुण विप्रलम्भ है ।

2. **हास्य रस** - हास्य रस का वर्ण श्वेत तथा देवता शिव हैं। स्वाभाविक से विपरीत आकार चेष्टा हाथ चरण आदि का होना आलम्बन विभाव है । नेत्र का संकुचित होना, विशेष पुरुष चेष्टादि जिससे जन वर्ग अधिक हँसने में प्रवृत्त हो वह उद्दीपन विभाव बनता है। नेत्र मुद्रित करना, मुख को छिपाना, कपोल आदि का फुलाना अनुभाव है । निद्रा, आलस्य, मनोवृत्ति को छिपाना, श्रम आदि व्यभिचारी भाव है । हास इसका स्थायी भाव है । यह रस उत्तम मध्यम अधम प्रकृत भेद से छ: प्रकार का होता है । उत्तम व्यक्तियों में हसित जिसमें अधर में कुछ गति प्रतीत हो तथा थोड़े-थोड़े दाँत दीखते हों, जिसमें नेत्र कुछ विकसित हों उन्हें हसित कहते हैं । स्मित (मुस्कुराहट) जिसमें कपोल भाग आदि रोमांचित रहते हैं । इससे अधिक हास्य का स्वरूप उत्तम प्रकृति के विरुद्ध माना गया है ।

मध्यम प्रकृति में विहसित-अवहसित ये दो भेद कहे गये हैं । जिसमें मधुर स्वर होते हों उसे विहसित, जिसमें कन्धा मस्तक भाग कम्पन युक्त हों उसे अवहसित कहते हैं । अधम प्रकृति में अपहसित तथा अतिहसित हास्य के रूप होते हैं । अपहसित में ठहाकर हँसना और नेत्र का आँसुओं से भर जाना शरीर का हास्य वश इधर-उधर उत्थित होने की क्रिया है, तथा अङ्ग का इधर उधर से संचालन आदि अतिहसित है[?]।

3. **करुण रस** - जहाँ अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति को करुण रस में विभाव माना गया है । शोचनीय नष्ट पुत्र धनादि आलम्बन विभाव होते हैं । दाहादिक अवस्था उद्दीपन विभाव बनता है । शोक इस रस का स्थायी भाव है । यम इसके देवता हैं । कपोत वर्ण (मलिन-वर्ण) इसका रंग माना गया है क्योंकि शोक पाप से ही उत्पन्न होता है और पाप का स्वरूप कवि समय (ख्याति) के आधार पर 'मालिन्यं व्योम्नि पापे' (सा द. सप्तम परिच्छेद) मलिन माना गया है । दैवनिन्दा, भाग्यनिन्दा, पृथ्वी पर गिरना, चिल्लाना, व्यथा जनक शब्दोच्चारण आदि इसके अनुभाव हैं । निर्वेद, मोह आदि इसके व्याभिचारी भाव हैं ।

करुण विप्रलम्भ से इस करुण का भेद यह है कि करुण में स्थायीभाव शोक होता है जबकि करुण विप्रलम्भ में पुनः संयोग हेतुक रतिभाव ही स्थायी बनता है[28] ।

4. **रौद्र रस** - रौद्र रस का रक्त वर्ण, रुद्र देवता कहा है । क्रोध इसका स्थायी भाव है। शत्रु आदि आलम्बन विभाव, शत्रु आदि की चेष्टाएँ मुष्टिक प्रहार, गिरना, अङ्ग छेदन, विदारण आदि उद्दीपन विभाव हैं । भौहों का चढ़ना, ओष्ठ फड़फड़ाना, ताढ़ी ठोकना इसके अनुभाव हैं । उग्रता, रोमांच, कम्पन, मोह, उनमर्ष आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं[29] । यद्यपि रौद्र और युद्धवीर में शत्रु ही आलम्बन विभाव होता है इसीलिये एकता की प्रतीति होती है । परन्तु फिर भी इन दोनों में भेद है । क्योंकि रौद्र रस में आँख, मुख रक्त होते हैं तथा क्रोध स्थायी भाव है । जबकि वीर का स्थायी भाव उत्साह है[30]।

5. **वीर रस** - वीर रस के महेन्द्र देवता हैं, वर्ण सुवर्ण माना गया है । विजेतव्य पदार्थ आलम्बन विभाव है तथा विजेतव्यादि की चेष्टा उद्दीपन है । सहायकों का खोजना अनुभाव है । धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांच आदि व्यभिचारी भाव हैं । यह दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर, दयावीर के भेद से चार प्रकार का माना गया है[31] ।

6. **भयानक रस** - इस रस का देवता भूत है परन्तु कालाधिदेवतः यह पाठान्तर भी मिलता है । इसलिये काल यम भी इसके देवता कहे जाते हैं । वह प्राणिमात्र के मृत्युजनक हैं । उन्हीं के द्वारा भय उत्पन्न होने से ऐसा माना गया है । इसका वर्ण श्याम है । भय स्थायी भाव है । नीच जन अधम प्रकृति स्त्री आदि इसमें नायक होते हैं । जिससे भय उत्पन्न होता हो ऐसे इसमें आलम्बन विभाव बनते हैं । इनकी भयंकर चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव बन जाते हैं । मालिन्य, लड़खड़ाते हुए शब्द से बोलना, चेष्टाओं का लुप्त होना पसीना आ जाना, रोमांच उठना, कम्पन, दिशाओं की ओर देखना आदि अनुभाव हैं । जुगुप्सा, आवेग, भ्रान्ति, मृत्यु आदि व्यभिचारी भाव बनते हैं[32] ।

7. **बीभत्स रस** - बीभत्स रस के महाकाल देवता हैं । इसका नील वर्ण अर्थात् धूम्र वर्ण स्वीकार किया गया है । नीलवर्ण का अर्थ धूम्र वर्ण होना है 'महाकालं यजेद्देव्या दक्षिणे धूम्रवर्णकम्' इस स्मृति वचन से परिपुष्ट है । जुगुप्सा स्थायी भाव है । दुर्गन्ध, मांस, रुधिर, मेदा आलम्बन विभाव होते हैं; उन्हीं वस्तुओं में कृमि पड़ जाना आदि उद्दीपन विभाव कहा गया है । थूकना मुख का ढकना, नेत्र संकोच वमन आदि इसमें अनुभाव होते हैं । मोह, अपस्मार स्मृति, आवेग, व्याधि मरण, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव कहे गये हैं[33] ।

8. **अद्भुत रस** - इस रस के गन्धर्व देवता हैं । भरत मुनि ने अद्भुत रस को ब्रह्मदेवत एवं पीतवर्ण बताया है । गन्धर्वों के पीत वर्ण होने से पीत स्वरूप कहा गया । अलौकिक वर्ण इन्द्रजालादि आलम्बन विभाव एवं गुणों का महत्व वर्णन उद्दीपन विभाव होता है।

जड़ता, पसीना आना, रोमांच, गद्गद् वाणी, वेग, नेत्र आदि का फैलना, निर्निमेष देखना ये सब अनुभाव माने गये हैं । वितर्क, आवेग, सम्भ्रान्ति, हर्ष, उत्सुकता आदि व्यभिचारी भाव हैं[34] ।

9. **शान्त रस** - शान्त रस के देवता लक्ष्मी नारायण हैं । माघीपुष्प, चन्द्रमा आदि के समान इसका शक्ल निर्मल वर्ण कहा गया है । भागवत में भी भगवान् के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है "शुक्लोरक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ।" इस कथन से सत्ययुग में महाविष्णु का शुद्ध रूप व्यक्त होता है । "तत्र सत्वंनिर्मलत्वात्प्रकाशकर्मिति ।" इस गीता के कथन से भी शम का जनक सत्वगुण, शुद्ध वर्ण स्फटिक के सदृश प्रकाशक होने से शान्त का भी शुभ्र वर्ण होना उचित ही है । यह सारा संसार अनित्य अर्थात् अवश्य विनाशी है । आत्मज्ञान का बाधक है । समग्र वित्त पुत्र मित्र कलत्र आदि पदार्थ निःसार हैं इत्यादि तथा परमात्मस्वरूप इसके आलम्बन विभाव रूप में कहे गये हैं । पवित्र आश्रम चित्रकूट आदि श्री क्षेत्र आदि तीर्थ रम्य वन नैमिषारण्य आदि एवं वैद्यनाथ आदि धाम तथा महापुरुषों की संगति इसके उद्दीपन विभाव हैं । मोक्षोत्पादक रोमांच दया सन्यास आदि इसके अनुभाव हैं एवं निर्वेद हर्ष स्मरण मति सम्पूर्ण जन्तुओं के प्रति दया धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं शम इस रस का स्थायी भाव है

10 **वात्सल्य रस** - इन सबों के अतिरिक्त भरत मुनि ने वात्सल्य रस का प्रतिपादन किया है । इसी अनुरोध से साहित्यदर्पणकार ने भी वात्सल्य रस को व्यक्त किया है ।

वात्सल्य रस की देवता लोक मातायें मानी गया हैं जो गौर्यादि षोडश मातृका रूप में प्रसिद्ध हैं । वर्ण कमल कोश के समान कान्त अर्थात् शुभ्रपात के सदृश है क्योंकि लोक मातायें इसी रूप की हैं । पुत्र अनुज एवं अनुज पुत्र आदि इसके आलम्बन विभाव हैं इनकी चेष्टायें क्रीड़ा कूदना हास्य विद्या शास्त्रादिक ज्ञान शूरता अभ्युदय धनोपार्जनादि एवं सेवादि उद्दीपन विभाव हैं । आलिङ्गन अङ्ग स्पर्श शिर चुम्बन देखना रोमांच आनन्दाश्रु हर्षाश्रु वस्त्र भूषण दानादि अनुभाव कहे गये हैं । अनिष्ट की शंका हर्ष एवं धैर्यादि इसके व्यभिचारी भाव हैं वत्सलता स्नेह इसका स्थायीभाव है[35]

रसाभास एवं भावाभास:

रस एवं भाव के अनुचित प्रवृत्ति को रसाभास एवं भावाभास कहते हैं यह अनौचित्य लोक विरुद्ध एवं शास्त्रादि विरुद्ध होने में माना गया है । तात्पर्य यह है कि अनुचित विभाव के आलम्बन होने से रसाभास एवं अनुचित विषय के होने से भावाभास होता है अनौचित्य का निरूपण भरत आदि मुनि प्रणीत रस एवं भाव की सामग्री से रहित होने से स्पष्ट किया गया है ।

साहित्यदर्पणकार ने भी इसे स्पष्ट किया है[36] । यदि रति उपनायक में स्थित हो या

मुनि या गुरु की पत्नी में स्थित हो अथवा बहुनायक विषयक हो अथवा नायक - नायिका दोनों में न रहती हो अथवा प्रतिनायक में स्थित हो इसी प्रकार अधम पात्र अथवा तिर्यग् योनि सम्बन्धी रति हो तो शृङ्गार में अनौचित्य होगा । इसी प्रकार रौद्र रस में गुरु आदि महान् व्यक्तियों में कोप की स्थिति हो तो अनौचित्य होगा । शान्त रस में शम गुण हीन अधम जातिगत शान्त रस का वर्णन हो तो भी अनौचित्य है, क्योंकि ऐसे पात्र में शमतत्त्व ज्ञान सम्भव नहीं है । गुरुपिता आदि जिसमें आलम्बन हों ऐसे हास्य रस में भी अनौचित्य ही भासमान होगा क्योंकि ऐसा आलम्बन धर्मशास्त्र से निषिद्ध होने के कारण अयोग्य माना गया है । ऐसे ही वीर रस में ब्राह्मण वध एवं पिता आदि का वध तथा अनाधिकारी के प्रति दान दया का वर्णन एवं कृत्रिम धर्म के प्रति उत्साह प्रगट करना यह अनौचित्य होगा । क्योंकि इस प्रकार का उत्साह प्रगट करना यह अनौचित्य होगा । क्योंकि इस प्रकार का उत्साह धर्मशास्त्र से निषिद्ध होने के कारण आलम्बन अयोग्य होता है । ऐसे ही अधम पात्र में उत्साह के वर्णन पर भी अनौचित्य है । ऐसे ही भयानक रस के निरूपण में उत्तम पात्र में भय की स्थिति दिखाने पर अनौचित्य है क्योंकि ऐसे पात्र में भय की स्थिति सम्भव न होने से तद्विषयक आलम्बन अयोग्य होगा ।

वेश्या आदि में लज्जा का वणन एवं अनुराग आदि विषय दिखाने पर भावाभास होगा। इसी प्रकार अनुचित चिन्ता दिखाने पर भावाभास है, जिसका उदाहरण आचार्य मम्मट ने सीता को लक्ष्य कर रावण की उक्तियों में दिखाया है । यहाँ सीता का अनुराग रावण में नहीं है तथापि रावण द्वारा सीता की प्राप्ति हेतु अनुचित विषय की चिन्ता को व्यक्त करने से अनुचित रति है । यथा

> **"राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।**
> **तत्किं करोमि विदधे कयमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥**
> **– काव्य प्रकाश चतुर्थ उल्लास**

जयोदय महाकाव्य में रस – विमर्श

ब्रह्मचारी पण्डित भूरामल जी शास्त्री प्रणीत जयोदय महाकाव्य 28 सर्गों में निबद्ध है उसमें प्रायः सभी रसों का सन्निवेश हुआ है ।

शृङ्गार रस –

जयकुमार का सुलोचना के साथ प्रेममयी वार्ता के विस्तृत वर्णन प्रसङ्ग में यह ज्ञात होता है कि वह सब प्रकार से जयकुमार के लिये प्रिय बनी। देवाराधन के समय वही सभी सामग्रियों को देती थी । प्रजाहित के हेतु जब वह पथिक बनता था तो सुलोचना उचित सम्मति देती थी । जगत् में प्रकाश के लिये जब जय दीपक होते थे तो सुलोचना समीप में आभा बनकर शोभा देती थी । दीपक और आभा का सम्बन्ध शाश्वत है । सुलोचना और जयकुमार

का सम्बन्ध भी शाश्वत है । बिना दीपक के प्रभा नहीं और प्रभा दीपक से अतिरिक्त में सम्भव नहीं । नर शिरोमणि जयकुमार यदि निष्पाप रहा तो वह भी सदाचार में गुणों परायण थी । यथा -

"जगदुद्योतनाय सति दीपे साभासा भाति स्म समीपे ।
नरशिरोमणिर्भुवि निष्पापः सापि सदाचरणे गुणमाप ।।"[38]

इसी प्रकार एक और उदाहरण देखिये -

"न स्वप्नेऽपि हृदौज्झि कदाचिन्नतभ्रुवः कथमस्तु स वाचि ।
कर्मणा तु विनयैकभुजापि व्यत्ययेन यज इत्यथवापि ।।"[39]

उक्त श्लोक में भी जयकुमार और सुलोचना का अक्षुण्ण प्रेम दिखाया गया है -

स्वप्न में भी वह जयकुमार सुन्दरी सुलोचना के हृदय से कभी पृथक् नहीं हुआ । वाणी से (शब्द से) पृथक् होने की तो बात ही क्या है? विनय मात्र कृति में तत्पर रहने वाली सुलोचना के हृदय से भला वह अलग (पृथक्) कैसे जा सकता है ।

उपर्युक्त श्लोकों में परस्पर जयकुमार एवं सुलोचना एक दूसरे के प्रति आलम्बन हैं तथा उनकी मनोवृत्ति का मिलना उद्दीपन है । मधुर बोलना आदि अनुभाव है तथा धैर्य, स्मृति आदि व्यभिचारी हैं । इस प्रकार स्थायी भाव रति के द्वारा शृङ्गार रस निष्पन्न होता है ।

तेइसवें सर्ग में भी शृङ्गार पोषक श्लोक मिलते हैं । एक स्थल पर कहा गया है कि मृगाक्षी सुलोचना के मधुर कान्ति, हास्य (विकास) से भरे हुए मुख कमल में भ्रमरवत् जय आसक्त हो गया । उसी प्रकार सुलोचना भी उसके निर्मल चरण कमलों में अपने नेत्र से विशेषत: देखती हुई सुशोभित हुई । जिसका उल्लेख कवि ने मनोरम ढंग से किया है । यथा-

"मुखारविन्दे शुचिहासकेशरेऽलिवत्स मुग्धो मधुरे मृगीदृशः ।
प्रसन्नयोः पादसरोजयोर्दृशं विशेष्य पद्मापि जयस्य सम्बभौ ।।"[40]

इस पद्य में सुलोचना आलम्बन विभाव तथा पवित्र मुस्कुराहट एवं माधुर्य से भरा मुख कमल उद्दीपन है । सच्चे अनुराग को प्रगट करने वाली सुलोचना का नेत्र उसके चरण कमलों में पड़े हैं, अनुभाव है । हास्य संचारी भाव है । रति स्थायी भाव होने से शृङ्गार रस पुष्ट हो रहा है ।

हास्य रस –

जयोदय महाकाव्य के द्वादश सर्ग में महाराज अकम्पन के यहाँ जयकुमार के विवाह प्रसङ्ग के अवसर पर जब बाराती भोजन करने के लिये प्रवृत्त होते हैं उस काल में हास्य का मनोरम निरूपण किया गया है ।

परोसने वाली सुन्दरियाँ उपस्थित थीं । एक सुन्दरी आम्र परोस रही थी । उससे बाराती

ने कहा कि मैं तुम्हारे आमों को दबाकर ही देख लूँ कि यह कैसे कोमल हैं। इस पर वह बोली कि हे भाग्यशालिन् ! चूस कर ही क्यों नहीं देख लेते।

यहाँ आम्र फल देने वाली स्त्री से दबाकर देखना कि यह कोमल है या कैसा है ? इसके सम्बन्ध में यह उत्तर देना कि चूस कर ही यह मधुर है या खट्ठा है, क्यों नहीं देख लेते। यह प्रत्युत्तर बाराती को मूर्ख बनाने की दृष्टि से कहा गया है अर्थात् मातृभाव को प्रगट कर बाराती को उस सुन्दरी ने मूक बना दिया। इस आशय की अनुपम छटा अवलोकनीय है -

"उपपीडनतोऽस्मि तन्वि भावादनुभूष्णुस्तवकाम्रकाम्रतां वा।
वत वीक्षत चूषणेन भागिन्निति सा प्राह च चूतदा शुभाङ्गी ॥"[141]

यहाँ पर आम्रफल को दबाकर कोमलता आदि के ज्ञान हेतु जो कहा गया है, वही आलम्बन विभाव है तथा उसकी ओर देखना उद्दीपन विभाव है। तदनुसार इच्छा करना, मुख का उस काल में फैलना, दाँत आदि का कुछ मुस्कुराहट के साथ दृश्य बन जाना अनुभाव है। मनोवृत्ति को तिरोहित रखना व्यभिचारी भाव है। हास्य इसका स्थायी भाव होने से हास्य रस निष्पन्न होता है।

इसी प्रकार हास्य रस की मनोरम व्यंजना द्रष्टव्य है -

"तव सम्मुखमस्म्यहं पिपासुः सुदतीत्थं गदितापि मुग्धिकाशु।
कलशीं समुपाहरत्तु यावत् स्मितपुष्पैरियमञ्चितापि तावत् ॥"[142]

अर्थात् एक बाराती मुग्धा सुन्दरी से कहता है कि तुम्हारे समक्ष मैं प्यासा पड़ा हुआ हूँ। ऐसा कहने पर वह सुन्दरी शीघ्र जल का कलश उठा लायी यह देखकर वह युवक मुस्कुराहट से भर गया तथा वह मुग्धा भी रोमांचित हो गयी। यथा -

इसमें मुग्धा सुन्दरी द्वारा जल कलश का दर्शन आलम्बन विभाव है तथा समीप में लाना उद्दीपन विभाव है। रोमांचित होना तथा मुख का विकसित होना अनुभाव है मनोवृत्ति का तिरोहित होना व्यभिचारी भाव है। हास्य स्थायीभाव होने से हास रस की मनोरम व्यंजना है।

किसी बराती को पसीना आ गया। कोई युवती यह देखकर समझी कि इसे गर्मी के कारण पसीना उत्पन्न हुआ है। ऐसा सोचकर वह विजन (पंखा) संचालन करने लगी। ऐसा देखकर वह बाराती भी गर्मी का बहाना कर अपने मुख को ऊँचा कर लज्जा को त्यागकर सहर्ष उसके मुख को देखने लगा। इसका मनोरम वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है -

"अपि सात्त्विकसिप्रभागुदीक्ष्य व्यजनं कोऽपि विधुन्वतीं सहर्षः।
कलितोष्ममिषोऽभ्युदस्तवस्त्रो ह्रियमुज्झित्य तदाननं ददर्श ॥"[143]

इसमें सात्त्विक स्वेदोद्गम की गर्मी के कारण उत्पन्न हुआ समझना आलम्बन विभाव है एवं पंखे का संचालन उद्दीपन है। मुख को ऊपर करना आदि अनुभाव है। मनोवृत्ति को छिपाना व्यभिचारी भाव है। इस प्रकार हास्य स्थायी भाव होने से वह युवती उपहास का पात्र बनी। इस प्रकार हास्य रस का निदर्शन रम्य है।

इस तरह से अन्य स्थलों में भी हास्य रस का अभिव्यंजन द्रष्टव्य है। उदाहरणान्तर-

''निक्षिप्तकिञ्चित्प्रकरं निवासं विस्मृत्य गच्छन्नितरेतरेषु ।
युनां स हासैक निमित्तमास्तावशिष्टभारोद्वहनाकुलस्मन् ॥''[44]

जिस समय गंगा के किनारे जयकुमार का सैनिक शिविर बन रहा था उसमें सैनिक गण स्थानों का चयनकर निवास हेतु प्रयत्न कर रहे थे। उसी समय एक सैनिक शीघ्रता के साथ एक तम्बू में अपने कुछ सामानों को रखकर पुनः और सामान लेकर उस तम्बू को ढुँढते हुए बोझों से बोझिल होकर इधर-उधर भटकने लगा। इस कारण वह अन्य तरुण सैनिकों के उपहास का कारण बन गया।

यहाँ पर पुनः सामान लेकर भ्रान्त व्यक्ति का भ्रमण आलम्बन विभाव है तथा इधर-उधर भटकना एवं आकुलता उद्दीपन विभाव है। आकुल होना अनुभाव है। श्रम अदि व्यभिचारी भाव है। हास स्थायी भाव होने से हास्य रस निष्पन्न होता है।

करुण रस –

महाकवि प्रणीत जयोदय महाकाव्य इस रस से अछूता नहीं है। यथा-

''मृताङ्गनानेत्रपयःप्रवाहो मदाम्भसा वा करिणां तदाहो ।
योऽभूच्चयोऽदोऽस्ति ममानुमानमुद्गीयतेऽसौ यमुनाभिधानः ॥''[45]

उस युद्ध भूमि में मरे हुए शत्रुवीरों की स्त्रियों के अश्रुजल प्रवाह अथवा हाथियों का मदजल समूह का प्रवाह बह रहा था वह ऐसा प्रतीत होता था मानो आज भी वही यमुना के नाम से कहा जाता है।

यहाँ पर मृत शत्रु आलम्बन विभाव है उनका दर्शन उद्दीपन है उनकी पत्नियों के नेत्र से अश्रु प्रवाह का निकलना अनुभाव है। आक्षिप्त चिन्ता व्यभिचारी भाव है और शोक स्थायी भाव होने से करुण रस निष्पन्न हो रहा है।

रौद्र रस –

रौद्र रस के वर्णन में सिद्धहस्त महाकवि का महाकाव्य जयोदय इस रस से वंचित नहीं है। सप्तम सर्ग में माल्यार्पण देखकर अर्ककीर्ति क्रुद्ध होकर युद्ध की घोषणा करता है। मन्त्रियों द्वारा समझाये जाने के प्रसङ्ग में इस रस की मनोरमता देखी जा सकती है -

''क्षमायामस्तु विश्राम: श्रमणानां तु भो गुण ।

सुराजां राजते वंश्यः स्वयं माऽचकमूर्धनि ॥''[46]

मन्त्रियों द्वारा समझाये जाने के अनन्तर अर्ककीर्ति इस प्रकार बोला कि हे मंत्रिन् । सुनो, क्षमाशील होना, त्यागी (संन्यासियों) का काम है, क्षत्रियों का पुत्र तो अपने बल द्वारा सिंहासन के शिषर पर आरूढ़ होना है ।

इस पद्य में मन में विराजमान जयकुमार विभाव है । सुलोचना द्वारा माल्यार्पण उद्दीपन है । सहनशीलता का अभाव व्यक्त करना अनुभाव है अर्थात् प्रतिकार के लिये प्रवृत्त होना अनुभाव है इर्ष्या आदि संचारी भाव है । जयकुमार विषयक अर्ककीर्ति में व्यंजना से बोध्य क्रोध स्थायीभाव है । इसके अतिरिक्त यहाँ 'क्ष', 'त्र' 'ष्य' आदि वर्णो का विन्यास ओजोगुण को निष्पन्न करता है जो रौद्र का पोषक है ।

इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी इस रस की छटा दर्शनीय है ।

यथा -

''विनयो नयवत्येवाऽतिनये तु गुरावपि ।
प्रमापणं जनः पश्येन्नीतिरेवगुरुः सताम् ॥

स्वयंवरं वरं वर्त्म जाने नानेन मे ग्रहः ।
किन्तु मन्तुमिदं ग्राह्यतया कारितवान् कुधीः ॥''[47]

अर्थात् विनयशील होना नीतिज्ञों की बात है नीति त्याग कर चलने वाला गुरु भी (महान् भी) पूज्य ही क्यों न हो । परन्तु स्वाभिमानी व्यक्ति उसके मृत्यु को ही देखता है क्योंकि नीति ही सबकी गुरु है ।

स्वयंवर समीचीन मार्ग है मैं यह समझता हूँ इससे मेरा कोई विरोध नहीं किन्तु यह स्वयंवर नहीं हुआ है यह तो दुर्बुद्धि अकम्पन ने अपने दुराग्रह से इस वर का वरण कराया है ।

उपर्युक्त कथनों में सुलोचना के द्वारा जयकुमार को माल्यार्पण आलम्बन विभाव है तथा सुलोचना के साथ जयकुमार का निर्णित सम्बन्ध उद्दीपन विभाव है । पूज्य का अनादर अनुभाव है । ईर्ष्या व्यभिचारी भाव है एवं क्रोध स्थायी भाव होने से रौद्र रस निष्पन्न है।

इसी प्रकार आगे भी वही कहता है कि जयकुमार साधारण राजाओं को जीतकर भी क्या वास्तविक विजयी हो सकता है । हाथी यद्यपि अन्य पशुओं से बड़ा है तथापि क्या वह सिंह शावक की तुलना में आ सकता है । इस आशय की झलक अनुपमेय है -

''साधारणधराधीशाञ् जित्वाऽपि स जयः कुतः ।
द्विपेन्द्रो नु मृगेन्द्रस्य सुतेन तुलनामियात् ॥''[48]

इसी प्रकार आगे भी कथन है कि - मुझे सुलोचना से कोई प्रयोजन नहीं फिर भी

मेरा पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं है। क्योंकि न -- ॥ चाहते हैं वे सतत कपट भाव कर विरोध करते हैं। वही मैं कर रहा हूँ। यथा-

''नो मुलोचनया नोऽर्थो व्यर्थमेव न पौरुषम् ।
द्व्यर्थभावविरोधार्थ कर्म शर्मवतां मतम् ॥''49

यहाँ जय आलम्बन विभाव, साधारण नृपतियों को जीत लेने का कुल वृत्तान्त उद्दीपन विभाव है। प्रतिकार के लिये उद्यत होना (आक्षेप) अनुभाव है। जीत लेने मात्र से विजय, विजय नहीं हो सकती यह कथन ईर्ष्यापूर्ण व्यभिचारी भाव है। क्रोध स्थायी भाव होने से रौद्ररस निष्पन्न होता है। जय हमारे तुलना में नहीं आ सकता यह गर्व रौद्र को पुष्ट करता है।

वीर रस –

प्रकृत महाकाव्य वीर रस से ओतप्रोत है। वीर रस के प्रयोग में सिद्धहस्त कवि की पंक्ति प्रस्तुत है -

''समुद्ययौ संगजगं गजस्थः पत्तिः पदातिं रथिनं रथस्थः ।
अश्वस्थितोऽश्वाधिगतं समिद्धं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥''50

अर्थात् उस युद्ध में गजाधिप के साथ गजाधिप, पदाति के साथ पदाति, रथारूढ़ के साथ रथारूढ़ और घुड़सवार के साथ घुड़सवार जूझ पड़े। इस तरह अपने-अपने समान प्रतिस्पर्धी के साथ भयंकर युद्ध हुआ।

यहाँ पर सुलोचना स्वयंवर आलम्बन विभाव है। युद्ध में गजारोही, अश्वारोही, रथी एवं पदाति का पारस्परिक निदर्शन उद्दीपन विभाव है। तुल्य प्रतिद्वन्दिता के साथ युद्ध, शस्त्रास्त्रों की ध्वनि और युद्धार्थ उद्यत होना यानी प्रस्थान करना अनुभाव है एवं आक्षिप्त क्रोध व्यभिचारी भाव है। इस प्रकार उत्साह स्थायी भाव की पुष्टि होने से वीर रस निष्पन्न होता है।

इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी इसका रम्य प्रयोग हुआ है। जैसे-

उस युद्ध में क्रुद्ध किसी भयंकर मदमस्त हाथी ने किसी एक प्यादे का एक पैर अपने पैर के नीचे दबाकर दूसरा पैर सूँड़ में पकड़ लकड़ी की तरह चीर दिया।

दूसरी किसी हाथी ने अपने बहुत लम्बे दाँतों द्वारा उस जघन्य हाथी को वेग के साथ उठाकर दाँतों के मध्य पकड़ लिया। मानो ऐसा प्रतीत हो रहा था कि किसी पर्वत के शिखर पर मेघ ही आकर बैठा हो। इन आशयों का रम्य रूप अवधेयार्थ है -

''जङ्घामथाक्रम्य पदेन दानधरस्तदन्यां तरसा ददानः ।
विदारयामास करेण पत्तिं सुदारुणो दारुवदेव दन्ती ॥
उत्क्षिप्य वेगेन तु तं जघन्यद्विपं रदाभ्यामपि दन्तुरोऽन्यः ।

शृङ्गाग्रलग्नाम्बुधरस्य शोभां गिरेर्दधानः खलु तेन सोऽभात् ॥''[51]

इसी प्रकार वीर रस की अनुपम छटा अन्य स्थलों में भी रम्य है जिसका अधोलिखित उदाहरण अवलोकनीय है -

''समुत्स्फुरद्विक्रमयोरखण्डवृत्त्या तदाश्चर्यकरः प्रचण्डः ।
रणोऽनणीयाननयो रभाद्वै सदीव्यशस्त्रप्रतिशस्त्रभावैः ॥''[52]

अर्थात् जयकुमार की ओर से विद्याधर मेघप्रभ (विद्याधर) एवं अर्ककीर्ति के पक्ष से मुनमि जो दोनों युद्ध के लिये उद्यत हुये दिव्य शस्त्र और प्रतिदिव्यशस्त्रों के द्वारा महान् आश्चर्योत्पादक प्रचण्ड युद्ध हुआ ।

यहाँ पर जयकुमार एवं अर्ककीर्ति का आदेश आलम्बन विभाव है, एवं युद्ध में पहुँचना एक दूसरे को देखना उद्दीपन विभाव है । अखण्ड वृत्ति से युद्धार्थ प्रवृत्त होना अनुभाव है। पारस्परिक शौर्यपूर्ण क्रोध व्यभिचारी भाव है तथा उत्साह स्थायीभाव होने से वीर रस की मनोरम झाँकी निष्पन्न होती है ।

भयानक रस –

अकम्पन यह समाचार सुनकर हृदय से काँप उठा और उसने सभा में मन्त्रियों के समुदाय को बुलाया । कारण झगड़े की बात सुनकर उसके मन में व्यथा पैदा हो गयी । ठीक ही है, क्या कभी कोई पथिक उचित मार्ग से हट सकता है । इस आशय का वर्णन महाकवि ने अनुरेखित रूप में किया है -

''प्राप्य कम्पनमकम्पनो हृदि मन्त्रिणां गणमवाप संसदि ।
विग्रहग्रहसमुत्थितव्यथः पान्थ उच्चलति किं कदा पथः ॥''[53]

बीभत्स रस –

जयोदय महाकाव्य में बीभत्स रस का प्रयोग महाकवि की प्रतिभा का परिचायक है। यथा -

''अप्राणकैः प्राणभृतां प्रतीकैरमानि चाजिः प्रतता सतीकैः ।
अभीष्टसंभारवती विशालाऽसौ विश्वस्रष्टुः खलु शिल्पशाला ॥''[54]

अर्थात् रणभूमि में हताहत जिनके प्राण निकल गये हैं ऐसे योद्धाओं के हाथ चरण सिर से भरी हुई वह युद्ध-भूमि प्राणियों की इच्छाओं को पूर्ण करने वाली ऐसी प्रतीत होती थी कि जगत् निर्माता विधाता की शिल्पशाला है ।

यहाँ पर कटे हुए हाथ, पैर, सिर आदि आलम्बन विभाव हैं । इसका दर्शन उद्दीपन विभाव है । इसे देखकर दूर हटना अनुभाव है । स्मृति शून्यता मोह व्यभिचारी भाव है एवं जुगुप्सा (घृणा) स्थायी भाव होने से बीभत्स रस निष्पन्न होता है ।

इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी मनोरम रूप मिलता है - उस युद्ध भूमि में मांस खाने की इच्छा किया हुआ पक्षियों का समूह उस समय आ पहुँचा । शवों पर बैठे हुए वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो फुत्कार करके उनके प्राण ही निकल रहे हों । इस भाव का निदर्शन महाकवि के शब्दों में देखने योग्य है -

''पित्मत्सपक्षाः पिशिताशनायायान्तस्तदानीं समरोर्वरायाम् ।
चगश्च फुत्कारपगः शवानां प्राणा इवाभुः परितः प्रतानाः ॥''[55]

यहाँ शव दर्शन आलम्बन विभाव है उन पर पक्षियों का मँडराना या बैठना उद्दीपन विभाव है तथा मांस भक्षण उन्हें देखकर आँखे बन्द करना, दूर हटना आदि अनुभाव है । मोह व्यभिचारी भाव है एवं जुगुप्सा स्थायी भाव होने से बीभत्स रस निष्पन्न हुआ है ।

अद्‌भुत रस -

तेइसवें सर्ग में जयकुमार - सुलोचना के पूर्व जन्म का स्मरण अवधिज्ञान मुर्च्छित होना आदि का वर्णन किया गया है । पूर्व जन्म की विद्या भी इन्हें प्राप्त हो जाती है । तदनन्तर प्रेममयी वार्ता का विस्तृत वर्णन इस सर्ग में दिखाया गया है । पूर्व जन्म स्मृति एवं कथांश का स्मरण अद्‌भुत रस का परिचायक है

जिस समय जयकुमार सुलोचना के साथ अपने प्रासाद पर चढ़कर वार्तालाप कर रहे थे उसी समय दम्पति ने आकाश मार्गगामी देव विमान को देखा । देखते ही पूर्वजन्म का स्मरण करते हुए इन दोनों को अवधि ज्ञान भी होता है तथा मुर्च्छित हो जाते हैं । प्रभावती ऐसा उच्चारण कर अपूर्व का भी अनुभव करते हैं जो महाकवि के शब्दों में प्रस्तुत है

''नभःसदां शर्मकरश्चरन्नरं विहायसा व्योमरथोवलोकितः ।
प्रभावतीत्युक्तवचा विचक्षणो मुमूर्च्छ जातिस्मरणं जयो व्रजन् ॥
जयोऽथ जातिस्मृतिमेव तां प्रियामलब्धपूर्वामिव सुन्दरीं श्रिया ।
किमेषु रन्तुं परदाभिदां ह्रिया बभार मूर्च्छामपि चावृतिक्रियाम् ॥''[56]

यहाँ पर देव विमान का दर्शन एवं प्रभावती रूप में ज्ञान होना आलम्बन विभाव है पूर्व जन्म स्मरण उद्दीपन विभाव है । मुर्च्छित होना अनुभाव है। चिन्ता आदि इच्छाएँ व्यभिचारी भाव है । विस्मय स्थायी भाव है । इस प्रकार अद्‌भुत रस की निष्पत्ति रम्य है ।

शान्त रस -

जयोदय महाकाव्य में आद्योपान्त सारतत्त्व रूप में शान्त रस का ही परिपाक है अस्तु. शान्त रस का मैं यहाँ प्रधान रस के रूप में विस्तृत विवरण देना अभीष्ट समझता हूँ ।

जयोदय महाकाव्य में प्रधान रस

वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री प्रणीत 'जयोदय महाकाव्य' में किस रस का परिपाक है। कौन अङ्गी और अङ्ग हैं, इसका विवेचन कठिन सा दीखता है आरम्भ में जयकुमार को मुनिराज का दर्शन मिलता है। मध्य में काशी नरेश अकम्पन की सुन्दरी पुत्री सुलोचना के साथ पाणिग्रहण संस्कार का वर्णन। उसी काल में ही चक्रवर्ती सम्राट् भरत के पुत्र अर्ककीर्ति के साथ विग्रह एवं युद्ध क्षेत्र में उतरने का वर्णन भी है। चिरकाल यह विद्वेषाग्नि बैठी न रह जाय इस हेतु काशी नरेश अकम्पन ने अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला के साथ अर्ककीर्ति का तत्काल मण्डप में ही विवाह संस्कार सम्पन किया एवं दोनों दामादों की पारस्परिक शत्रुता को दूर कर प्रेम सूत्र को जोड़कर द्वेष भाव को दूर किया। इसकी सूचना सम्राट् भरत के पास दूत द्वारा भेजी जाती है। विवाहमहोत्सवानन्तर घर के लिये प्रस्थान का वर्णन तदनन्तर भवन में पहुँचने पर गार्हस्थ्य जीवन का अनुपम सुख, पुत्र प्राप्ति, समयानुसार पुत्र का राज्याभिषेक, राज्य भार पुत्र को सौंप कर जिनेन्द्र भगवान् की उपासना में तत्परता एवं मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति हेतु उपकरणों का वर्णन किया गया है, जिससे पर्यवसान में शान्त रस की ओर ही उन्मुखता दिखायी देती है। शृङ्गार से विमुखता का भान होता है। आरम्भ में महाकवि ने मंगलाचरण में भी 'स्वाभ्युदयाय' जयोदय का निर्माण करता हूँ, ऐसा लिखा है तथा 'स्वाभ्युदयाय' शब्द श्लेष के द्वारा 'स्वरूप आत्मन: अभ्युदय: यस्य स:' इस प्रकार स्वाभ्युदय सम्बोधनान्त बनकर और 'अय' प्रशस्त विधिअर्थ को देने के लिये प्रयुक्त है। तथा 'भुक्त्या', 'ईशानं' पद के द्वारा मुक्ति के स्वामी जिन को श्रद्धापूर्वक अपने कल्याण हेतु नमस्कार दिखाया गया है। मुक्ति के स्वामी को नमस्कार करने का अभिप्राय व्यक्त करता है कि चारों पुरुषार्थों में मुक्ति को परम नि:श्रेयस समझ कर उस ओर प्रवृत्त कराने की इच्छा प्रतीत होती है।

प्रथम सर्ग के तृतीय श्लोक में यह भी व्यक्त है कि अमृत प्राप्ति कामरूप मात्र एक पुरुषार्थ को प्रदान करना है तथा जयोदय की कथा चारों पुरुषार्थों को प्रदान करती है। यथा

> **"कथाप्यथामुष्य यदि श्रुतारात्तथा वृथा माऽर्य सुधासुधारा ।**
> **कामैकदेशक्षरिणी सुधा सा कथा चतुर्वर्गनिसर्गवासा ॥"[57]**

इसी सर्ग के पंचम श्लोक में भगवान् के चरण कमल द्वय को 'शिवैकसद्मं' कहा गया है जो अनन्य कल्याण का अनन्य स्थान बताया गया है। 'शिवं कल्याणं तदेव एकमात्रम् अनन्यं सद्म स्थानं यस्य तत् शिवैक सद्म' यह चरण कमल द्वय का विशेषण शान्त रस को पुष्ट करने के लिये ही प्रयुक्त प्रतीत होता है। जयकुमार के चरणों के शरण में पहुँचने वाले व्यक्ति के लिये दिगम्बरत्व तथा उपवास की आवश्यकता नहीं पड़ती है। बिना भोगों के त्याग के ही व्यक्ति का दु:ख विमुक्त हो जाता है। यह वर्णन जयकुमार के महत्त्व प्रदर्शन हेतु प्रस्तुत है।

बगीचे में मुनिराज को देखकर सुन्दरी पाद प्रहार के बिना ही अशोक विकसित हो जाता है। यह वर्णन भी प्रशान्त चित्त शोक हीन मुनिराज के दिव्य सम्पत्ति की ओर संकेत करता है। जो रम्यरूप में अवलोकनीय है-

> "अशोक आलोक्य पतिं ह्यशोकं प्रशान्तचित्तं व्यकसत्सुरोकम्।
> रागेण राजीवदृशः समेतं पादप्रहारं स कुतः सहेत ॥"[58]

जिसके अन्तःकरण में ज्ञानरूप दीपक प्रकाशमान है। पाप विनाशक ऐसे मुनिराज को पाकर कदम्बवृक्ष जडता से शून्य हो पुष्पों से परिपूर्ण हो पुष्टता को प्राप्त हो रहा है। अर्थात् अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है। यह भी वर्णन मुनिराज के विभूति का प्रतीक ही है। यथा-

> "यस्यान्तरङ्गे ऽद्भुतबोधदीपः पापप्रतीपं तमुपेत्य नीपः।
> स्वयं हि नावज्जडताभ्यतीत उपैति पुष्टिं सुमनऽप्रतीतः ॥"[59]

यतिपति मुनिराज भय के शत्रु एवं निश्चल हैं। उनके अगणित गुण विश्व में व्याप्त हैं जो समादरणीय एवं संसार के नाशक (निवर्तक) बनाये गये हैं। यह उक्ति भी शान्ति की प्रारम्भिक भूमिका को सहयोग प्रदान करती है जो निम्न रूपों में बड़े ही मनोरम ढंग से चित्रित है

> "यतिपतेरचलादरदामरेः सुरुचिरा विचरन्ति चराचरे।
> अगणिताश्चगुणा गणनीयतामनुभवन्ति भवन्ति भवान्तकाः ॥"[60]

यतिवर (मुनि) को जगत् तिलक बताया गया है। तीनों लोकों के लिये तिलक की भाँति वे शिरोमणि हैं। यह संकेत भी उन्नत जीवन का परिचायक है। जिन्हें देखकर जयकुमार ने मनोमालिन्य का त्याग कर दिया अथात् अन्तःकरण से कालुष का परिणामभूत संकल्प विकल्पात्मकरूप का त्याग किया एवं अज्ञानान्धकार जयकुमार से दूर हुआ। अतएव प्रसन्नचित्त हो जगत् मित्र ऋषिराज के पास उस प्रकार पहुँचे जिस प्रकार चन्द्रमा कृष्णपक्ष को त्यागकर समुद्र को हर्षित करने वाला शुक्ल पक्ष को प्राप्त होता है। ऋषिराज का सम्पर्क जयकुमार के लिये केवल अभ्युदय का सूचक ही नहीं अपितु जीवन के दिव्यशान्ति सन्देश हेतु ही है। यथा

> "श्यामाशयं परित्यज्य राजा हर्षितमानसः।
> संश्रित्य जगतां मित्रं शुक्लं पक्षमिहाप्तवान् ॥"[61]

जयकुमार ने यह कहा कि हे भगवन्! आज आपके दर्शन से मैं पाप रहित हो रहा हूँ अतएव यह संसार समुद्र अब मेरे लिये चुल्लू के समान प्रतीत हो रहा है। अतएव मैं अगस्त ऋषि के साथ तादात्म्य प्राप्त कर रहा हूँ। यह कथन महाकवि ने अपने अभीष्ट ग्रन्थ में प्रसाद गुण सम्पन्न रम्य शब्दावलियों से कहा है -

"कलशोत्पत्तितादात्म्य मितोऽहं तव दर्शनात् ।
आगस्त्यक्तोऽस्मि संसारसागर श्चुलुकायते ॥"[62]

पुनश्च जयकुमार ऋषिराज से कहते हैं कि आप के परम पवित्र चरण धुलियों से यह मेरा मनोमन्दिर (मन: कुटीर) मनोरम हो रहा है । यह कथन अन्त:करण की निर्मलता का अर्थात् रजस एवं तमोगुण को अभिहतकर सत्वगुण के उद्रेक का परिचायक है । ऐसे ही आगे भी कहा गया है कि आपके चरणों का सम्पर्क पाकर यह जीवलोक निर्मल हो रहा है । मुनिराज से जयकुमार ने यह प्रार्थना की कि काम को नष्ट करने वाले महादानदाता, सत्यधर्मपरिपालक, जितेन्द्रिय क्षमाधारण करने वाले मुनिराज मुझे सन्मार्ग का उपदेश करें, जिससे सदा उदय बना रहे । इस कथन को कवि के शब्दों में बड़े ही सुन्दर रूपों में पस्तुत किया गया है ।

यथा-

"क्षतकाम महादान नय दासं सदायकम् ।
सत्यधर्ममयाऽवाममक्षमाक्ष क्षमाक्षक ॥"[63]

इस प्रकार "आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्" एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाना चाहिए। इस सिद्धान्त पर इस महाकाव्य में सर्वाधिक बल दिया गया है । पुनश्च जयकुमार ने कहा कि हे पवित्र मुनिराज ! दु:खपूर्ण ग्रह में रहने वाले हम गृहस्थों के लिये निर्दोष कर्तव्य कौन से हैं और कौन कौन से नहीं हैं । हे प्रशम्नचेष्टावाले ऋषिराज ! इस परिग्रहरूप घर में किसको शान्ति प्राप्त हुई है ? अर्थात् किसी को भी शान्ति नहीं मिली है। तथापि आपके चरणों के निकट रहने वाले व्यक्ति को विवेक प्राप्त हो ही जाता है यह मुझे अनुभव हो रहा है । गृहस्थ जीवन अपनाने पर शान्ति घर में नहीं मिलती इसलिए उसकी प्राप्ति हेतु ऋषिराज से अपना हार्दिक भाव जयकुमार ने व्यक्त किया है जो हृदयहारिणी पदावलियों में अंकित है

"ग्रन्थारम्भमये गेहे कं लोकं हे महेङ्गित ।
शान्तिर्याति तथाप्येनं विवेकस्य कलाऽतति ॥"[64]

द्वितीय सर्ग में जगत् के हितकर्ता जिन भगवान् को प्रणामकर मुनिराज गृहस्थों के हित हेतु उनके कल्याण प्रद कर्तव्य शास्त्र का उपदेश करते हैं । योग क्षेम हेतु अधिक बल देते हैं कि प्राप्त वस्तु की व्यवस्था और प्राप्तव्य के लिये उद्योगशील होने के लिये महात्माओं की श्रद्धा होती है। महात्मा लोग यद्यपि निश्चयात्मक वस्तु को ही हितकारक मानते हैं एवं व्यावहारिक नय को अहित कारक समझते हैं । तथापि व्यावहारिक नय पूर्वक ही निश्चयात्मक ज्ञान होता है । यथा-

"आत्मने हितमुशन्ति निश्चयं व्यावहारिकमुताहितं नयम् ।
विद्धि तं पुनरद: पुरस्सरं धान्यमस्ति न विना तृणोत्करम् ॥"[65]

यहाँ भी शान्तप्रद सुख की ओर संकेत है । एवं 'आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्' इस उक्ति की पुष्टि है । बिना गृहस्थ जीवन के पालन के विरक्त मार्ग को अपनाने वाले कहीं उन्मार्गगामी भी बन सकते हैं क्योंकि तेज पुंज के बिना भानु नहीं होता है । संसार व्यवहार ही नय (नीति) है । वही व्यवहार निश्चय से युक्त होने पर आर्षरीति कहलाती है । दोनों के परस्परेक्षण से सुपरिणाम उपस्थित होता है जिसका मनोरम चित्रण देखिये-

"लोकरीतिरितिनीतिरङ्किताऽऽर्षप्रणीतिरथ निर्णयाञ्चिता ।
एनयोः खलु परस्परेक्षणं सम्भवेत् सुपरिणामलक्षणम् ॥"[66]

यह उक्ति शान्त रस्य के दिव्य आनन्द की ओर संकेत करती है।

गृहस्थ पशुवत् आसन, व्यसन, बन्धन में पड़ता है । गृह भी भोग साधन है । गृहस्थ ही त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) का संग्राहक होता है । यह इसी सर्ग के इक्कीसवें श्लोक पर्यन्त कहकर अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की प्रशंसा बाइसवें श्लोक तक की गयी है । जो दर्शनीय है

"कर्मनिर्हरणकारणोद्यमः पौरुषोऽर्थ इति कथ्यतेऽन्तिमः ।
सत्स् तत्स्वकृतमात्रमातनः श्रावकेषु खलु पापहापनम् ॥"[67]

अर्थात् सकल कर्म क्षय हेतु तपस्वियों द्वारा विहित कर्ममात्र का नाशक गृहस्थों में पाप का नाशक अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष ही बनता है ।

इसी प्रकार अन्य स्थलों में कहा है

"श्रीजिनं तु मनसा सदोन्नयेतं च पर्वणि विशेषतोऽर्चयेत् ।
गेहिने हि जगतोऽनपायिनी भक्तिरेव खलु मुक्तिदायिनी ॥"[68]

यहाँ भक्ति ही मुक्ति की दायिनी है, यह संकेत किया गया है ।

इसी प्रकार अनेक स्थलों में एवं प्रत्येक सर्ग में शान्त रस का अनुपम प्रयोग दर्शनीय है । तीसरे सर्ग में उपयुक्त 'आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्' की प्राचीन उक्ति को सफल बनाने की दृष्टि से अग्रिम कथानक का उत्थान किया गया है काशी नरेश द्वारा जय के स्वागत में कही गयी उक्ति शान्त की समग्रता को व्यक्त कर रही है

"त्वदपरो जलबिन्दुरहं जनो जलनिधे मिलनाय पुनर्मनः ।
यदगमं भवतो भुवि भिन्नतां तदुपयामि सदैव हि खिन्नताम् ॥
तव ममापि समस्ति समानता स्वमुदधिर्मयि बिन्दुकताऽऽगता ।
पुनरपीह सदा सदृशा दशा भवति शक्तिरहो मयि किंन सा ॥"[69]

यहाँ विनम्रता का दर्शन है । परिणाम में वह शान्त को ही पुष्ट करता है नवम सर्ग का चतुर्दश श्लोक भी शान्त रस को पुष्ट करता है ।

"त्वमथ जीवनमप्यनुजीविनामिह कुतस्त्वदनुग्रहणं विना ।
मम समस्तु महीवलयेऽमृत शफरता पृथुरोमकताभृतः ॥"[70]

आगे भी शान्त रस का हृदयग्राही सन्निवेश महाकवि ने किया है जो द्रष्टव्य है -

"समयात् स महायशाः स्थितिं करसंयोजनकालिकीमिति ।
उपयुज्य पुनर्नृपासनं मुनिरन्तःपुरतो यथा वनम् ॥"[71]

इसमें अन्तःपुर से सिंहासन पर महाराज अकम्पन पहुंचे यह दिखाया गया है । जिनके लिये मुनि की उपमा दी गयी है । मुनि मननशील एवं विचार दक्ष होते हैं । अकम्पन के लिये यह प्रयोग दृढ़ता एवं निश्चल अन्तःकरण का परिचायक है जो जयकुमार के साथ सम्बन्ध जोड़कर भावी शान्त का संकेत है ।

द्वादश सर्ग में सुलोचना के शब्दों में कहा गया है कि हमारे मूल पुरुषों ने (महापुरुषों ने) त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) को मोक्ष पुरुषार्थ के प्रति शक्ति प्राप्त करने के लिये उपयोगी बनाया है । मैं तो इस विषय में गौरी अर्थात् बाल स्वभाव वाली हूँ किन्तु जय शब्द का ही मुकुट धारण करने वाले भगवान् जिन मंगल कारक हों । यह धर्मार्थकाम भी मोक्ष रूप पुरुषार्थ का पूरक है । सांसारिक बन्धनों से दूर होने से ही शान्ति है । परन्तु एकाएक किसी मार्ग को दृढ़ बनाना सम्भव नहीं है । इसलिये शान्ति के साधक धर्मार्थकाम भी हैं इस ओर सुलोचना की यह उक्ति संकेत करती है

"कलशः कलशर्मवागनून दलसङ्कल्पलसत्फलप्रसूनः ।
वसुधामसुधावशात्समुद्रः शिवताति कुरुतान्नरामरुद्रः ॥"[72]

इसी प्रकार अन्यत्र भी शान्त की पुष्टि होती है ।

"मम शान्ति-विवृद्धये हमां तु प्रलयः सत्कृतशेमुर्षीति भान्तु ।
हृदये मदये ममस्तु जैनमथवा शासनमर्हतां स्तवेन ॥
उचितामिति कामनां प्रपन्नौ खलु तौ सम्प्रति जम्पती प्रसन्नौ ।
कुसुमाञ्जलिमादरेण ताभ्यः सुतरामर्पयतः स्म देवताभ्यः ॥"[73]

यहाँ पर दोनों दम्पतियों के विषय में कहा गया है । उन्हीं के वाक्य हैं कि जिन भगवान् की स्तुति से हम दोनों में उत्तरोत्तर शान्ति की वृद्धि हो । पापों का नाश हो । पुण्यमयी बुद्धि का प्रकाश हो । दया परिपूर्ण अन्तःकरण में जैन धर्म स्थित हो । इस प्रकार की समुचित कामनाओं से अर्हन्त आदि पंच परमेष्टि देवताओं के चरणों में दम्पति ने पुष्पांजलि समर्पण की ।

करुण दया, शान्ति का अङ्ग है । वैर भाव का परित्याग प्राणिमात्र पर दया की भावना से शान्ति प्राप्त होती देखी गयी है । उत्तम भावनाओं को महत्व देने वाले जयकुमार नगर भूमि को छोड़कर वनभूमि में जब पहुँचे, तो सारथी ने यह कहना शुरू किया -

''दरिणो हरिणा बलादमी तव धावन्ति मुधा महीपते ।
करुणामुपगायणादपि क्व पशूनान्तु विचारणाह्यपि ।।''[74]

अर्थात् हे प्रभो ! यह आपका सैन्य समूह यद्यपि करुणा से भरा हुआ है। सेना युद्ध करने में प्रवृत्त रहने वाली अथवा निरन्तर युद्ध हेतु अव्यसनशील दया करना नहीं जानती अपितु आखेट आदि करने में ही अपनी उत्कृष्ट दक्षता व्यक्त करने में तत्पर रहती है। परन्तु जयकुमार के सैन्य समूह में करुणा परायणता दिखायी गयी है। सारथी कह रहा है कि सैन्य दल के करुणा परायण कहने पर भी ये हरिण इधर से उधर व्यर्थ ही भयभीत होकर दौड़ रहे हैं। उनका दोष क्या है। पशु में विचार कहाँ ? जिनकी सेना में करुणा भरी हुई है उसका जीवन क्षेत्र शान्ति की ओर क्यों न उन्मुख होगा।

इसी प्रकार अनेकों स्थलों में उसका विकसित रूप दिखाया गया है। जिसका मनोहर चित्रण देखने योग्य है

''यथोदयेऽह्यस्तमयेऽपि रक्तः श्रीमान् विवस्वान् विभवैकभक्तः ।
विपत्सु सम्पत्स्वपि तुल्यतैवमहो तटस्था महतां सदैव ।।''[75]

अर्थात् महापुरुषों का जीवन सदा तटस्थता से ही ओतप्रोत रहता है। अभ्युदय एवं अवनति दोनों उनके लिये समान रहते हैं। न तो उदयकाल में प्रसन्नता और न अवनति काल में मलिनता ही उनपर अधिकार जमा पाती है। अर्थान्तरन्यास द्वारा व्यक्त किया गया है कि तटस्थता ही सोपान की भूमिका है।

इसी प्रकार षोडश सर्ग में कामाधीन होता हुआ भी जयकुमार कहता है कि पंचशर (कामदेव) मुझ एकाकी के पीछे लगा हुआ यह निशाचर (राक्षस) है। ऐसा सोचकर कहता है कि 'अष्टांग' का तंत्र सूत्र न प्राप्त करूँ तो समानता कहाँ से हो सकती है। समरस होने में ही सुख की सम्भावना हो सकती है। परतन्त्रता या भेद बुद्धि में इस सुख की सम्भावना नहीं है जिसे बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया है जो प्रस्तुत है

''निशाचरः पञ्चशरोऽस्ति पृष्ठलग्नो ममैकाकिन आ निकृष्टः ।
त्वत्तो लभे नो यदि तन्त्रसूत्रमष्टाङ्गसिद्धेः समतास्तु कुत्र ।।''[77]

इसी प्रकार एक उदाहरण देखें

''श्यामं मुखं मे विरहैकवस्तु एकान्ततोऽरक्तमहोमनस्तु ।
प्रत्यागतस्ते ह्यधराग्रभाग एवाभिरूपे मनसस्तु रागः ।।''[78]

उक्त कथन शान्त को भान नहीं करता किन्तु उसको मन का परिचय ही देता है

अन्यत्र स्थल भी इससे अछूता नहीं, जिसकी एक झलक को देखें

अनादिरूपा सुदृगित्यनेन ह्यनन्तरूपत्वमितं जयेन ।
अनाद्यनन्ता स्मरतिक्रियास्ति तयोरनङ्गोक्तपथप्रशस्तिः ।।''[79]

यहाँ अनादिरूपा सुलोचना और अनन्तरूप जयकुमार इन दोनों को अनादि अनन्त रूपा स्तुति किया है। ऐसा मार्ग संस्तवन के योग्य होता है। यह कथन अनादि अनन्त शाश्वत सर्वे सुख की ओर संकेत करता है क्योंकि उत्पत्ति और विनाश में शाश्वत सुख की सम्भावना नहीं हो सकती।

अष्टादश सर्ग में प्रातःकाल स्तगण जब जयकुमार के यहाँ गुणगान हेतु उपस्थित होकर अपना कृत्य आरम्भ करते हैं उस समय यह कहा गया है कि हे राजन्! कुमुद समूह के दल नीचे की ओर झुक रहे हैं एवं कमल समूह ऊपर की ओर उठ रहे हैं। दोनों स्थानों का अधिकारी भ्रमर पूर्ण भार को न देकर परिणामतः तुल्यता का ही अनुभव कर रहा है। यथा

''श्री कैरवेषु च दलैर्विनमद्भिरेवमभ्युन्नमद्भिरिव वारिरुहेषु देव।
तं मन्दधत्पुपरिणाममपूर्णमारन्तुल्यत्वमञ्चति मिलिन्द इहाधिकारात् ॥''[80]

यहाँ भ्रमर के प्रति अन्योक्ति समानता का अनुभव शान्ति की ओर उन्मुख कर रहा है।

इसी प्रकार उन्नीसवें सर्ग में दैनिक कृत्य के पश्चात् जयकुमार भगवान जिन की स्तुति में प्रवृत्त होते हैं। यह स्तुति ही मनोनिग्रह का परम साधन है। मनोनिग्रह शान्त का प्रथम सूत्र है। उदाहरणार्थ श्लोक प्रस्तुत है

''हे नाथ रत्नं तृणमामनन्तः जनीमिदानीं जननीं तु मन्तः।
स्वस्यानभिप्रेतमना चरन्तः परेष्वपि स्वात्मनि सन्तुषन्तः ॥''[81]

अर्थात् हे नाथ! रत्नों को तृणसमान समझता हुआ स्त्री को माता सदृश मानता हुआ स्वयं निःस्पृह हो अन्य में भी आत्मबुद्धि का अनुभव कब करूँगा?

यह वाक्य जयकुमार के भावी वैराग्य का सूचक है

''ग्रीष्मे स्वभावी जन एव यस्य शीते सदा कम्बलमभ्युदस्य।
जडप्रसङ्गेऽप्यजडस्थलस्यामकौ तवानन्यतमा तपस्या ॥''[82]

इसी प्रकार शान्त रस के परिपाक की पुष्टि सर्वत्र विद्यमान है

''नभोभिधैकतां कृत्वा धृत्वा स्ववीचिबाहुभिः।
याति स्मालिङ्गितं यद्वा प्रजवादम्बु अम्बरम् ॥''[83]

यहाँ चक्रवर्ती महाराज भरत के समीप जयकुमार के पहुँचने का वर्णन है। वहाँ से लौटते समय गंगा को पार करने के समय एक घातक जन्तु मकर रूपधारी देव जयकुमार को व्याकुल बना देता है। उस समय इन विघ्नबाधाओं एवं उपद्रवों को शान्त करने के लिये दूर में स्थित भी सुलोचना नमो मन्त्र[84] का जप एवं चिन्तन करती है। मन्त्र जप चिन्तन शान्त मार्ग के अभ्यास का सोपान है। इसी प्रकार -

''अतिवर्त्य नदीवनादिकं पुरमात्मीयमवापि सेनया ।
नरपस्य यथा यतिस्थितिर्लभते संसृतितश्शिवं रयात् ।।''[85]

पदाति सेना, अश्व गज, रथ, सैन्य अनेक नदी वनादि को पारकर अपने नगर को पाकर उसी प्रकार शान्ति को प्राप्त किये जिस प्रकार यति संसार समुद्र को पारकर कल्याण को पाकर परम शान्ति का अनुभव करता है । औपम्यमुखेन यहाँ शान्ति है ।

तेइसवें सर्ग में वैराग्योत्पादक गीत गान दिखाया गया है जो बड़े ही मनोहर ढंग से है

''तव मम तव मम लपननियुक्त्याखिलमायुर्विगतम् ।
हे मन आत्महितं न कृतं ।। हा हे मन. ।।''[86] स्थायी टेक है

यहाँ यह तुम्हारा है । यह हमारा है । इस प्रकार कथन में तत्पर हुए हे चित तुमने सम्पूर्ण आयु व्यतीत कर दिया । परन्तु हे मन ! तुमने अपने शाश्वत हित के लिये कुछ भी नहीं किया ।

इसी प्रकार आगे भी कहा है -

''नव मामा वामाय वसभिर्मातृशकृतिसहितम् ।
शैशवमपि शवलं किल खेलैः कृतोचितानुचितम् । हे मनः ।।''[87]

अर्थात् मांस विष्ठा मल आदि से भरे हुए माता की कुक्षि में चर्बी सहित नव मास तक तुमने निवास किया । क्रीडा के साधनों के साथ बाल्यावस्था को खिलवाड़ में ही खो दिया । उचित अनुचित का विचार नहीं किया। हे मन ! तुमने अपने शाश्वत हित के लिये कुछ भी नहीं किया । आगे भी यथा

''तारुण्ये कारुण्येन विनौद्धत्यमिहाचरितम् ।
मदमत्तस्य तवाहर्निशमपि चित्तं युवतिरतम् ।।''[88] हे मन. ।।

अथात् युवावस्था में निदयता के साथ तुमने आचरण किया । मद से मस्त होकर दिन रात यह तुम्हारा अन्तःकरण युवतियों में आसक्त रहा। हे मन ! तुमने अपने शाश्वत हित के लिये कुछ भी नहीं किया ।

''प्रौढिं गतस्य परिजनपुष्टचै शश्वत्कर्ममितम् ।
एकैकया कपर्दिकया खलु वित्तं बहुनिचितम् ।।''[89] हे मन. ।।

अर्थात् प्रौढ़ावस्था में परिवार के पोषण के लिये निरन्तर उद्योग में तत्पर होकर एक एक कौड़ी के द्वारा अधिक धन संचय किया परन्तु हे मन ! तुमने अपने शाश्वत हित के लिये कुछ भी नहीं किया । पुनः आगे-

''स्मृतमपि किं जिननाम कदाचिद्वार्द्धक्येऽपि गतम् ।
विकलतया हे शान्ते सम्प्रति संस्मर निजनिचितम् ।।''[90] हे मनः ।।

अर्थात् कभी वृद्धावस्था में पहुँचने पर भी क्या जिन नाम को कभी स्मरण किया ? हे शान्ते ! (शान्तिमयी प्रिया के लिये सम्बोधन दिया गया है) अब आकुलता से क्या लाभ? इस समय जो कुछ अपनी निधि संचित की हो उसे स्मरण करो । आगे के श्लोकों में यथा

''रट झटिति मनो जिननाम, गतमायुर्नु दुर्गुणग्राम । स्थायी आशापाशविलासतो द्रुतमधिकर्तुं धनधाम । निद्रापि क्षुद्रा भवद्भुवि नक्तं दिवमविराम ।।''[91] गतमायु ।।

अर्थात् हे मन ! तू शीघ्र ही जिन नाम को जप, दुर्गुण समूह में ही सम्पूर्ण आयु व्यतीत हो गयी बड़े खेद की बात है । आशारूपी बन्धन में फँसकर धन धाम के लिये निरन्तर दौड़ता रहा । इस भू तल में दिन-रात निरन्तर तुच्छ निद्रा भी आती ही रही । अज्ञान और आलस्य में ही निरन्तर दिन-रात व्यतीत हो गया ।

इसी प्रकार जयोदय महाकाव्य 23/64, 65, 66, 67, 68, 69 श्लोकों में कहा गया है । आगे के श्लोकों में भी

''हे नर निजशुद्धिमेव विद्धि सिद्धिहेतुम् ।''[92]

अर्थात् हे मानव ! अपने अन्तःकरण की निर्मलता को ही अपनी सफलता का कारण समझ । यह स्थायी टेक भी शान्त रस की ओर ही प्रवाह उत्पन्न करता है ।

इस प्रकार स्थायी टेक के द्वारा इस सर्ग की समाप्ति दिखायी गयी है ।

चौबीसवें सर्ग में सुन्दरी सुलोचना के साथ सावधान एवं न्यायशील तथा निष्पाप जयकुमार वांछित फल को देने वाले जिनेश्वर मन्दिर में प्रवेश करते हैं । जिसका मनोरम चित्रण प्रस्तुत है

''कलं वनेऽमावविलम्बनेन तद्गिरेर्बलं देवलमाप पापहृत् ।
धृतावधानः सुनिधानवद्बुधः सदायकं वाञ्छितदायकं तदा ।।
जयः प्रचक्राम जिनेश्वरालयं नयप्रधानः सुदृशा समन्वितः ।
महाप्रभावच्छविरुन्नतावधिं यथा सुमेरुं प्रभयान्वितो रविः ।।''[93]

आगे के सर्ग में वर्णित है कि - सारे वैभव स्वप्न सदृश हैं । दृश्य पदार्थ नश्वर हैं। नेत्र के बन्द होने पर मृगाक्षी युवतियाँ मस्त हाथी आदि साधक नहीं बनते । यथा -

''युवतयो मृगमञ्जुललोचनाः कृतरवाद्विरदामदगोचनाः ।
लहरिवत्तरलास्तुरगाश्चमू समुदये किमु दृक् झपनेऽप्यमूः।।''[94]

यह वर्णन भी शान्त को ही पुष्ट करता है ।

छब्बीसहवें सर्ग में समदर्शी प्राणिमात्र के रक्षक जयकुमार को अनन्तवीर्य पुत्र उत्पन्न

होता है। इस प्रकरण में यमकालंकार का साम्राज्य दिखाया गया है। यह सब होते हुए भ स्याद्वाद विश्व का जीवन एवं आत्मसात है। आदि तीर्थ की वन्दना में अभेद भेदात्मक अर्हन् मत का प्रतिपादन किया गया है

''हे देव दोषावरणप्रहीण त्वामाश्रयेद्भक्तिवशः प्रवीणः ।
नमामि तत्त्वाधिगमार्थमारान्न मामितः पश्यतु मारधारा ॥
भवन्ति भो रागरुषामधीना दीना जना ये विषयेषु लीनाः ।
त्वां वीतरागं च वृथा लपन्ति चौरा यथा चन्द्रमसं शपन्ति ॥
विरागमेकान्ततया प्रतीमः सिद्धौः रतः किन्तु भवान् सुषीम ।
विश्वस्य सञ्जीवनमात्मनीनं स्याद्वादमुज्झेत्किमहो अर्हान ॥
अहो यदेवास्ति तदेव नास्ति त्वाद्भुतेयं प्रतिभाति शास्तिः ।
यद्वा स्मरमोऽत्र तमीनरेभ्यः निशापि सा नास्ति निशाचरेभ्यः ॥''[195]

सर्वाधिक सर्ग में जयकुमार ऋषभदेव भगवान् के पास उनसे दीक्षा देने हेतु याचना करते हैं। भगवान् ऋषभदेव द्वारा उन्हें अष्टाविंशति गुणों का उपदेश प्राप्त होता है। अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले सभा के भूषण लोक प्रधान देव भगवान् ऋषभ ने जयकुमार पर ... विभाव के लिये कृपा की। यथा

''सत्कर्तव्यपथोपदेशनपरो लक्ष्योऽप्यवर्गश्रियः ।''[196]

इसी प्रकार महाकाव्य के अन्तिम सर्ग में यह कहा गया है कि जयकुमार ने वैषयिक वृत्ति को परिवर्तित कर गुरु की कृपा से भव्य जीवन को प्राप्त किया

''सदारुणोदितां वृत्तिं परिवर्त्य सतां पतिः ।
गुरोरनुग्रहप्राप्त्या समवापाच्छतामथ ॥''[197]

इसी प्रकार आगे के श्लोकों में भी उल्लेख है ... राजचर्या का परित्याग कर हृदय कमल को विकसित करने के लिये अर्हन् देव के पास पहुँचकर उन्होंने तपश्चर्या को ही अपना धन बना लिया। यथा

''राजतत्त्वपरित्यागात्ससिनोदितवर्णता ।
पश्यतो हरतो जाताथानिद्रात्मनोः स्वशर्मणि ॥
स्फोटयितुं तु कमलं कौमुदं नान्वमन्यतः ।
सानुग्रहतयार्हन्तमुपेत्यासीत्तपोधनः ॥''[198]

इसी प्रकार आगे के मनोरम उद्धरणों पर दृष्टिपात करें

''हेरयैवेरयाव्याप्तं भोगिनामधिनायकः ।
अहीनः सर्पवत्तावत्कञ्चुकं परिमुक्तवान् ॥''[199]

अर्थात् तपस्वी बनकर समदृष्टि रखते हुए इन्द्रिय विग्रह करने वाले सर्प के केंचुल

त्याग के समान जयकुमार ने कंचुक राजकीय वेश का परित्याग किया । पाँच मुट्ठो पर ही अपने भाग्य को निर्भर किया । यथा

"पञ्चमुष्टिस्फुरद्दिष्टि प्रवृत्तोखिलसंयमे ।
उच्चखानमहाभागो वृजिनान्वृजिनोपमान् ॥"[100]

इस प्रकार सर्ग समाप्ति में भी शान्ति एवं शान्त को ही पुष्ट किया गया है । इसलिये इस महाकाव्य में शान्त रस ही प्रधान है, जिसके आलम्बन भगवान् जिन आश्रय जयकुमार। भगवान् के गुणों का श्रवण उद्दीपन विभाव है । गुण-श्रवण भजन संसार से विरक्ति परक साधनों को अपनाना अनुभाव है । तत्सम्बन्धी चिन्ता व्यभिचारी भाव है ।

इस प्रकार शम की सर्वत्र पुष्टि होने से काव्य का अङ्गीरस शान्त है । अन्य रस गौण रूप में उसके उपकारक के रूप में उपस्थित है ।

* * *

फुट नोट

1. दधानः कलशे रसम् ऋग्वेद 9.63.12
2. तै.उ. 11.7.1 3. राजशेखर का.मी. प्रथम अध्याय ।
4. रसैः शृङ्गार करुणरौद्रवीरभयानकैः । वा.रा. 1.2.9
5. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
   क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ध्वन्यालोक 1.5
6. एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना । ना.शा. अ 6
7. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते । ना.शा.
8. एवमेते ह्यलङ्कारः गुणाः दोषाश्च कीर्तिता ।
   प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥ ना.शा. 17/108
9. (क) अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् । काव्यादर्श 1.18
   (ख) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् । काव्यालङ्कार 1.21
10. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
    प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ - काव्यालङ्कार 5/3
11. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् । अग्निपुराण 336/33 12. ना.शा. अ 6
13. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा । रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥
    सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः । वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
    लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः । स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥
    - सा.द. 3/1, 2, 3
14. लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्योः ।
    उक्ताः स्त्रीणमलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजा: ॥ - सा.द. 3/133

15. विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिण: ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदा: ॥
निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्र्यमोहौ विबोध:
स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्था: ।
औत्सुक्योन्मादशङ्का: स्मृतिमतिसहिता व्याधिसंत्रासलज्जा,
हर्षासूयाविषादा: सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्का: ॥ - सा.द. 3 140-41

16 रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिण: । - सा.द. 3 172

17 रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ता: शमोऽपि च ॥ - सा.द. 3/175

18 निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमोरस: । - का प्र.च. 35/47

19 रुद्रट काव्या. 7/38-40

20 स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदु: ।
स्थायी वत्सलतास्नेह: पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ - सा.द. 3/251

21 न यत्र दु:खं न सुखं न चिन्ता न द्वेष रागो न काचिदिच्छा । रसस्तु शान्त:
कथितो मुनीन्द्रै: सर्वेषु भावेषु शमप्रधान: । दशरूपक चतुर्थ प्रकाश पृष्ठ 260

22 आद्य: करुण बीभत्सरौद्रवीरभयानकै: ॥ भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् ।
करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृश: ॥ रौद्रस्तु हास्यशृङ्गारभयानकरसैरपि ।
भयानकेन शान्तेन तथा वीररस: स्मृत: ॥ शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानक: ।
शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्य भयानकै: ॥ शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता॥
-सा द.3 254 258

23 अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशाप हेतुक इति पंचविध: । का प्र पृष्ट 123

24 शृङ्गं मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुक: । उत्तमप्रकृतिप्रायो रस: शृङ्गार इष्यते ॥
परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् । आलम्बनं नायिका: स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायका।
चन्द्रचन्दनरोलम्बरु ताद्युद्दीपनं मतम् । भ्रविक्षेपकटाक्षादिरनुभाव: प्रकीर्तित: ॥
स्थायीभावोरति: श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवत: ॥
विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मत:॥ - सा.द 3 183, 84 85, 86

25 यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनरलभ्ये । विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य: ।
- सा द 3 209

26 विकृताकारवाग्वेषचेष्टादे: कुहकाद्भवेत् । हास्यो हासस्थायिभाव: श्वेत: प्रथमदैवत: ॥
विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जन: । तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥
अनुभावोऽक्षिसङ्कोच वदनस्मेरतादय: । निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिण: ॥
ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च ।
नीचानाम पहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेद: ॥
इषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम् ।

किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः॥
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरः कम्पमवहसितम्। अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम
सा द 3.214 215 216, 217 218 219

27. इष्ट नाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्। धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवत ॥
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम्। तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः। वैवर्ण्योच्छ्वास निःश्वासस्तम्भ प्रलपनानि च।
निर्वेदमोहापस्मार व्याधिग्लानि स्मृतिश्रमाः। विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥
सा द 3.222, 223 224 225

28 शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोग हेतुकः॥ सा.द 3/226

29 रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः। आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥
मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणश्चैव। संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढ़ा ॥
भ्रूविभङ्गौष्ठनिर्दंशबाहु स्फोट तर्जनाः। आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ॥
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः। उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः ॥
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिण.। सा द 3 227 228 229 .230, 231 पू

30 रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः। वही, 3 231 उ

31 उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः। महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः। विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ॥
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धास्यात् ॥ वही, 3/232, 233, 234

32 भयानको भयस्थायिभावो भूताधिदैवतः। स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः ॥
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम्। चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः ॥
अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम्। प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः ॥
जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासग्लानिदीनताः। शङ्कापस्मारसम्भ्रान्ति मृत्वाद्याव्यभिचारिणः ॥
सा द 3/235, 236, 237, 238

33 जुगुप्सास्थायीभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः। नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः ॥
दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम्। तत्रैव क्रिमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम् ॥
निष्ठीवनास्य वलननेत्रसङ्कोचनादयः। अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥
मोहोऽपस्मारः आवेगो व्याधिश्च मरणादयः। सा.द 3/239, 240, 241, 242 पू.

34 अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः ॥ पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमः।
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ॥ वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः ॥
-सा.द. 3/242 उ., 243, 244, 245 पू.

35. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ॥
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्री नारायणदैवतः । अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिः सारता तु या ॥
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते । पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः । रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥
निर्वेद हर्ष स्मरणमतिभूतदयादयः ॥ सा.द. 3 245 उ., 246, 247, 248, 249, पृ.

36 (अ) "अथ मुनीन्द्रसंमतो वत्सलः" का उल्लेख इस रस निरूपण के प्रारम्भ में ही कर देने से यह स्पष्ट होता है कि साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ को यह रस मान्य नहीं है। परन्तु भरत मुनि पर पूजनीय दृष्टि होने से विश्वनाथ ने इस रस का प्रतिपादन किया है। परन्तु नव्य आचार्यों ने इसे भाव पद से कहा है।

(ब) स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः । स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः । आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः । सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥
पद्मगर्भच्छविवर्णो दैवतं लोकमातरः ॥ सा.द 3 251, 252, 253, 254

37 उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च । बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते । शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ॥
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये । ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधम पात्रगते तथा वीरे ॥
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र । सा.द 3 263, 264, 265, 266 पृ

38. ज म 22 42 39 वही, 22 58 40.ज.म. 23 5 41. ज.म. 12 127
42 ज म. 12 119 43 ज म. 12 122 44 वही 13 83 45 ज म 8 41
46 वही, 7 46 47 ज म 7 47 48 48 ज म 7 49 49 वही, 7 50
50 ज.म 8 11 51 ज म 8 18, 19 52 वही, 8 74 53. ज.म. 7 55
54 वही, 8 38 55.ज म. 8 40 56.ज.म 23 10,11 57 ज म. 1 3
58 वही, 1 84 59.ज म 1 85 60.वही, 1 94 61 ज म 1 101
62 वही, 1 103 63 वही, 1 108 64 ज म 1 110 65 ज म 2 3
66. वही, 2 6 67 वही, 2 22 68 ज म 2 38 69 वही, 9 41, 42
70 वही, 9 14 71 ज.म 10 5 72 वही 12 5 73. वही, 12 102 103
74 ज म. 13 47 75.ज.म 15 2
76 यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिः 77.ज.म. 16 11
78. ज म. 16 12 79.वही, 17 103 80.ज म 18 28 81.वही, 19 83
82. वही, 19 101 83.वही, 20 50
84. णमो अरिहन्ताणं णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं । णमो उवज्झायणं, णमो लोएसव्वसाहूणं ।
85. ज.म. 21 76 86.वही, 23 58 87.ज.म. 23 58 88 वही, 23 60
89. वही, 23 61 90.ज.म. 23 62 91.वही, 23 63 92.वही, 23 92 पृ.
93. ज.म. 24 59, 60 94.वही, 25 4 95.ज.म. 26 74, 75, 77, 78
96. वही, 27 67 उत्त. 97.ज.म. 28 1 98.वही, 28 2, 3 99.वही, 28 6
100.वही, 28 7

पंचम - अध्याय

'जयोदय महाकाव्य' में

अलङ्कार

निवेश

जयोदय महाकाव्य में अलङ्कार निवेश

वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री विरचित 'जयोदय महाकाव्य' में अलङ्कारों का निर्देश करने से पूर्व अलङ्कार एवं अलंकार्थ के स्वरूप आदि का विवेचन अपेक्षित है अत: उसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

भूषणार्थक 'अलम्' पूर्वक 'कृ' धातु से करण या भाव में 'घ' प्रत्यय से निष्पन्न यह अलङ्कार शब्द सजावट, शृङ्गार, आभूषण, साहित्य शास्त्र का एक अङ्ग काव्य का गुण दोष विवेचक शास्त्र आदि बहुअर्थों में व्यवहृत है । वेद, वेदाङ्ग आदि में शतश: प्रयुक्त 'अलङ्कार' शब्द के आधार पर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि वेदाब्धि ही इसका स्रोत है। जहाँ से प्रेरणा प्राप्त कर काव्य शास्त्रीय आचार्यो ने इसका प्रतिपादन किया है। वेदों में अरंकृत, अरंकृति जैसे शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है

"वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृता: ।" ऋ.वे. 1/2/1

"त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते ।" ऋ.वे.2/1/7

"का ते अस्त्यरंकृति: सृक्तै: ।" ऋ.वे.7/29/3

"आदित्यानामरंकृते ।" ऋ.वे.8/7/3

यहाँ आचार्य सायण ने 'अरंकृता:' का 'अलंकृता:', 'अरंकृते' का 'अलंकृते' तथा 'अरंकृति' का 'अलंकृति:' अर्थ किया है, जो अलंकार के ही वाचक हैं । इस प्रकार ऋग्वेदीय यह 'अरंकृत' शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अलंकृत' पश्चात् अंलकार के रूप में प्रयुक्त हुआ । 'अञ्जनाभ्यञ्जनेप्रयच्छत्येव ह मानुषोऽलंकार:' वसनेन अलंकारेणेति संस्कुर्वन्तिसाध्वलंकृतौ सुवसना परिष्कृतौ' इन विविध प्रयुक्त प्रयोगों से प्रतीत होता है कि 'शतपथ ब्राह्मण' 'छान्दोग्योपनिषद्' ग्रन्थों में भी अलंकार शब्द का बहुलता से प्रयोग हुआ है ।

निरुक्तकार ने सोमा अरंकृता:, अलंकृता: जैसे स्थलों में 'अलंकृत' शब्द का 'अरंकृत' शब्द के पर्याय में ग्रहण किया है । 'अलंकरिष्णु' शब्द की सिद्धि के लिये आचाय पाणिनि ने 'अलंकृञ, निराकृञ:' इत्यादि का समावेश अपने सूत्र में किया है । रामायण, महाभारत जैसे ग्रन्थों में भी 'अलंकार' शब्द के सुस्पष्ट प्रयोग एवं उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

प्राचीनकाल में यह 'अलङ्कार' शब्द सम्पूर्ण साहित्य शास्त्र या काव्य शास्त्र के लिये प्रयुक्त होता था । आचार्य राजशेखर ने काव्यशास्त्र को सातवाँ वेदाङ्ग तथा पन्द्रहवाँ विद्यास्थान बताया हैं ।

'अलंकृतिरलंकार:' अथवा 'अलंक्रियतेऽनेन' व्युत्पत्ति से निष्पन्न अलङ्कार शब्द सौन्दर्य या शोभाधायक है । यह सौन्दर्य दोषों के त्याग एवम् गुणालङ्कारादि के ग्रहण आदि से सम्पादित

होता है। 'सालंकार काव्य ही ग्राह्य है' ऐसा आचार्य वामन ने स्वीकार किया है। उनकी मान्यता के अनुसार सौन्दर्य ही अलङ्कार है। काव्यशास्त्र में यह अलङ्कार यमक, उपमा आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। दोष त्याग तथा गुणादि के ग्रहण से ही काव्य सौन्दर्य युक्त होता है। भाव परक व्युत्पत्ति से निष्पन्न अलंकार शब्द काव्य सौन्दर्य की हेतुभूत गुणादि समग्र तत्त्वों के अर्थ में स्वीकृत है। करण व्युत्पत्ति से शब्दार्थोभयालंकार ही उसके अभिधेय कहे जा सकते हैं। यद्यपि काव्य शास्त्र के लिये 'अलङ्कार शास्त्र' नाम का व्यवहार सर्वथा विलुप्त नहीं है।

आचार्यों की दृष्टि:

चित्र मिमांसा में आचार्य अप्पय दीक्षित ने शब्दालङ्कारों को नीरस बताकर कवियों का उनके प्रति अनादर सूचित किया है[10]। तथापि मम्मट आदि अन्य विचारकों ने शब्द चित्र का चित्रण किया ही है। आचार्य भामह के शब्दों में 'काव्य में शब्दार्थ की वक्रता से युक्त उक्ति अलङ्कार है।'[11] उन्होंने वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को ही समस्त अलङ्कारों का मूल माना है। इसी से ही अर्थों का विभाजन होता है[12]।

आचार्य दण्डी ने काव्य शोभाकर सभी धर्मों को अलङ्कार को ही प्राधान्येन स्वीकार किया है। रसभाव आदि को रसवत् अलङ्कार में परिगणित कर अलङ्कार का आङ्गित्व सिद्ध किया है। सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति वृत्यङ्ग आदि को भी अलङ्कार की संज्ञा देकर आचार्य ने इसके व्यापकत्व को प्रतिपादित किया है।

'सालङ्कारस्य काव्यता' कहकर वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने काव्य में अलङ्कार को महत्त्व प्रदान किया है। शरीर के शोभातिशायी कटक कुण्डल आदि की भांति काव्य में अलङ्कार को भी शोभाधायक माना है। 'अलङ्कार से काव्य की शोभा होती है' को प्रतिपादित करते हुए आचार्य भोजराज ने काव्य शोभाकर गुण, रसादि को भी अलङ्कार की संज्ञा से अभिहित किया है। यही नहीं, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, रसोक्ति रूप अलङ्कारों के वर्गत्रय को स्वीकार कर आचार्य ने इस सम्प्रदाय को महत्त्व प्रदान किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलङ्कार के अङ्गित्व पर आक्षेप प्रस्तुत करते हुए अलङ्कार को रसादि रूप काव्यात्मा का अङ्गरूप से होना स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन, तदनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने शरीर के बाह्य प्रसाधन कटक, कुण्डलादि की भाँति शब्दार्थ रूप काव्य शरीर में अलङ्कारों को मान्यता प्रदान की है। पर्यालोचनया प्रतीत होता है कि परवर्ती काव्य शास्त्र में अलङ्कार का यही रूप मान्य हुआ।

राजशेखर, हेमचन्द्र, विद्याधर,[23] विद्यानाथ,[24] रुद्रभट्ट[25] वाग्भट्ट[26] विश्वनाथ,[27] भानुदत्त मिश्र,[28] केशव मिश्र, जगन्नाथ,[30] आदि आचार्यों ने आनन्द एवं मम्मट का पूर्णतः

अनुसरण किया है, यही यथार्थ भी है। क्योंकि काव्य में शरीर की अपेक्षा आत्मा या प्राण ही प्रधान है। लोक में भी जीव की ही प्रधानता देखी जाती है, शरीर की नहीं। अचेतन शव शरीर कभी भी अलङ्कृत नहीं किया जाता। अत: प्राधान्येन रसादि ही अलङ्कार्य है और उसे शब्दार्थ शरीर माध्यम से उपमादि अङ्गतया अलङ्कृत करते हैं।

आचार्यों ने शब्दार्थोभयगत भेद से प्रधानत: तीन भेदों में अलंकारों को विभक्त किया है। अर्थ में ही सौन्दर्य भूयस्त्व होने के कारण मैं प्रथमत: अर्थालङ्कारों का ही विवेचन करूँगा उपमा सर्वालङ्कार प्रधान है अत: प्रथमत: उसी को लिया जा रहा है

1. **उपमा** : जयोदय महाकाव्य में उपमा अलङ्कार प्राचुर्यतया देखने को मिलता है। इस महाकाव्य में प्रयुक्त उपमा सहृदय हृदय को आवर्जित करने में पूर्ण समर्थ है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार एक वाक्य में जहाँ उपमान उपमेय दोनों का साधारण धर्म बताया गया हो, एवम् उपमावाचक शब्द का प्रयोग हो, उसे उपमा अलङ्कार कहते हैं। अर्थालंकारों में प्रधान तथा उनका पात्र है उपमा। इस क्रम में उन्तीस सादृश्यमूलक अलंकार आते हैं इसलिये अप्पय्य दीक्षित ने कहा है

''उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रंजयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेत: ॥''[32]

'उपमा एक नटी है, जो अनेक अलङ्कारों की भूमिका को प्राप्त कर काव्य मंच पर नृत्य करती हुए काव्य मर्मज्ञों के चित्त को आनन्दित करती है।'

अप्पय्य दीक्षित का कहना है कि जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से विचित्र जगत् का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से समस्त अलङ्कार ज्ञात हो जाते हैं

''तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् ।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा ॥''[33]

भरत ने नाट्यशास्त्र में जिन चार अलङ्कारों का परिगणन किया है, उनमें उपमा को सर्वप्रथम स्थान दिया है[34]। वामन ने प्रतिवस्तुप्रभृति अनेक अलङ्कारों को उपमा का प्रपंच माना है[35]। रुद्रट ने भी अनेक अलङ्कारों को औपम्य का भेद स्वीकार किया है। महिम भट्ट ने 'सर्वेष्वलङ्कारेषूपमा जीवितायते' कहकर इसकी महत्ता और व्यापकता का उद्घोष किया है। राजशेखर उपमा को कवि वंश की माता मानते हुए उसे अलङ्कार शिरोमणि तथा काव्य सम्पत्ति का सर्वस्व स्वीकार करते हैं-

''अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्य सम्पदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥''[36]

अलङ्कार सर्वस्वकार ने इसे अनेक अलङ्कारों की बीणा माना है-

"उपमैव च प्रकार वैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूता ।"[37]

उपमा अनेक अलङ्कारों के मूल में स्थित है ऐसा पण्डित राज भी मानते हैं

"विपुलालङ्कारवर्त्तिनी उपमा ।"[38]

पं राज जगन्नाथ ने उपमा का जो लक्ष दिया है वह इस प्रकार है

"सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृति. ।" अर्थात् वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाने वाले सुन्दर सादृश्य को उपमालङ्कार कहते हैं। यहाँ सुन्दर का अर्थ है चमत्कारआधायक तथा चमत्कार है आनन्द विशेष। उपमा के दो भेद हैं (1) पूर्णा (2) लुप्ता। पूर्णा के छ: भेद हैं और लुप्ता के उन्नीस। दोनों के योग से पच्चीस भेद हुए। फिर लुप्ता में ही सात भेद और होते हैं जो पूर्वोक्त भेदों के साथ युक्त होने पर बत्तीस हो जाते हैं इनमें से प्रत्येक के द्वारा पाँच प्रकार के अर्थों का उपकरण होता है। यथा 1 वस्तुरूप प्रधान व्यङ्ग्य 2 अलङ्काररूप प्रधान व्यङ्ग्य, 3 रसादिरूप प्रधान व्यङ्ग्य 4 वस्तुरूप प्रधान वाच्य और 5 अलङ्काररूप प्रधान वाच्य। इस प्रकार एक सौ साठ भेद होते हैं। जयोदय महाकाव्य मे आगत उपमा के समस्त भेदों के उदाहरण न प्रदर्शित कर हम यहा 'स्थालीपुलाक' न्याय से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत करते हैं

"समुत्सवकरस्यास्याभ्युदयेन रवेरिव ।
श्रीमतो मुनिनाथस्याप्युद्भिन्ना मुखमुद्रणा ॥"[39]

अर्थात् सूर्य के उदय होने पर सूर्य की किरणें कमल आदि के लिये अभ्युदय कारक बन जाती हैं वैसे ही शोभा सम्पन्न मुनिनाथ के आगमन से उत्सव की प्रतीति एवम् उनकी मुख मुद्रा भी विकसित हुई अर्थात बोलना प्रारम्भ किये।

प्रकृत पद्य में मुनिनाथ उपमेय सूर्य उपमान समुत्सव कर साधारण धर्म 'इव' उपमा का वाचक शब्द है।

इसी प्रकार आगे के सर्गों में भी उपमा का स्थान पर्याप्त है। सहृदयों को आनन्द प्रदान करने वाले कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं

(अ) "वाग्मिताऽपि मिता यावद्मिता वशिताभृत:।
भाष्यावली च दृताम्याल्लालेव निरगादियम् ॥"[40]

(ब) "आसनेषु नृपतीनिह कश्चित्सन्निवेशयति स स्मविपश्चित्।
द्वास्थितोरविकरानवदात उत्पलेषु मरमीव विभातः ॥"[41]

(स) स पवित्र इतीव सत्क्रियासहित: सम्महितो वर श्रिया ।
शुचिवेषधरै: पुरस्सरैश्च सुनाशीर इवाभवन्नरै: ॥"[42]

(द) "अमुकस्य सुवर्गमागता नृपदूताः स्म लसन्ति तावता ।
पुलकावलिफुल्लिताननास्तटलग्ना इव वारिधेर्घनाः ।।"[43]

उपमा सादृश्य मूलक भेद प्रधान अलङ्कार है[44] । अब भेदाभेद प्रधान अनन्वय का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है-

2. **अनन्वय:** महाकाव्य में यह अलङ्कार अनेक स्थलों में दिखाया गया है । यद्यपि अन्य अलङ्कारों जैसे उपमा, रूपक, श्लेष आदि की भाँति इसका व्यापक प्रयोग नहीं मिलता है फिर भी इसकी न्यूनता नहीं है । अनन्वय का लक्षण साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने दशम परिच्छेद के छत्तीसवें के उत्तरार्ध में व्यक्त किया है कि जहाँ एक ही वस्तु को अद्वितीय चमत्कार लाने के लिये उपमान एवं उपमेय दोनों बना दिये जाते हैं, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है[45] । इस बात को दृष्टि में रखते हुए जयोदय महाकाव्य के एक उदाहरण को प्रस्तुत किया जा रहा है-

"तवापि भूमावपि रूपराशावाशाधिकर्त्र्यो बहुलास्तु तासाम् ।
का सावरम्या स्मरसारवास्तु सुरोचना नाम सुरोचनाऽस्तु ।।"[46]

यहाँ सुलोचना का वर्णन करते हुए 'ल' और 'र' में तथा 'व' और 'ब' 'ड' और 'ल' में अभेद होने की दृष्टि से 'र' और 'ल' में अभेद मानकर प्रकृत पद्य में सुलोचना को सुरोचना कहा गया है । हे राजन् ! सौन्दर्य समुद्र में आशाधिकारणी बहुत सी स्त्रियाँ इस भू मण्डल पर आपके लिये हैं । परन्तु कौन ऐसी है जो आपके लिए रमणीय न हो । अपितु सब काम चेष्टाओं से पूर्ण होने के कारण रम्य हैं । फिर भी काशी नरेश अकम्पन की पुत्री 'सुलोचना' तो 'सुलोचना' ही है । अर्थात् उसके सादृश्य में कोई नहीं है । इवादि का प्रयोग न होने से यह वाच्य नहीं है ।

इस प्रकार अनन्वयालङ्कार का कलेवर रम्य दिखाया गया है ।

3. **स्मरणालङ्कार :** इस अलङ्कार का लक्षण साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद के श्लोक सत्ताइस के उत्तरार्ध में दिया गया है । सदृश गुणवश प्रत्यक्ष वस्तु को देखने से पूर्वानुभूत वस्तु का होने पर स्मरणालङ्कार होता है। परन्तु यह स्मरण कवि प्रतिभोत्थापित होना चाहिए। लोक व्यवहार प्रयुक्त मात्र से यह अलङ्कार नहीं हो सकता । जैसे 'नदेवेद कार्षापणम्' यह वही रुपया है । इसका एक सुन्दर दृष्टान्त द्रष्टव्य है[47]

पिपासुरश्वः प्रतिमावतारं निजीयमम्भस्यमलेऽवलोक्य ।
स सम्प्रति स्म स्मरति प्रियाया द्रुतं विसस्मार पिपासितायाः ।।"[48]

4. **रूपक:** रूपकालङ्कार की योजना महाकवि ने प्रायः प्रत्येक सर्ग में सुस्पष्ट एवं समीचीन रूप में दिखायी है । जहाँ उपमेय का निषेध न कर उपमान के साथ सादृश्यातिशय के प्रभाव से तादात्मय दिखाया जाता है । उपमान- उपमेय में अभेदारोप किया जाता हो

उसे रूपकालङ्कार कहते हैं। वह रूपक भी परम्परित, सांग निरंग के भेद से तीन प्रकार का होता है। रूपकालङ्कार के लिये कतिपय उदाहरण दर्शनीय हैं

"भुजगोऽस्य च करवीरो द्विषदसुपवनं निपीय पीनतया ।
दिशि दिशि मुंचति सुयशः कंचुकमिति हे सुकेशि रयात् ॥"[50]

प्रकृत पद्य में विद्या देवी सुलोचना को सम्बोधित कर जयकुमार का परिचय देती हुई कहती है कि हे सुन्दर केशों वाली सुलोचने। इसके हाथ का खड्गरूप सर्प शत्रुओं के प्राणरूपी पवन को पीकर पुष्ट होने से प्रत्येक दिशा में यशरूपी केंचुल को बड़े वेग से छोड़ रहा है। यह परम्परित रूपक का उदाहरण है। कार्य कारण भाव से आरोप जहाँ होता है, उसे परम्परित रूपक कहते हैं।

यहाँ पर राजा के हाथ पर सर्प का आरोप करने में शत्रु के प्राण पर पवन आरोप कारण है। इसी प्रकार 'यश' पर केंचुल आरोप भी रम्य बना है।

रूपकालङ्कार से कोई सर्ग वंचित नहीं है। शरीर से निकलने वाली रक्त की धारा सन्ध्या की शोभा का सार सवस्व प्राप्त कर लिया है, जिसकी रम्यता आस्वादनीय है

"रविं च विच्छाद्य रजोऽन्धकारे नभस्यभूत् प्राप्ततमाधिकारः ।
युद्धचत्प्रवीरक्षतजप्रचारः सायं श्रियस्तत्र बभूव सारः ॥"[51]

यहाँ यह वर्णन है कि युद्ध भूमि में उठी धूल सूर्य को भी आच्छादित कर लिया। वह सम्पूर्ण गगन मण्डल पर भी छा गयी। इस स्थिति में युद्ध कर रहे वीरों के शरीर से प्रवाहित रक्त की धारा सन्ध्या की शोभा का तत्त्व सर्वस्व प्राप्त कर लिया।

पुनः एक मनोरम कल्पना प्रस्तुत है

"रणश्रियः केलिसरः सवर्णाः करीशकर्णान्ततया सपर्णा ।
वक्त्रैर्भटानां कमलावकीर्णा श्रीकुन्तलै शैवलमावतीर्णा ॥"
अजस्रमाजिस्त्वसृजा प्रपूर्णा किलोल्लसत्कुङ्कुमवारिपूर्णा ।
यशः समारब्धपरागचूर्णा स्मराजते सा समुदङ्गघूर्णा ॥"[52]

प्रकृत पद्य में युद्धभूमि रण श्री के क्रीड़ा सरोवर सी बन गयी थी, क्योंकि युद्ध में लड़ते हुए हाथियों के कान पत्ते जैसे प्रतीत होते थे। योद्धाओं के मुखों सरीखे कमलों से वह पूर्ण थी। इधर-उधर छितराये हुए केश सेवार का काम कर रहे थे। युद्धभूमि में भरा हुआ रक्त केशर के जल के समान तथा वीरों का फैला हुआ यश पराग सदृश था। इस प्रकार इन सब उपकरणों से पूर्ण वह युद्ध-भूमि प्रसन्नता से इठलाती बावड़ी लग रही थी। ऐसे ही रूपकालङ्कार से कोई सर्ग वंचित नहीं दिखता है।

5. **सन्देहालङ्कार :** जहाँ उपमेय में कविप्रतिभोत्थापित उपमान का संशय हो वहाँ सन्देहालङ्कार होता है[53]। वस्तु के स्वभावत: वर्णन में सन्देहालङ्कार होता ही नहीं है जैसे 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा,' 'यह ठूठा पेड़ है या मनुष्य हैं, यह यथार्थ स्थितिक स्वरूप है यहाँ सन्देहालङ्कार नहीं होगा। यह शुद्ध निश्चयगर्भ और निश्यान्त भेद से तीन प्रकार का होता है। जहाँ आदि मध्य और अन्त संशय स्थिति में ही वाक्य की समाप्ति हो वहाँ शुद्ध सन्देहालङ्कार होता है तथा अर्थतः आदि और अन्त में संशय होता हो मध्य में निश्चयात्मक अर्थ होता हो वहाँ निश्चय गर्भ सन्देहालङ्कार होता है। जहाँ आदि में संशय हो अन्त में निश्चय होता हो वहाँ निश्चयान्त सन्देहालङ्कार होता है।

जयोदय महाकाव्य में सन्देहालङ्कार का व्यापक स्थान नहीं है तथापि पर्याप्त मात्रा में उसका सन्निवेश विद्यमान है। 'स्थाली पुलाक न्याय' से एक रम्य पद्य दर्शनीय है -

''अलिकोचितसीम्नि कुन्तला विबभूवुः सुतनोरनाकुलाः ।
सुविशेषकदीपसम्भवा विलसन्त्योऽञ्जनराजयो न वा ।।''[54]

प्रकृत पद्य में सुन्दरी सुलोचना के भाल प्रदेश में शोभायमान केशों का वर्णन करते हुए महाकवि ने यह कहा है कि ये केश अंजन की राशि है, या कृष्ण वर्ण केश हैं।

इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी इस अलङ्कार का महत्वशाली स्थान है।

6. **भ्रान्तिमान् अलङ्कार :** भ्रान्तिमान् अलङ्कार भी यहाँ बहुशः प्रयुक्त हुआ है। इसका लक्षण है, जहाँ कवि प्रतिभोत्थापित अन्य वस्तु में सादृश्य वश अन्य वस्तु की भ्रान्ति हो वहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है[55]। कवि प्रतिभोत्थापित न होने पर यह अलङ्कार नहीं होगा इसलिये लोग व्यवहृत भ्रान्ति में जैसे 'सुक्तौरजतम्' यहां भ्रान्ति ज्ञान है। किन्तु यहाँ अलङ्कार नहीं होगा क्योंकि कविप्रतिभोत्थापित नहीं है भ्रान्ति मात्र ज्ञान है।

जयोदय महाकाव्य के निम्नाङ्कित श्लोक में इस अलङ्कार का चमत्कार देखने योग्य है -

'' उद्धूतसद्धूलिघनान्धकारे शम्पा सकम्पा स्म लसत्युदारे ।
रणाङ्गणे पाणिकृपाणमाला चुकूजुरेवं तु शिखण्डिबालाः।।''[56]

प्रकृत श्लोक में यह वर्णित है कि युद्धस्थल में उठी हुई धूलि से आकाश अन्धकार से आछन्न हो गया। सर्वतः अन्धकाराच्छन्नता वश मेघ की प्रतीति होने लगी। उस समय में योद्धाओं के हाथ में चमकती हुई एवं हिलती हुई तलवारों की पंक्तियाँ मयूर शावकों को यह प्रतीत हुई कि बिजली है अतएव वे केकावाणी बोलने लगे।

यहाँ धूलि से आच्छादित होने से अन्धकार बढ़ जाने के कारण मेघ की प्रतीति एवं उसमें हिलती और चमकती हुई तलवारें बिजली हैं। यह मोर के बच्चों का प्रतीत हुआ, जिससे

ते बोलने लगे । मेघ और विद्युत् को देखकर मोरों का बोलना स्वाभाविक होता है। परन्तु यहाँ यथार्थत: उसके अभाव में भी धूलि से आच्छन्नता वश अन्धकार को मेघ एवं तलवार की चमक को विद्युत् समझने से अन्य में अन्य वस्तु का कवि प्रतिभोत्थापित भ्रान्ति होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

इसी प्रकार सहृदय जनों के आस्वादन के लिये इसका एक और उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है -

" पुलिने चलनेन केवलं वलितग्रीवमुस्थितो बक: ।
मनसि व्रजतां मनस्विनामतनोच्छ्वेतसरोजसम्भ्रमम् ॥"[57]

सुलोचना के साथ जयकुमार के विदा हो जाने पर मार्ग में गंगा नदी पड़ी । उसी के तट पर ऐसा वर्णन किया गया है कि एक बगुला एक पैर से खड़ा होकर अपनी ग्रीवा को तिरछा कर दिया है, जिससे चलते हुए मनस्वियों के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि यह श्वेत कमल है ।

यहाँ पर बगुले में श्वेत कमल का ज्ञान होना कवि प्रतिभोत्थापित ज्ञान है। अत: भ्रान्तिमान् अलङ्कार यहाँ भी है।

7. **उल्लेख :** उल्लेखालङ्कार से भी यह महाकाव्य रिक्त नहीं है। इसका लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने किया है कि जहाँ ज्ञाता और विषय के भेद से एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से कथन किया जाय वहाँ उल्लेख अलङ्कार होता है[58] । इसके उदाहरण के रूप में जयोदय महाकाव्य का निम्न श्लोक उपस्थापित किया जा सकता है

" प्रातरादिपदपद्मयोर्गत: श्रीप्रजाकृतिनिरीक्षणे न्वत: ।
नक्तमात्मवनिताक्षणे रत: सर्वदैव सुखिनां स सम्मत: ॥"[59]

यहाँ जयकुमार के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे प्रात:काल आदि जिनेश्वर ऋषभ देव के चरणों की सेवा में लगे रहते थे । तत: (दिन में) प्रजा के कार्यो के निरीक्षण में तत्पर रहते थे एवं रात्रि में अपनी स्त्रियों के साथ (विलासादि) उत्सव में अनुरक्त रहते थे। इस प्रकार वह सदा ही सुखियों के मण्डल में श्रेष्ठ थे। एक ही जयकुमार के सम्बन्ध में नाना कार्यो का वर्णन होने से यहाँ उल्लेखालङ्कार है ।

इसी प्रकार सप्तमसर्ग में भी उल्लेखालङ्कार दर्शनीय है -

"स्वर्णदीपयसि पङ्ककूपतश्चचन्द्रमस्यपि कलङ्करूपत: ।
गीयते मद इतीन्द्रसद्गजमस्तके जयबलोद्धतं रज: ॥"[60]

जिसका तात्पर्य यह है कि जयकुमार की सेना के विचरण से उठी हुई धुलि आकाश गंगा में पहुँचकर कीचड़ बन गयी एवं चन्द्रमा में काले कलङ्क के रूप में हो गयी तथा इन्द्र के हाथी के मस्तक पर मद जल को धारण कर ली ।

यहाँ पर एक ही उठी हुई धूलि के सम्बन्ध में आकाश गंगा में पंकरूप से चन्द्र में कलङ्करूप एवं इन्द्र के गज मस्तक पर मदरूप से दिखायी गयी है। इसलिये एक ही वस्तु के सम्बन्ध में बहुधा उल्लेख होने से उल्लेखालङ्कार है।

8. **अपह्नुति :** अपह्नुति अलङ्कार का इस महाकाव्य में बहुश: प्रयोग किया गया है। इसका लक्षण साहित्य दर्पण दशम परिच्छेद के अड़तीस एवं उन्तालिस के पूर्वार्ध से इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

जहाँ उपमेय का निषेध कर शब्द अथवा अर्थ से असत्यता दिखाकर उपमान की सत्यता स्थित की जाय वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है। गोपनीय वस्तु को किसी प्रयोजन वश किसी प्रकार से (व्यंजनादि के द्वारा) श्लेष अथवा अन्य प्रकार से अन्यथा बताया जाय वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है।

इसका मंजुल निदर्शन अवलोकनीय है -

"द्विपवृन्दपदाद्दिगम्बरं सघनीभूय वने चरत्ययम् ।
निकटे विकटेऽत्र भो विभो ननु भानोरपि निर्भयस्त्वयम् ॥"[62]

प्रकृत श्लोक में जयकुमार से एक व्यक्ति कह रहा है कि यह दिगम्बर (अन्धकार) गजमण्डल के ब्याज से एकत्रित होकर इस भयङ्कर वन में निर्भय होकर सूर्य के समीप भी विचरण कर रहा है अर्थात् दिन में भी सघन अन्धकार दिख रहा है। यहाँ पर सूर्य के प्रकाश के सामने अन्धकार का ठहरना सम्भव नहीं है। परन्तु काले गज मण्डल की पंक्ति होने से अन्धकार की प्रतीति एवं उसे निर्भय होने का वर्णन किया गया है। यहाँ दिन में भी अन्धकार बना रहता है। इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये सूर्य से निर्भय है ऐसा कहा गया है। इस अलङ्कार में भी छल कपट ब्याज आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। अथवा इनके अर्थ के भान से भी यह अलङ्कार निष्पन्न होता है। अतएव कैतवापह्नुति अलङ्कार है क्योंकि हाथियों के ब्याज से घनान्धकार एकत्रित है जो विचरण कर रहा है।

ऐसे ही इसी सर्ग के अग्रिम में भी अपह्नुति अलङ्कार का रम्य निरूपण है

"आजिघ्रतिप्राणतमस्तकेऽश्वे नासासमीरोत्थरजश्छलेन ।
तदीय संसर्गसुखोत्सुकाया बभूव सद्यः स्फुरणं धरायाः ॥"[63]

अर्थात् मस्तक को झुकाकर घोड़ों ने पृथ्वी को सूँघा उस समय नासिका को हवा के ऊपर की ओर उठी हुई धूलि के ब्याज से घोड़ों के सांसर्गिक सुख, सुख में उत्कण्ठित हुई पृथ्वी को रोमांच हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ यहाँ पर नासिका से निकली हुई वायु के सम्पर्क से पृथ्वी से धूल ऊपर को उठ गई। उसी धूल के ब्याज से पृथ्वी रोमांच का वर्णन किया गया है। रोमांच में शरीर के रोम खड़े हो जाते हैं।

यहाँ भी पृथ्वी की धूल ऊपर को उठी इस ब्याज से अपह्नुति अलङ्कार व्यक्त किया गया है ।

9. **उत्प्रेक्षा :** महाकाव्य में उत्प्रेक्षालङ्कार भी अपना व्यापक स्थान रखता है । आचार्य मम्मट का मत है कि उपमेय को उपमान के साथ एकरूपता की सम्भावना (अर्थात् उत्कटैक कोटिक सन्देह) उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । उत्प्रेक्षालङ्कार के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ ने अपना मत प्रकट किया है कि जहाँ पर प्रकृत अर्थात् वर्णनीय उपमेय का सादृश्य वश असम्भवनीय वस्तु का तादात्म्य कर सम्भावना की जाती है, उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं। इसके मन्ये शंके, ध्रुवं, प्राय, नुनं, इव आदि शब्द वाचक होते हैं । इस प्रकार वाच्या और प्रतीयमाना के भेद से उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है। जहाँ मन्ये आदि का प्रयोग होता है, वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है तथा जहाँ इनका प्रयोग नहीं होता है वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा कही गयी है । ये दोनों प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ जाति, गुण, क्रिया द्रव्य की उत्प्रेक्षा होने से आठ प्रकार की बतायी गयी है । इसके अतिरिक्त भावाभाव के भेद से उत्प्रेक्षा दो प्रकार की कही गयी है । पुन: इस सोलह प्रकार की उत्प्रेक्षा में भी उत्प्रेक्षा का कारण कहीं गुण स्वरूप और कहीं क्रिया स्वरूप होने से बत्तीस प्रकार की उत्प्रेक्षा निरूपित होती है । अधोलिखित श्लोक में उत्प्रेक्षागत चमत्कार अवलोकनीय है

''अप्राणकै: प्राणभृतां प्रतीकैरमानि चाजि:प्रतता मतीकै : ।
अभीष्टसम्भारवती विशालाऽसौ विश्वसृष्टु खलु शिल्पशाला ।।''[66]

इसका अर्थ है कि वह युद्धभूमि योद्धाओं के कटे हुए निर्गत प्राण, कर, चरण, मस्तकादि अङ्गों से भर गयी । जिससे लोगों ने समझा कि विश्व निर्माता की अभीष्ट सामग्रियों से भरी हुई यह विशाल शिल्पशाला है । छिन्न भिन्न अङ्गों से भरी हुई युद्धभूमि को विशाल शिल्पशाला की सम्भावना की गयी है । 'खलु' शब्द का प्रयोग होने से यह वाच्योत्प्रेक्षा है ।

इसी प्रकार आगे के श्लोक में भी यह अलङ्कार अपना आधिपत्य जमाए हुए है

''प्रणष्टदण्डानि सितातपत्रच्छत्राणि रेजु: पतितानि तत्र ।
सम्भोजनायोजनभाजनानि परेतराजेव विनियोजितानि ।।''[67]

प्रकृत पद्य में यह कहा गया है कि दण्ड से ही श्वेत छत्र जो युद्धभूमि पर गिरे हुए हैं उन्हें देखकर यह प्रतीत होता है कि यमराज ने सर्मष्टि भोजन हेतु श्वेत पात्रों का आयोजन किया है । दण्ड ही छत्रों की श्वेत भोजन पात्र की सम्भावना करने से उत्प्रेक्षा है । उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों का प्रयोग होने से प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है । इसी प्रकार बहुश: स्थलों में इसका प्रयोग रम्य ढंग से किया गया है ।

10. **अतिशयोक्ति :** इस महाकाव्य में अतिशयोक्ति अलङ्कार भी व्यापक स्थान रखता है । साहित्य दर्पण के अनुसार जहाँ विषय (उपमेय) को निगीर्ण कर विषयी (उपमान) के

साथ अभेद बोध किया जाता है, वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है । इसके अतिरिक्त निगीर्ण होना विषय के अनुक्त होने से अथवा उक्त होने पर भी केवल तिरस्करण के द्वारा भी निगीर्ण माना जाता है एवं यह अलङ्कार भेद में अभेद बोध करने से अथवा अभेद में भेद बोध करने से अथवा कार्य-कारण भाव जो नियत रूप है कि कार्य के पहले कारण उपस्थित रहता है । परन्तु इसका वैपरित्य हो जाने से अर्थात् कारण के पहले कार्य की ही उत्पत्ति बतायी जाय अथवा कार्य कारण दोनों को एक काल में ही बतलाया जाय वहाँ भी अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है । इसके अतिरिक्त सम्बन्ध में अमम्बन्ध की और असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना करना भी अतिशयोक्ति अलङ्कार निष्पन्न करता है। यद्यपि इसके और भी भेद बताये जा सकते हैं परन्तु साहित्यदर्पणकार ने भेद में अभेद, अभेद में भेद, सम्बन्ध में असम्बन्ध, असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना करने से एवं कार्य कारण के पौर्वापर्य भाव के विपरीत होने से पाँच प्रकार का अतिशयोक्ति अलङ्कार माना है[68] ।

जयोदय महाकाव्य के प्रथम सर्ग का नवम श्लोक इस अलङ्कार से ओतप्रोत है -

''गुणैस्तु पुण्यैकपुनीतमुर्तेर्जगन्नगः संग्रथितः सुकीर्तेः ।
कन्दुत्वमिन्दुत्विडनन्यचौरैरुपैति राज्ञो हिमसारगौरैः ।।''[69]

प्रकृत पद्य में जयकुमार की कीर्ति का वर्णन किया गया है । पूज्य से पवित्र है आकार जिसका ऐसे उस जयकुमार के चन्द्रकान्त को भी तिरस्कृत करने वाली कपूर के सदृश उज्ज्वल शौर्य आदि गुणों से निर्मित यह जगत्रूप पर्वत उस राजा की सुन्दर कीर्ति का गेंद बन गया। अर्थात् जैसे कोई स्त्री गेंद से क्रीडा करती है, वैसे ही जयकुमार की कीर्ति जगत्रूप गेंद से क्रीडा करती रही । गेंद खेलने के लिये किसी आकारवान व्यक्ति की अपेक्षा होती है। कीर्ति का कोई आकार नहीं होता परन्तु जगत्रूप गेंद से क्रीडा करने का वर्णन किया गया है । यह सम्बन्ध सम्बन्धाभाव में सम्बन्ध की कल्पना करके दिखाया गया है अतएव अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

निम्नलिखित श्लोक भी इस अलङ्कार के लिए दर्शनीय है -

''चित्तभित्तिषु समर्पितदृष्टौ तत्र शश्वदपि मानवसृष्टौ ।
निर्निमेषनयनेऽपि च देवव्यूह एव न विवेचनमेव ।।''[70]

यहाँ अकम्पन की काशी नगरी के वर्णनावसर पर यह दिखाया गया है कि वहाँ सभा में चित्रों से युक्त दीवालों पर एकटक दृष्टि लगाने वाले मानव समूह एवं निर्निमेष नेत्र वाले देव समूह में यह देव है कि मनुष्य है, यह विवेक प्राप्त करना असम्भव सा हो गया । क्योंकि एकटक लगाने से मानव भी निर्निमेष प्रतीत हुए तथा स्वभावतः निर्निमेष देवगण के सम्बन्ध में कहना ही क्या है? वह निर्निमेषत्व देव-मानव दोनों में विद्यमान हो जाने से पृथक् करना

कठिन हो गया । इस प्रकार दोनों में यद्यपि भेद वस्तुतः है परन्तु अभेद की कल्पना निर्निमेषत्व के द्वारा कवि ने किया है । एतावता भेद में अभेद मूलक अतिशयोक्ति अलङ्कार रूप है । इसी प्रकार अन्यान्य स्थलों में इस अलंकार का पर्याप्त रूप में प्रयोग है ।

11. **दीपक :** जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत वस्तुओं का एक क्रिया के साथ सम्बन्ध वर्णित हो, वहाँ दीपकालङ्कार होता है[71] । अथवा एक का अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध वर्णित हो तो भी दीपक होता है। दीपक का अक्षरार्थ ही है, 'दीप इव दीपकम्' दीप की समानता होने से ही इसको दीपकालङ्कार कहते हैं । जिस प्रकार जलता हुआ दीपक (अपेक्षित भवन के छत पर प्रकाश करते हुए भी गलियों में भी प्रकाश कर देता है) उसी प्रकार यह दीपकालङ्कार है । अब दीपक अलङ्कार का एक मनोहर उदाहरण जयोदय महाकाव्य मे अवतरित है -

''या विभाति सहजेन हि विद्यातन्मयावयविनी निरवद्या ।
एतदीयचरितं खलु शिक्षा वा जगद्धितकरी सुसमीक्षा ।।''[72]

प्रकृत उदाहरण में स्वयंवर वर्णन करने के लिये जो विद्या देवी उपस्थित हुई उसका वर्णन किया गया है जो स्वभावतः निरवद्या अर्थात् निर्दोष हैं एवं नाम के अनुसार उसमें विद्या के सारे अवयव विद्यमान थे । अतः नाम भी सार्थक है । उसका सम्पूर्ण जीवन वृत्त जगत् की शिक्षा के लिये रहा । अथवा उसकी सुन्दर समीक्षा जगत् की हितकारिणी थी । इस प्रकार वह विद्या देवी शोभित हुई । यहाँ एक का अनेक क्रिया के साथ सम्बन्ध वर्णित होने से दीपकालङ्कार समझना चाहिए ।

12. **निदर्शना :** जहाँ दो वाक्यार्थ या दो पदार्थों का धर्म-धर्मी भाव से सम्भाव्य सम्बन्ध दिखाया गया हो, वहाँ निदर्शनालङ्कार होता है । अथवा कहीं असम्भाव्य वस्तुओं का दो वाक्यार्थ या दो पदार्थ का जहाँ बोध सम्भावित हो, बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव (सादृश्य) से व्यंजना वृत्ति से बोध किया जाता हो, वहाँ भी निदर्शनालङ्कार होता है[73] । निदर्शना का अक्षरार्थ है कि ''निदर्शयति निश्चयेन सादृश्यम् उपमानोपमेयभावं बोधयतीति निदर्शना नाम - अलङ्कारः।'' 'नि' पूर्वक ण्यन्त 'दृश्' धातु से 'ण्यासंचोज्युच्' सूत्र के द्वारा 'युच्' 'अन्' आदेश 'टाप' करके निष्पन्न होता है । यह सम्भवद् वस्तु सम्बन्ध एवं असम्भवद् वस्तु सम्बन्ध के भेद से दो प्रकार का होता है । असम्भवद् वस्तु सम्भवद् की कल्पना करके निम्न श्लोक दिखलाया गया है -

''जयमुपैति सुभीरुमतल्लिकाऽखिलजनीजनमस्तकमल्लिका ।
बहुषु भूपवरेषु महीपते मणिरहो चरणे प्रतिबद्ध्यते ।।''[74]

जयकुमार एवं सुलोचना के भावी सम्बन्ध के विषय में ऐसा द्वेषी वर्ग के द्वारा कहा गया है कि हे राजन् ! अनेक श्रेष्ठ राजाओं के रहने पर भी अखिल सुन्दरियों के मस्तक

की माला अत्यन्त प्रशस्ता तरुणी सुलोचना जयकुमार को प्राप्त हो रही है। आश्चर्य है कि मणि चरणों में बाँधी जा रही है। मणि का पैर से सम्बन्ध हो असम्भव है।

परन्तु यहाँ शत्रुवर्ग के द्वारा यह जयकुमार एवं सुलोचना के सम्बन्ध में बनाया गया है। इस प्रकार निदर्शना अत्यन्त सुस्पष्ट है।

सम्भवद् वस्तु सम्बन्ध का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

"सुषमाप महर्घतां परैर्भुवि भाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैः।
सुतनोस्तु विभूषणैर्यका खलु लोकैरवलोकनीयका ॥"[75]

इस पद्य में सुलोचना के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है कि सुन्दरी सुलोचना का सौन्दर्य लोगों के लिये नितान्त दर्शनीय रहा, जो इस भू मण्डल में ऊँचे भाग्य के कारण नीति की भाँति उज्जवल निर्मलता एवं श्वेत आभूषणों से अत्यन्त शोभा को प्राप्त की।

यहाँ श्वेत भूषणों का सम्बन्ध सुलोचना से करकर शोभा को बढ़ा दिया गया है जो निर्दोष से सम्बद्ध नीति का नीति की भाँति कहकर पारस्परिक उपमानोपमेय भाव सम्भवद् सम्बन्ध निदर्शना बनायी गयी है।

इसी प्रकार द्वादश से गृहीत उदाहरण में भी यह अलङ्कार मनोहर है

"निशेन्दुना श्रीतिलकेन भालं सरोब्जबृन्देन विभात्यथालम्।
महोदया अस्ति सुसम्पदैवं युष्माभिरस्माकमहो सदैव।"[76]

प्रकृत श्लोक में यह वर्णन है कि कन्या पक्ष वालों ने बारातियों से कहा कि जिस प्रकार रात्रि चन्द्रमा से ललाट तिलक से, सरोवर कमलों से शोभित होता है, उसी प्रकार आप लोगों से हम लोगों की सदा ही शोभा है।

यहाँ निदर्शना अलङ्कार का चित्ताकर्षक स्वरूप है।

13. **दृष्टान्त :** दृष्टान्तालङ्कार जयोदय महाकाव्य में अत्यन्त व्यापक है। जहाँ उपमानोपमेय में विद्यमान साधारण धर्म का दो वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रूप से वर्णन हो वहाँ दृष्टान्तालङ्कार होता है[77]। यह साधर्म्य वैधर्म्य के भेद से दो प्रकार का होता है। जहाँ साधारण धर्म (सादृश्य) के अभिधायक पद होंगे या होते हैं, वहाँ साधर्म्य दृष्टान्तालङ्कार होगा। जहाँ उसका अभाव होगा वहाँ वैधर्म्य दृष्टान्तालङ्कार होगा। तात्पर्य वश से प्रतीयमान स्थिति होने के कारण सादृश्य प्रतीति हो जाती है। साधर्म्य से होने वाले दृष्टान्त का एक उदाहरण देखिये -

"वात्ययाऽत्ययिनि तूलकलापे तादृशी स्मरशरार्पितशापे।
वेगिता तु समभूत् कृतचारे सा भुवामधिभुवां परिवारे ॥"[78]

यहाँ कहा गया है कि सुलोचना के स्वयंवर में पहुँचने के इच्छुक कामवाणविद्ध भूपतियों

का समूह इतनी शीघ्रता से चलने के लिये तत्पर हुआ कि जैसे बवण्डल के द्वारा उड़ाया गया रूई का गल्ला हो। प्रस्तुत पद्य में कामवाणविद्ध त्वरितगतिशील राजाओं का गमन वायु प्रेरित रूई के गल्ले के सदृश बताया गया है। इन दोनों का उपमानोपमेय भाव एवं साधारण धर्म की एकता होने से साधर्म्य दृष्टान्तालङ्कार है।

अधोलिखित श्लोक में भी वैधर्म्य मुखेन इसका रम्य निरूपण हुआ है

"सेवकस्य समुत्कर्षे कुतोऽनुत्कर्षता सतः ।
वसन्तस्य हि माहात्म्यं तरूणां या प्रफुल्लता ॥"[79]

प्रकृत पद्य में जयकुमार के साथ सुलोचना के सम्बन्ध या विरोधी भरत सम्राट् के पुत्र अर्ककीर्ति को लक्ष्य करके यह कहा गया है कि सेवक के उन्नति में स्वामी की अवनति (तिरस्कार) कैसे हो सकती है? क्योंकि वृक्षों की विकासशीलता जो कुछ होती है उससे वसन्त ऋतु का महत्व बढ़ता ही है न कि घटता है। यहाँ भी दृष्टान्तालङ्कार सुस्पष्ट है।

इसी प्रकार इसी सर्ग के प्रस्तुत श्लोक में भी वैधर्म्य मूल से दृष्टान्तालङ्कार मनोरम है

"साधारणधराधीशान् जित्वापि स जयः कुतः ।
द्विपेन्द्रो नु मृगेन्द्रस्य सुतेन तुलनामियात् ॥"[80]

इस श्लोक में जयकुमार के विजय का वर्णन किया गया है कि साधारण धराधिपतियों को जीतकर भी वस्तुतः क्या जयकुमार पूर्ण विजयी कहा जा सकता है? अथवा यद्यपि अन्य लोगों से या अन्य पशुओं से बड़ा है तो क्या वह सिंह शावक की तुलना में आ सकता है? यहाँ भी दृष्टान्तालङ्कार निगूहित नहीं है।

दृष्टान्तालङ्कार का दो उदाहरण और द्रष्टव्य है

"प्रत्युपेत्य निजगौ वचोहरः प्रेरितैणपतिवद्भयङ्करः ।
दुर्निवार इति नैति नो गिरश्चक्रवर्तितनयो महीश्वरः ॥"[81]

यहाँ दृष्टान्तालङ्कार की मनोरम योजना है।

इसी प्रकार महाराज अकम्पन से दूत की उक्ति जो दृष्टान्त अलंकार की अनुपम छटा से पूर्ण है, उस पर दृष्टिपात करें

"भूरिशोऽपि मम संप्रसारिभिरौर्ववन्नृप समुद्रवारिभिः ।
किं वदानि वचनैः स भारत-भूपभूर्न खलु शान्ततां गतः ॥"[82]

प्रकृत पद्य में यह वर्णन है कि जिस प्रकार बड़वानल समुद्र के विपुल जलसे शांत नहीं होता, उसी प्रकार मेरे द्वारा कहे गये अनेक प्रकार के सान्त्वनापूर्ण वचनों से भी वह शान्त नहीं हुआ। इस प्रकार यह दृष्टान्तालङ्कार अनुपमेय है।

14. **व्यतिरेक :** जहाँ पर उपमान से उपमेय को अधिक अथवा न्यून बताया जाय वहाँ व्यतिरेकालङ्कार होता है[83]। यदि उपमान से उपमेय के आधिक्यवर्णन में अथवा उपमान से उपमेय के न्यूनता के प्रदर्शन में हेतु दिखाये गये हों तो वह एक प्रकार का व्यतिरेक होता है। ऐसे ही उपमेय के आधिक्य न्यूनता का कारण न दिखाने में तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार चार प्रकार के कहे हुए भेदों में साम्यबोधकता कहीं शब्दत: कहीं अर्थत: कहीं आक्षेप से होता है। इस तरह इसके बारह भेद हो जाते हैं। इनमें भी कहीं श्लेष के द्वारा कहीं श्लेष रहित रूप में वर्णन होने से चौबीस प्रकार का व्यतिरेकालङ्कार निष्पन्न होता है।

व्यतिरेकालङ्कार इस महाकाव्य का परम पोषक है। जयोदय महाकाव्य के प्रथम सर्ग में जयकुमार के उत्कर्ष वर्णन प्रसङ्ग में तृतीय श्लोक व्यतिरेकालङ्कार को पुष्ट करता है -

> **"कथाप्यथामुष्य यदि श्रुतारात्तथा वृथासार्य ? सुधासुधारा ।**
> **कामैकदेशक्षरिणी सुधासा कथा चतुर्वगनिसर्गवासा ॥"**[84]

प्रकृत पद्य में यह कहा गया है कि जयोदय की कथा यदि एक बार भी सुन लिया तो अमृत की धारा भी व्यर्थ हो जायेगी। क्योंकि अमृत काम (मनोरथ) को पूर्ण करने वाला है जो मानव जीवन का एक पुरुषार्थ है। परन्तु जयोदय की कथा धर्मार्थ काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देने वाली है। इस प्रकार जयोदय कथा के सामने अमृत कथा को व्यर्थ बताकर व्यतिरेकालङ्कार निष्पन्न किया गया है।

15. **सहोक्ति :** जब सहार्थ बोधक साकम्, सार्धम्, समं, सह इत्यादि के बल से दो अर्थों का सम्बन्ध एक से दिया जाता हो, वहाँ मूल में अतिशयोक्ति होते हुए भी सहोक्ति अलङ्कार होता है[85]।

प्रकृत महाकाव्य में अनेकों स्थलों में यह अलङ्कार रम्य रूप में निरूपित है। जैसे

> **"तनये मन एतदातुरं तव निर्योगविसर्जने परम् ।**
> **ललना कलनाम्नि किन्त्वसौ व्यवहारोऽव्यवहार एव भोः ॥**
> **अयि याहि च पूज्यपूजया स्वयमस्मानपि च प्रकाशय ।**
> **जननीति परिश्रुताश्रुभिर्बहुलाजां स्तनुते स्म योजितान् ॥"**[86]

सुलोचना की बिदाई के समय उसकी माता इस प्रकार कह रही हैं कि हे पुत्री ! तुझे बिदा करने में मेरा चित्त अत्यन्त खिन्न हो रहा है, किन्तु ललना जाति के लिये यह व्यवहार तो अनिवार्य ही है इसलिये तुम जाओ, पूज्यों की पूजा के द्वारा अपने को और मुझे भी उज्ज्वल करो। इस प्रकार कहकर नयनाश्रु के साथ नि:सृत लाजा को मंगलार्थ सुलोचना के मस्तक पर छोड़ी।

यहाँ नयनाश्रु के साथ भुजे हुए लाजे को मस्तक पर छोड़ने का जो वर्णन किया गया है, वह सहार्थ बोध के द्वारा सहोक्ति अलङ्कार है ।

युद्धस्थल के वर्णन प्रकार में भी यह अलङ्कार व्यवहृत हुआ है ।

''पुरोगतस्य द्विषतो वरस्य चिच्छेद यावत्तु शिरो नरस्य ।
कश्चित्तदानी निजपश्चिमेन विलूनमूर्धा निपपात तेन ।।''[87]

एक योद्धा सम्मुख स्थित बलवान शत्रु के मस्तक को ज्योंही काटा त्योंही उसके पीछे स्थित शत्रु ने उसका भी सिर काट डाला । सिर कटने के साथ-साथ पृथ्वी पर गिर पड़ा।

यहाँ भी सहार्थ प्रदर्शित होने से सहोक्ति अलङ्कार का रूप धारण कर लेता है ।

16. **समासोक्ति :** समासोक्ति अलङ्कार अपना इस महाकाव्य पर पूर्ण प्रभाव डाला है । कोई सर्ग इससे शून्य नहीं है । इस अलङ्कार का लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार दिया है कि जहाँ पर कार्यलिङ्ग और विशेषण के द्वारा साधारण अथात् साधारण धर्म बनाकर प्रकृत में अप्रकृत वस्तु के व्यवहार का आरोप होता हो, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है[88]। प्राय: नायक-नायिका के व्यवहार रूप में इस अलङ्कार का प्रयोग अधिकांशत: मिलता है ।

इसका उदाहरण उपन्यस्त किया जाता है

''वीरश्रियं तावदितो वरीतुं भर्तुर्व्यपायादथवा तरीतुम् ।
भटाग्रणी: प्रागपि चन्द्रहास – यष्टिं गलालङ्कृतिमाप्तवान् स: ।।''[89]

यहाँ वर्णन है कि वीर श्री सर्वप्रथम मेरा ही वरण करें और इस तरह मुझे स्वामी का उलाहना न प्राप्त हो, एतदर्थ उस युद्ध में किसी योद्धा ने चन्द्रहास नामक असि पुत्री (तलवार) को या चन्द्रहास नामक मुक्तामाला को, अपने गले का अलङ्कार बना लिया । यहाँ समासोक्ति अलङ्कार मनोरम है । इसी प्रकार त्रयोदश सर्ग में भी यह अलङ्कार अपना पूर्ण साम्राज्य स्थापित किये हुए है -

''रजस्वलामर्ववरा धरित्रीमालिङ्ग्य दोषादनुषङ्गजातात् ।
ग्लानिं गता: स्नातुमित: स्म यान्ति प्रोत्थाय ते सम्प्रति सुस्रवन्तीम् ।।''[90]

प्रकृत श्लोक में घोड़े धूलिमयी भूमि में लोटकर स्नान करने के लिये नदी में पहुँचे। यहाँ पर रजस्वला भूमि का घोड़ों ने आलिङ्गन कर परन्तु सम्पर्क वशात् उत्पन्न दोष से मलिन हो वहाँ से उठकर स्नान करने के लिये नदी में गये । 'रजस्वला' शब्द श्लिष्ट होकर 'रज' अस्ति अस्यामिति रजस्वला' धूलिमयी भूमि यह प्रकृत वर्णन में है तथा रजोधर्म से युक्त नायिका सुन्दरी का आरोप किया गया है । रजोधर्म युक्त स्त्री के स्पर्श में दोष माना जाता है । आलिङ्गन की बात ही क्या है ? इसलिये मन में मालिन्य आ जाना सुतराम् सिद्ध है । तदनन्तर पवित्र

होने के लिये स्नान करना भी न्यायोचित है। यहाँ 'धरित्री' (भूमि) पर रजस्वला धर्म युक्त नायिका का आरोप एवं "अर्वंवरा' में अर्वमु वरा: इति अर्ववरा:' श्रेष्ठ घोड़े यह प्रकृत अ: है। परन्तु श्रेष्ठ नायक के व्यवहार का आरोप किया गया है। जिसमें स्पर्श होने के कारण स्नान करने की भावना एवं उसके अनुसार कार्य करना न्यायोचित वर्णन किया गया है। अत: समासोक्ति अलङ्कार रम्य है। इसी प्रकार निम्नस्थ श्लोक भी इस अलङ्कार से वंचित नहीं है

"वलात्क्षतोत्तुङ्गनितम्बबिम्बा मदोद्धतैः सिन्धुवधूर्द्विपेन्द्रै :।
गत्वाङ्कमम्भोजमुखं रसित्वाऽभिचुक्षुमेऽसौ कलुषीकृताऽऽरात् ॥"[91]

यहाँ गजराजों ने हठात् नदी के नितम्ब (तट) को मदांधता वश नष्ट कर दिया तथा मध्य भाग में पहुँचकर कमल मुख का चुम्बन किया इससे स्वच्छन्दगामी गजराजों के कृत्य से वह नदी (नायिका) मलीनता (कालुष) में भर गयी। स्वतन्त्रगामी पुरुषों के कुकृत्यों से सत्कुल प्रसूत नायिका में कालुष्य आना स्वाभाविक सिद्ध है। यहाँ नदी में ऐसी नायिका का आरोप एवं स्वछन्दगामी नायक का आरोप गजराज पर किया गया है। इसी प्रकार नायक नायिका व्यवहारारोप से समासोक्ति अलङ्कार रमणीक दिखाया गया है।

17. **श्लेष:** इस महाकाव्य में श्लेषालङ्कार भी अपना व्यापक स्थान रखता है। श्लेषालङ्कार के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि जहाँ अनेक अर्थ के बोधक शब्द प्रयोग किये जाते हैं। (एवं एककाल में दोनों अर्थों का भाव होता हो) वहाँ श्लेषालङ्कार होता है। शब्द अर्थगत होने से यह द्विधा काव्य बन जाता है। शब्द श्लेष वर्ण, प्रत्यय, लिङ्ग प्रकृति, पद, विभक्ति वचन, एवं भाषाओं के श्लेष से आठ प्रकार का बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ शब्द परिवर्तन के योग्य नहीं होता वहाँ शब्द श्लेष होता है। जहाँ शब्द परिवर्तन करने पर भी अर्थ श्लेष बैठा रहता हो वहाँ अर्थ श्लेषालङ्कार होता है। इस अलङ्कार में प्राचीनों के मतों को लेकर विशाल शास्त्राथ का भू-भाग खड़ा किया गया है। परन्तु अन्वय व्यतिरेक कसौटी को लेकर शब्द श्लेष एवं अर्थ श्लेष का आचार्य विश्वनाथ ने निर्धारित किया है। प्रकृत महाकाव्य में अनेकश: स्थलों में श्लेषालङ्कार का प्रयोग किया गया है[92]। जैसे : अर्थ श्लेष का एक उदाहरण-

"सकरः सकरङ्कभावतस्तां फलवत्तां नृपतेः समाह शास्ताम्।
धरति श्रियमेष एव मुक्तः सुतरां सोऽद्यो बभूव सार्थसूक्तः ॥"[93]

इस पद्य में कन्यादान के प्रसङ्ग में श्लेषालङ्कार का अतीव रम्य प्रयोग किया गया है। महाराज अकम्पन श्री को धारण करने से नामत: श्रीधर तो थे ही परन्तु 'करङ्क' अर्थात् झारी से जल छोड़ने एवं कन्या रत्न सुन्दरी सुलोचना को समर्पण करने के कारण वास्तविक श्रीधर लक्ष्मी की उद्‌गम स्थान समुद्र बन गये। यहाँ 'धरति श्रियमेष' इस वाक्य में श्री शब्द श्लिष्ट

होने के कारण श्रीधर का अर्थ शोभा सम्पत्ति को धारण करने वाले एवं लक्ष्मी को धारण करने वाले समुद्र अर्थ में भी प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार लक्ष्मी का उद्गम स्थान समुद्र है उससे रत्नों की उत्पत्ति हुई तथा कन्या रत्न लक्ष्मी को दुश्मन हेतु अर्पण किया था। प्रकृत पद्य में अकम्पन श्रीधर हैं जो सम्पत्ति को धारण करने वाले एवं सुलोचना रूप कन्या रत्न जय के हेतु अर्पण करते हैं। अतएव ये भी समुद्र (रत्नाकर) हैं। इस महाकाव्य में अनन्त श्लोकों में इस अलङ्कार का प्रयोग हुआ है।

सप्तम सर्ग के निम्नलिखित श्लोक इस अलङ्कार के लिये द्रष्टव्य है

''अर्क एव तमसावृतोऽधुना दर्शघस्त्र इह हेतुनाऽमुना।
एत्यतो ग्रहणतां श्रियः प्रिय इत्यभूदपि शुचा सविक्रयः॥''[193]

प्रस्तुत पद्य में जयकुमार ने सोचा कि देखो, अमावस्या के दिन सूर्य के समान इस मांगलिक बेला में तेजस्वी अर्ककीर्ति भी रोष रूप राहु द्वारा ग्रस्त होकर ग्रहण भाव को प्राप्त हो रहा है। यह सोचकर सुलोचना का पति जयकुमार भी कुछ विकार को प्राप्त हुआ। इसमें श्लेषालङ्कार अनुपमेय है।

ऐसे ही इसी सर्ग का अवधेयार्थ पद्य में श्लेष निरूपम है

''सोमजोज्ज्वलगुणोदयान्वयाः सम्बभुः सपदि कौमुदाश्रयाः।
येऽर्कतैजसवशंगताः परे भूतरे कमलतां प्रपेदिरे॥''[194]

प्रकृत श्लोक में कहा गया है कि सोम या चन्द्रमा के गुणों से प्रेम रखने वाले रात्रि को विकसित करने वाले कुमुद होते हैं, जबकि कमल (अपने विकास के लिये) सूर्य के अधीन होते हैं। इसी प्रकार जयकुमार भी सोम नामक राजा से उत्पन्न और सौजन्यगुणादि उज्ज्वल गुणों से युक्त थे। अतः उनके अनुयायी लोग शीघ्र ही कौमुदाश्रय हो गये। अर्थात् भू मण्डल पर हर्ष के पात्र बने। किन्तु जो अर्ककीर्ति के प्रताप के अधीन थाना उसके पक्ष में थे वे कमलता को प्राप्त हुए। उनके 'क' अर्थात् आत्मा में मलिनता आ गयी। तात्पर्य यह है कि जयकुमार के पक्ष वाले तो प्रसन्न हो उठे, परन्तु अर्ककीर्ति के पक्ष वाले निराश हो गये। इस प्रकार श्लेष की छटा अद्वितीय है।

18. **अर्थान्तरन्यास:** जयोदय महाकाव्य में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का भी मनोरम निरूपण किया गया है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का यह अर्थ है कि 'अन्य अर्थः अर्थान्तर तस्य न्यासः अर्थान्तरन्यासः।' अर्थात् प्रतिपादित अर्थ के समर्थन के लिये अन्यार्थ का रखना भी अर्थान्तरन्यास कहलाता है। वह समर्थन कहीं सामान्य का विशेष के द्वारा और कहीं विशेष का सामान्य से तथा कार्य का कारण से एवं कारण का कार्य से समर्थन किया जाता है। इस प्रकार चार प्रकार का अर्थान्तरन्यास अलङ्कार निष्पन्न होता है। इन चार प्रकारों में भी समर्थ-समर्थक में कहीं साधर्म्य रहता है और कहीं इससे भिन्न वैधर्म्य

का भी प्रयोग रहता है। इस प्रकार आठ प्रकार का अर्थान्तरन्यास साहित्यदर्पण में निर्दिष्ट है[96]।

जयोदय महाकाव्य का नवम् सर्ग इस अलङ्कार के लिए प्रस्तुत है-

''जयमहीपतुजोर्विलसत्त्रपः सपदि वाच्यविपश्चिदसौ नृपः ।
कलितवानितरेतरमेकतां मृदुगिरो ह्यपरा न समार्द्रता ।।''[97]

जिस समय सुलोचना का जयकुमार के साथ सम्बन्ध निष्पन्न हुआ तथा अर्ककीर्ति के साथ विरोध की भावना गाढ़ी जम गई, उस समय सुलोचना के पिता काशी नरेश अकम्पन ने जयकुमार एवं चक्रवती भरत पुत्र अर्ककीर्ति में उत्पन्न अनैक्य रूप कलङ्क के निवारण के लिये मधुर उक्तियों का प्रयोग कर जय और अर्ककीर्ति में मेल करा दिया। सत्य है मधुर वाणी से बढ़कर सम्मेल कराने वाली अन्य कोई योजना नहीं है। प्रकृत पद्य में काशी नरेश महाराज अकम्पन ने जो दोनों कुमारों में एकता उत्पन्न करा दिया उसमें प्रवचन पर विपश्चित मधुर वाणी ही समर्थ है। उस विशेष्य वाक्य के समर्थन के लिये सामान्य वाक्य 'मृदुगिरा ह्यपरा न समार्द्रता' से समर्थन कर दिया गया है।

नीचे प्रस्तुत पद्य में अर्थान्तरन्यास से पूर्ण है -

''अयमयच्छदःधीत्य हृदा जिनं तदनुजां तनुजाय रथाङ्गिनः ।
सुनयनाजनकोऽयनकोविदः परहिताय वपुर्हि सतामिदम ।।''[98]

जिसका तात्पर्य है कि सुमार्ग विज्ञाता महाराज अकम्पन ने सुलोचना की अनुजा को भगवान् जिन का स्मरण कर चक्रवती पुत्र अर्ककीर्ति को अर्पण कर दिया। क्योंकि सज्जनों का शरीर परोपकार के लिये ही होता है। यहाँ पर भी ''परहिताय वपुर्हि सतामिदम्'' इस सामान्य वाक्य से उपरोक्त विशेष कथन का समर्थन किया गया है।

अग्रिम श्लोक भी इस अलङ्कार से शून्य नहीं है। यथा -

''मनसि तेन सुकार्यमथार्यतः प्रतिनिवृत्त्य यथोदितकार्यतः ।
हृदनुकम्पनमीशतुजः सता क्रमविचारकरी खलु वृद्धता ।।''[99]

इस पद्य में आदिनाथ (आदि पुरुष) के पुत्र भरत को अपने अनुकूल बनाना ही उचित है। ऐसा यथोचित कार्यो से निवृत्त होकर अकम्पन ने विचारा। क्योंकि वृद्धता सदैव क्रमिक कर्तव्यता का उचित विचार करती है। यहाँ पर 'क्रमविचारकरीखलुवृद्धता' इस सामान्य वाक्य के द्वारा समर्थन किया गया है। यद्यपि उत्प्रेक्षा वाचक शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु उससे किसी भी प्रकार उत्प्रेक्षा सम्भव नहीं है। अतः वह निश्चयार्थक मात्र का बोधक है।

इसी सर्ग का एक और दृष्टान्त प्रस्तुत है -

"अहमहो हृदयाश्रयवत्प्रजः स्वजनवैरकरः पुनरङ्गजः ।
भवति दीपकतोऽञ्जनवत्कृतिर्न नियमा खलु कार्यकपद्धतिः ॥"[100]

जिस समय महाराज अकम्पन ने सुमुख नामक दूत को समन्वय हेतु चक्रवती भरत के पास भेजा और दूत के मुख से अपने पुत्र अर्ककीर्ति एवं सोम वंशावतंश जयकुमार के वृतान्त को श्रवण कर भरत को हार्दिक कष्ट हुआ विरोध परिस्थिति को वे सहन करने में समर्थ नहीं हुए। इसलिये अपने पुत्र अर्ककीर्ति को ही दोषी ठहराये। उन्होंने कहा कि अर्ककीर्ति आत्मीय जन से ही बैर करने वाला हो गया। प्रदीप से कज्जल की उत्पत्ति होना सत्य ही है। कारणानुसार कार्य होता है यह सर्वथा निश्चित नहीं है। यहाँ पर भी 'न नियमा खलु कार्यक पद्धति' इस वाक्य द्वारा मेरे जैसे सत्कुल में अर्ककीर्ति दीपक से उत्पन्न कज्जल की भाँति आत्मीयजनों से विरोधकर कलङ्क उत्पन्न कर दिया। यह कार्यकारण भाव विरुद्ध है, क्योंकि सत्कुल से उत्पन्न व्यक्ति में कलङ्क नहीं आना चाहिए। परन्तु यहाँ कलङ्क अर्ककीर्ति बताया जा चुका है। अतएव कारणानुसार कार्य होता है यह नियम सर्वथा निश्चित नहीं है। इस प्रकार विशेष का सामान्य से समर्थन किया गया है।

19. **पर्यायोक्त :** जहाँ प्रकारान्तर से व्यङ्ग को ही वाक्य रूप में कह दिया जाय, वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है[101]।

जो पर्यायोक्त अलङ्कार गूढ़ प्रतीत होता है एवं आचार्यो का जिसके सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है, उस पर्यायोक्त अलङ्कार के चयन में भी ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री चुके नहीं हैं। जैसे-

"विशालं शिखरप्रोतवसुसञ्चयशोचिषाम् ।
निचयैस्तु सुनाशीर-व्योमयानं जहास यत् ॥"[102]

इसमें यह वर्णन किया गया है कि जयकुमार के विवाह काल हेतु जो मण्डप बना हुआ था वह अत्यन्त विशाल था उसके ऊपरी भाग में ओतप्रोत रत्न राशियों की कान्ति के समूह से इन्द्र विमान का भी उपहास कर रहा था। वह विवाह मण्डप इन्द्र विमान से भी अत्यन्त रमणीय था, यह ध्वनि व्यक्त करने के लिये श्लोक का प्रयोग किया गया है। परन्तु उपहास आदि कह करके वह ध्वनि वाच्य सदृश प्रतीत हो रहा है। अतएव पर्यायोक्त अलङ्कार मनोहर है।

20. **विरोध:** जहाँ विरोध सा भान होता हो उसे विरोधाभासालङ्कार कहते हैं। जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य, इन चारों या जहाँ परस्पर विरोध प्रतीत हो इस दृष्टि से यह अलङ्कार दस प्रकार का बन जाता है। अर्थात् गुण क्रिया, द्रव्य के साथ गुण विरुद्ध सा प्रतीत हो वहाँ तीन भेद होंगे। क्रिया द्रव्य के साथ जहाँ क्रिया विरुद्ध रूप से प्रतीत हो वहाँ

भी दो प्रकार का विरोध निष्पन्न होगा एवं द्रव्य का द्रव्य के साथ विरुद्ध प्रकृति में एक प्रकार का विरोध होगा। ऐसे ही जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य के साथ पारस्परिक जाति विरुद्ध प्रतीत हो वहाँ चार प्रकार के विरोध होंगे। इस तरह दस प्रकार का विरोधाभास निष्पन्न होता है[103]।

विरोधाभास अलङ्कार का इस महाकाव्य में अधिकांशत: प्रयोग दिखायी देता है। जैसे

''विषमेषुहितेनैव समेषु हितकारिणा ।
''सन्देहधारिणाप्यारात् सन्देहप्रतिकारिणा ॥
तदा सन्मूर्धिनस्तेन मूर्ध्नि रत्नं तदापि सत् ।
मृदुरगुणानुसारेणऽसुदृक सिद्धान्तशालिना ॥''[104]

यहाँ वर्णन है कि जो कामदेव के सदृश सुन्दर और भद्र व्यक्तियों का हित करने वा है सुन्दर शरीरधारी एवं सन्देह का निवारक है सुलोचना के सौन्दर्य आदि गुणों के सेट होना ह ।' भी प्राणी के दर्शन का अभिप्राय (सुलोचना मिलने पर ही जी सकूँगा, इस प्रका रखने . ना है सज्जनों के शिरोमणि उस जयकुमार ने अपने मस्तक पर मनोहर मणिमय मु धा ' किया। यहाँ शाब्दिक विरोध प्रतीत होता है। इसी प्रकार अट्ठाइसवें सर्ग में भी उस अत्यन्त रम्य प्रयोग ह । यथा

''सदाचार विहीनोऽपि सदाचारपरायण: ।
स राजापि तपस्वी सन् समक्षोऽप्यक्षरोधक: ॥''[105]

जयकुमार में वीतरागता उत्पन्न होने पर तपश्चर्या की प्रवृत्ति का गति विधि के प्रसंग काल में स्थिति का वर्णन करते हुए महाकवि ने व्यक्त किया है कि वह जयकुमार सदाचारहा होते हुए भी सदाचार में तत्पर बना। राजा होते हुए भी तपस्वी हुआ समदृष्टि रखने ह भा समदृष्टि का निवारक बना। यहाँ कथन विरुद्ध है क्योंकि सदाचारहीन होने पर सदाच में तत्पर नहीं रहा जा सकता। इसका परिहार यह है कि वह गुप्तचर के हीन। अथात् गुप्तच से शून्य होकर जन वर्ग से पृथक् हो) सदाचार में तत्पर हुआ। राजा होते हुए भी तपश्चरण विरुद्ध वस्तु है। इसका परिहार यह है कि वह दीप्तिमान (कान्तिशाली) होते हुए भी तपश्चय में प्रवृत्त हुआ। समदृष्टि और समदृष्टि का प्रतिबन्धक होना विरुद्ध है। इसका परिहार यह है कि वह सबके प्रति समान दृष्टि रखते हुए भी अक्ष विरोधक अर्थात् जितेन्द्रिय बना

इसी प्रकार निम्नस्थ श्लोक में भी यह अलङ्कार चित्ताकर्षक है -

''अनेकान्तप्रतिष्ठोऽपि चैकान्त स्थितिमभ्यगात् ।
अकायक्लेशसम्भूत: कायक्लेशमपि श्रयन् ॥''[106]

वह एकान्त में स्थित नहीं था और एकान्त स्थिति में था यह विरुद्ध है। इसका परिहार है कि उसकी स्थिति अनिश्चित रूप में नहीं थी अर्थात् दृढ़ थी। चंचलता का अभाव एवं

एकान्त में अपनी अर्थात् आसन को प्राप्त हुआ। काय क्लेश से रहित होना एवं काय क्लेश को सहन करना ये भी विरुद्ध वस्तु है। इसका परिहार है कि शारीरिक क्लेश से वह कभी पराजित नहीं हुआ और पंचक्लेश को सहन किया।

इसके कुछ उदाहरण और दर्शनीय हैं -

(अ) ''नीरसत्वमथावाच्छत्समीनपरिणामवान् ।
नदीनभावमापापि निर्जरोक्तगुणाश्रयात् ॥''[107]

(ब) ''नानात्मवर्त्तनोप्यासीद् बहुलोहमयत्वतः ।
समुज्वल गुणस्थानग्रहोऽभुत्तन्तुवायवत् ॥''[108]

(स) ''क्षमाशीलोऽपि सन् कोपकरणैक परायणः ।
बभूव मार्दवोपेतोऽप्यतीव दृढ़धारणः ॥''[109]

(द) ''अप्यार्जवश्रिया नित्यं समुत्सवक्रमङ्गतः ।
पावनप्रक्रियोऽप्यासीत्तदाशौचपरायणः ॥''[110]

(य) ''श्री युक्तदशधर्मोऽपि नवनीताधिकारवान् ।
तत्वस्थिति प्रकाशाय स्वात्मनैकायितोऽप्यभृत् ॥''[111]

इसके अतिरिक्त अन्यत्र सर्गों में भी इसी प्रकार देखने को मिलता है।

21. **विभावना:** जहाँ हेतु के बिना कार्योत्पत्ति बतायी जाय यद्यपि हेतु के बिना कोई कार्य होना नहीं है। तथापि कारणान्तर की अपेक्षा करके मुख्य कारण न कहकर कहा गया हो, कारणान्तर कहीं उक्त रहता और कहीं अनुक्त इस प्रकार विभावनालङ्कार के दो भेद भी होते हैं[112]।

उदाहरण

''फुल्लवत्यसङ्गाधिपतिं मुनीनमवेक्ष्यमाणो बकुलः कुलीनः ।
विनैव हालाकुरलान् वधूनां व्रताश्रितिं वागतवानदूनाम् ॥''[113]

परिग्रह शून्य लोगों के अधिपति मुनिराज को देखकर कुलीन मौलश्री का वृक्ष वधुओं के मद्यपूर्ण कुल्ले के बिना ही विकसित हो गया। (यह कवि समय ख्याति है कि मौलश्री का वृक्ष मद्यपान कर सुन्दरियों के कुल्ले से विकसित होता है) कवि समय ख्याति के प्रसङ्ग में साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि बिना मद्यपूर्ण मुख के कुल्ले के ही मौलश्री के विकसित होने का वर्णन किया गया है। अतएव विभावना अलङ्कार है। मुनिराज को देखकर विकसित होने के कथन से उक्त निमित्तक विभावना अलङ्कार है,[114] जो विनोक्ति से अनुप्राणित है।

इसी प्रकार अधोलिखित पद्य में भी यह अलङ्कार द्रष्टव्य है -

"अशोक आलोक्य पतिं ह्यशोकं प्रशान्तचित्तं व्यकसत्सुरोकम् ।
रागेण राजीवदृशः समेतं पादप्रहारं स कुतः सहेत ॥"[115]

यहाँ प्रशान्तचित्त, शोकरहित मुनिराज को देखकर अशोक वृक्ष स्वयं ही विकसित हो गया । ऐसा वर्णन किया गया है । यह विकास भी नायिका पादप्रहार के बिना ही दिखाया गया है । अतएव ये भी उक्त निमित्तक विभावना अलङ्कार है ।

22. **समालङ्कार** : जहाँ योग्य वस्तु का उसके अनुकूल प्रशंसनीय योजना (सम्बन्ध) बनायी जाय वहाँ समालङ्कार होता है[116] ।

जयोदय महाकाव्य में समालङ्कार के निरूपण में कवि अनायास वर्णन में सिद्धहस्त प्रतीत होता है । जैसे

"मुकन्दशम्पे च कलङ्किरात्री विषादिदुर्गे स्मरशर्मपात्री ।
विधेश्च संयोजयतोऽभ्युपायः परस्पर योग्यसमागमाय ॥"[117]

इसमें कहा गया है कि विधाता ने (मुकन्द शोभन रूपेण कंजलं ददातीति कन्दो मेघः शम्याशं शान्तिं पातीति शम्पा विद्युतः) मेघ और बिजली का परस्पर साहचार्य बनाते हुए, कलङ्की चन्द्ररात्रि अन्धकार पूर्ण तमिस्रा इन दोनों का सम्बन्ध जोड़ते हुए बिषादी शङ्कर (विषमत्ति तच्छील: विषादी) एवं दुर्गा (दुःखेन गम्यते इति दुर्गा) का सम्बन्ध जोड़ते हुए इसी प्रकार स्मर (स्मरण योग्य) कामदेव के साथ शर्मकारिणी रति का समागम कर विधाता यह सूचित करते हैं कि उनका उद्योग पारस्परिक सम्बन्ध सदैव योग्य के साथ ही होता है । अतएव इस विषय में विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि विधाता सुलोचना का सम्बन्ध योग्य के साथ ही करेंगे। यहाँ योग्य के साथ समागम का वर्णन करने मे समालङ्कार है ।

ऐसे ही इसी सर्ग का अग्रिम श्लोक भी इसी अलङ्कार का पोषक है ।

"अदृश्यरूपा वितनो रतिर्व्यभादभृत् सुभद्रा भरतस्य वल्लभा ।
वरिष्यति त्वां तु सतीति सत्तम चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः ॥"[118]

इसमें कहा गया है कि शरीर रहित (अनङ्ग) कामदेव से ही अदृश्य रूपा रति का सम्बन्ध सुशोभित हुआ है । उसी प्रकार सुभद्रा का सम्बन्ध चक्रवर्ती महाराज भरत से हुआ। ऐसा देखने से यह प्रतीत होता है कि सती सुलोचना, हे राजकुमार ! तुम्हारा ही वरण करेगी। क्योंकि योग्य के साथ योग्य का सम्बन्ध ही सुशोभित होता है ।

23. **काव्यलिङ्ग** : जहाँ किसी वस्तु के प्रति वाक्यार्थ या पदार्थ कारण दिखाये जाते हों, वहाँ काव्यलिङ्गालङ्कार होता है[119] । जैसे -

"भुजो रुजोऽङ्कोऽम्बुजकोषकाय करं त्वमुष्याः कमलं विधाय ।
कन्दप्रकारो जगदेकदृश्य समुत्करः शेष इहास्तु यस्य ॥"[120]

सुलोचना के वर्णन में महाकवि ने कहा है कि विधि के ज्ञाता विधाता ने सुन्दरी सुलोचना के दोनों हाथों का निर्माण उस निर्माण सामग्री से बचे हुए कूड़ा करकट से कीचड़ से कमलों का निर्माण हुआ । यहाँ 'पङ्कात् जायते इति पङ्कजम्.' पंक से उत्पन्न हुआ (कमल) यह व्युत्पत्ति कमल के सम्बन्ध में शेष कूड़ा करकट कीचड़ से निर्मित होने में हेतु है अतएव पद हेतु मूलक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । इसी प्रकार इसी सर्ग का निम्नश्लोक इससे अछूता नहीं -

"कुशेशयं वेद्मि निशासु मौनं दधानमेकं सुतरामघोनम् ।
मुखस्य यत्साम्यमवाप्तुमस्या विशुद्धदृष्टे कुरुते तपस्याम् ॥"[121]

चारुनेत्री सुलोचना के मुख की समानता को प्राप्त करने के लिये कमल कुशे शय अर्थात् कुश आदि पर व्रती की भाँति मौनी बन जाता है तथा अनन्य (अद्वितीय) तपश्चर्या करता है । अतः यह सिद्ध है कि वह पाप से रिक्त है । कमल को कुशेशय कहते ही हैं। रात्रि में विकसित न होने के कारण मुख का संकुचित होना स्वाभाविक है । परन्तु कवि ने इस वाक्य को सुलोचना के मुख के साथ समता प्राप्त करने के लिये ही वह तपस्या कर रहा है एवं मौन धारण किये हुए है । यह वाक्य हेतु बन जाता है । अतः काव्यलिङ्गालङ्कार है । साथ ही 'वेद्मि पद कमल में तपश्चर्या मौनता कुश (तृण) आदि विराजमानता उत्प्रेक्षालङ्कार को भी पुष्ट करता है ।

अधोलिखित श्लोक में भी यह अलङ्कार रम्य है

"अधः स्थितायाः कमलेक्षणाया निरीक्षमाणो मृदुकेशपाशम् ।
भुजङ्गभुङ् निर्जितबर्हभारं द्रुतं द्रुमाग्रात्समदुद्रवत्सः ॥"[122]

यहाँ सुलोचना के विवाह के अवसर पर कोई स्त्री मार्ग जन्य थकावट को दूर करने के लिये किसी वृक्ष के नीचे आकर खड़ी हो गयी । उसके मयूर के पंख को जीतने वाले कोमल केशपाश को देखने वाला मयूर अपने पंख भार को पराजित समझकर शीघ्र ही उस वृक्ष पर से भग गया

यहाँ पर मयूर के भागने में सुन्दरी के कोमल केशपाश को देखने का हेतु रूप में वर्णन किया गया है । अतएव यह वाक्य हेतुक काव्य लिङ्ग अलङ्कार है ।

24. **अनुमान :** इस महाकाव्य में अनुमान अलङ्कार भी यत्र तत्र पूर्णरूप में सन्निविष्ट मिलता है । जहाँ पर कवि प्रतिभोत्थापित चमत्कार से व्यापक साध्य का साधन के द्वारा सिद्धि दिखायी जाय वहाँ अनुमानालङ्कार होता है[123] । जयोदय महाकाव्य का प्रस्तुत उदाहरण इस अलङ्कार से परिपुष्ट है -

"आजिषु तत्करवालैर्हयक्षुरक्षोदितासु संपतितम् ।
वंशान्मुक्ताबीजं पल्लवितोऽभूद्यशोद्रुरितः ॥"[124]

इस पद्य में युद्धस्थल में एक राजा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि युद्ध भूमि घोड़ों की खुरों से जिसकी पृथ्वी चूर्ण हो गयी है, वहाँ पर उस राजा के तलवार से हाथियों के जो कुम्भस्थल छिन्न-भिन्न किये गये। उनसे गजमुक्त रूपी बीज गिर पड़ा है। अतएव उस बीज से उक्त राजा का यशस्वी वृक्ष पल्लवित हो रहा है। बीज से वृक्षोत्पत्ति का होना कार्यकारण मूलक अनुमान अलङ्कार सुस्पष्ट है। यहाँ गजमुक्त बीज से राजा के यशो वृक्ष का प्रसृत होना दिखाया गया है। अतएव अनुमानालङ्कार अपने रूप में परिपुष्ट है। श्वेतमुक्तामणि बीज से श्वेत यश की उत्पत्ति का होना समुचित ही है।

इसका एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है -

"स्तनश्रिया ते पृथुलस्तनी भो नदं न यातीति तिरोभवेति ।
लब्धप्रतिद्वन्द्विपदो मदेन निषादिनोक्ता प्रमदा पथिस्था ॥"[125]

इस पद्य में किसी सुन्दरी को देखकर जो मार्ग में खड़ी है, एक हस्तिपक (पिलवान) उससे कहता है कि हे स्थूल स्तनी! प्रमदा यह मेरा हाथी तुम्हारे स्तन शोभा से अपना प्रतिद्वन्द्वी समझकर आगे नहीं बढ़ रहा है अर्थात् नदी में प्रवेश नहीं कर रहा है। इसलिए तुम कहीं छिप जाओ। जैसे एक गज अपने प्रतिद्वन्द्वी गज को देखकर खड़ा हो जाता है एवं मत्ततावश आगे नहीं बढ़ता, वैसे ही गज कुम्भस्थल तथा स्थूल स्तनी में द्वन्द्वी प्रतिद्वन्द्वी भाव बनाया गया है। जहाँ जहाँ द्वन्द्वी प्रतिद्वन्द्वी भाव होता है वहाँ गतिविधि में शैथिल्य का आना मन्दन का स्वरूप बनना स्वाभाविक होता है। उसी स्वरूप को यहाँ भी कवि ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से इस अलंकार को जड़ दिया।

25. **यथासंख्य:** यथा संख्य का अर्थ है 'संख्यामनतिक्रम्य इति यथा संख्यम्' जहाँ निर्दिष्ट पदार्थों के कथन में क्रम बैठा हुआ हो। प्रथम का प्रथम के साथ, द्वितीय का द्वितीय के साथ तृतीय का तृतीय के साथ निर्देश हो वहाँ यथासंख्य अलङ्कार होता है'। इस महाकाव्य में यथासंख्य अलङ्कार का अपना उत्तम स्थान है। जैसे

"जिह्वया गुणिगुणेषु संजरंचेतसा खलजनेषु संवरम् ।
निर्बलोद्धृतिपरस्तु कर्मणा स्वौक एकमभवत्तु शर्मणाम् ॥"[126]

प्रकृत पद्य में यह दिखाया गया है कि वह राजा जयकुमार जिह्वा से गुणियों के गुणों का गान करता हुआ चित्त से दुर्जनों का निरोध करता हुआ कर्तव्य से निर्बलों के उद्धार में तत्पर होता हुआ अपने और दूसरों के कल्याण के लिये वह एक अद्वितीय स्थान बना। यहाँ प्रथम गुणी जनों में तत: खल जनों में तत्पश्चात् निर्बलों की रक्षादि में तत्परता का वर्णन किया गया है। इस प्रकार क्रमिक स्वरूप होने से एवं सुन्दर-असुन्दर दोनों प्रकार के योगों का वर्णन होने से सदसद् योग यथासंख्य अलङ्कार का रम्य प्रयोग है।

26. **परिवृत्ति :** पदार्थों का समान या असमान पदार्थों के साथ जो परिवर्तन का वर्णन है, यह परिवृत्ति अलङ्कार होता है[128] । आचार्य विश्वनाथ ने भी इसका लक्षण साहित्य दर्पण में दिया है । जिसका आशय है कि समान और असमान वस्तु का अथवा न्यून से अधिक या अधिक से न्यून वस्तु के विनिमय में परिवृत्ति अलङ्कार होता है[129] । उदाहरण द्रष्टव्य है-

"हारं हृदोऽनुकूलं स समवाप्य महाशयः ।
जयः समादरात्तस्मा युपहारं वितीर्णवान् ।।"[130]

यहाँ कहा गया है कि जयकुमार को हृदयानुकूल हार प्राप्त हुआ जिसे प्राप्तकर उदारचित्त उस राजकुमार ने लाये हुए दूत को अत्यन्त आदर के साथ उपहार (पारितोषिक) प्रदान किया। हार को पाकर उपहार देना यद्यपि हार में दो अक्षर हैं और उपहार में चार अक्षर हैं प्राप्त की अपेक्षा अधिक प्रदान कर जयकुमार के माध्यम से अधिक प्रदान कराकर परिवृत्ति अलङ्कार व्यक्त किया गया है ।

27. **अर्थापत्ति :** आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इस प्रकार कहा है कि जो दण्ड को खा सकता है, वह अपूप भी खा सकता है। कहीं पर प्राकरणिक अर्थ से अप्राकरणिक अर्थ की प्राप्ति और कहीं अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ का उपस्थित होना अर्थापत्ति अलङ्कार बन जाता है[131] । जैसे 'मुक्तानामप्यस्थेयं के वयं स्मरकिङ्कराः ।' अर्थात् मुक्तों की भी ये स्थिति हो जाती है । कामदेव के दूत हम लोगों की क्या बात है ? अर्थापत्ति से भी यह महाकाव्य रिक्त नहीं है । इसके भी यत्र तत्र प्रयोग मिलते हैं । जैसे -

"मतङ्गजानां गुरुगर्जितेन जातं प्रहृष्यद्धयगर्जितेन ।
अथो रथानामपि चीत्कृतेन छन्नः प्रणादः पटहस्य केन ।।"[132]

युद्धस्थल में यद्यपि हाथियों की भयंकर गर्जना होती थी, घोड़ों की हिनहिनाहट भी हो रही थी रथों का चीत्कार भी हो रहा था तथापि पटः (नगाड़े) की ध्वनि को कौन छिपा सका ? अर्थात् नगाड़े की ध्वनि जो युद्धकाल में शौर्योत्पादन हेतु बजाया जाता है, उसे कोई भी नहीं छिपा सका ।

श्लोकगत 'पटः' की ध्वनि को किसने छिपा लिया ? अर्थात् कोई भी नहीं छिपा सका। इस श्लोक में सम्पूर्ण चारुता अर्थापत्ति पर ही अवलम्बित है ।

28. **समुच्चयालङ्कार :** जहाँ प्रस्तुत पदार्थ के लिये कारण दिखाया जाय और वे कारण "खलेकपोतिका न्याय" से बताये जाँय तो वहाँ समुच्चयालङ्कार होता है[133] । तात्पर्य यह है कि जहाँ धान्यादि फसल को बैल आदि के द्वारा धान्य राशि निकालने के लिये दौरी कर सुखाया जाता है वहाँ कपोतों का झुण्ड एक ही साथ खाने के उद्देश्य से पहुँच

जाता है। वैसे ही इस अलङ्कार में कार्य के प्रति कारण ही एक काल में पहुँचते हैं। एक काल में दो गुण या दो क्रिया बतायी जाय अथवा एक गुण और एक क्रिया एक काल में बतायी जाँय तो वहाँ भी समुच्चयालङ्कार होता है। इन चारों प्रकार के समुच्चयालङ्कार में कहीं सुन्दर वस्तुओं का योग कहीं असुन्दर वस्तुओं का योग और कहीं सुन्दरासुन्दर दोनों का योग रहता है। इस प्रकार यह अलङ्कार बारह प्रकार का निष्पन्न होता है।

जयोदय महाकाव्य में यह अलङ्कार अत्यल्प है, किन्तु जो प्राप्त है, वह हृदयाह्लादक है -

"स्यन्दनैस्तु यदकृष्यतात्र भूर्वाजिराजशफटङ्कणाऽप्यभूत् ।
दानवारिभिरपूर्यतासकन् मत्तहस्तिभिरमुष्य हेऽर्थकृत ॥"[134]

यहाँ वर्णन किया गया है कि जो भूमि जयकुमार के रथों से खोदी गयी वहीं घोड़ों की खुरों से छिन्नी की तरह फोड़ दी गयी, तथा मदश्रावी हाथियों के द्वारा भर दी गयी।

इस प्रकार जयकुमार के पुण्य प्रभाव से खेती का कार्य अनायास ही स्वतः पूर्ण हो गया। कृषि कार्य के लिये अनेक कारणों की जैसे जोतना, ढेलों को फोड़ना और पानी से सींचना ये तीनों अपेक्षित होते हैं। इन तीनों कारणों की जयकुमार के पुण्य प्रभाव से अनायास ही शुद्ध बताया गया है। अतः समुच्चयालङ्कार दिव्य है। इसी प्रकार बहुशः श्लोक प्रकृत अलङ्कार के लिये महाकाव्य में भरे हुए हैं।

29. **प्रतीपालङ्कार:** जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कर दिया जाय अथवा उपमान को व्यर्थ बताया जाय या उसका तिरस्कार किया जाय वहाँ प्रतीपालङ्कार होता है[135]। निम्नलिखित श्लोक में प्रतीप का चयन अनूठा है।

"इहाङ्गसम्भावितसौष्ठवस्य श्रीवामरूपस्य वपुश्च यस्य ।
अनङ्गतामेव गता समस्तु तनुः स्मरस्यापि हि पश्यतस्तु ॥"[136]

इसमें जयकुमार के शरीर का वर्णन किया गया है कि इस संसार में उसके शरीर में अद्भुत सौन्दर्य रहा जिसको देखने मात्र से ही कामदेव का शरीर अनङ्गत्व को प्राप्त हो गया अर्थात् महादेव के समाने कामदेव अनङ्ग बना है। फिर भी जयकुमार के लोकोत्तर सौन्दर्य के सम्मुख वह विकृत रूप हो गया।

यहाँ कामदेव उपमान और जयकुमार उपमेय रूप में न दिखाकर उपमान को ही तिरस्कृत कर दिया गया। अतः प्रतीपालङ्कार सुस्पष्ट है।

30. **तद्गुण :** जहाँ अपने गुण को त्यागकर दूसरे के गुण को ग्रहण किया जाय वहाँ तद्गुण अलङ्कार होता है[137]। तद्गुण अलङ्कार भी सुलोचना के वर्णन प्रसङ्ग में रम्य रूप में निरूपित है

"सुभगा हि कृता यत्नद्विधिनाऽथ प्रियंवदः ।
दत्त्वा स्मरो विलासादि सुवर्ण सुरभीत्यदः ॥"[138]

प्रकृत पद्य में कुमारी सुलोचना को विधाता ने बड़े परिश्रम से अति सुन्दरी के रूप में बनाया । फिर मधुर भाषी कामदेव ने विलास आदि स्त्री विभ्रमों को अर्पण कर उसमें सुवर्ण सुगन्ध ला दिया । यद्यपि स्वर्ण में सुगन्ध नहीं होता, अपितु पुष्प में ही होता है । फिर भी कवि ने पुष्पगत सुगन्ध धर्म को स्वर्ण में लाकर सुलोचना को अत्यन्त श्लाघनीय करने के लिये ऐसा वर्णन किया है । अतएव तद्गुणालङ्कार समीचीन है ।

31. **अतद्गुण :** जहाँ पर अन्य गुण ग्रहण के कारण विद्यमान हो फिर भी गुण ग्रहण का अभाव प्रतीत होता हो अर्थात् अपनी सत्ता व्यवस्थित ही रह जाती हो वहाँ अतद्गुण अलङ्कार होता है[139] ।

अतद्गुण अलङ्कार यद्यपि इस महाकाव्य में अपेक्षया कम ही है । क्योंकि अनेक स्थलों में रम्य रूप में चित्रित है । जैसे -

"रथमण्डलनिस्वनैः समं करिणां बृंहितमानिजुह्नुवे ।
पुनरत्र तुरङ्गहेषितं स्वतितारं सुतरामराजते ॥"[140]

विशाल सेना के वर्णन प्रसङ्ग में कहा गया है कि रथ मण्डलों की ध्वनि के साथ साथ हाथियों की गर्जना सर्वत्र व्याप्त हो गयी अर्थात् मिश्रित ध्वनि से सब स्थल व्याप्त हो गये तो भी घोड़ों की वेग से भरी हुई हिनहिनाहट अत्यन्त सुशोभित हुई ।

यहाँ रथ मण्डल की ध्वनि से हस्ति गर्जन का मिलना प्रत्येक स्थानों को व्याप्त करने के लिये वर्णन किया गया है । परन्तु उनमें घोड़ों की ध्वनि इतनी गम्भीर थी कि अपनी स्वरूप सत्ता को ही हिनहिनाहट से व्याप्त कर रही थी । अतएव यहाँ अतद्गुणालङ्कार है । क्योंकि ध्वनियों के मिश्रण होने का वर्णन किया गया है । परन्तु वह मिश्रण ध्वनि घोड़ों की ध्वनि को मिलाने में समर्थ नहीं है । अतः अतद्गुण अलङ्कार परिपुष्ट है ।

शब्दालङ्कार

32. **वक्रोक्ति :** जहाँ पर अन्य का कहा हुआ वाक्य दूसरे के द्वारा अन्यार्थ परक कर दिया जाय वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है । वह अन्यार्थ परता श्लेष मूलक अथवा काकुमूलक होने से दो प्रकार का होता है[141]। निम्नस्थ श्लोक इस अलङ्कार के उदाहरण रूप में विचारणीय है -

"मानिनोऽपि मनुजास्तनुजायामागता रसवशेन सभायाम् ।
जायते सपदि तत्र किमूहः स्वागतः खलु विमानिसमूहः ॥"[142]

प्रकृत श्लोक में वर्णन है कि सुलोचना के स्वयंवर में अनेकों व्यक्तियों का आगमन

हुआ । उस सभा में सुलोचना के प्रति प्रेम भावना से मानी जन पहुँचें तथा मानहीनों का समूह भी विमानारूढ़ देवमण्डल भी आ पहुँचा।

इसमें कोई नर्क की बात नहीं है अथवा कोई आश्चर्य नहीं है । क्योंकि सुलोचना परम सुन्दरी एवं काशी नरेश अकम्पन की राजकुमारी है । मानहीन लोग पहुँचे अथवा देवगण पहुँचे । इसमें क्या विचारणीय है ? अर्थात् कुछ नहीं । इस प्रकार प्रश्न के द्वारा काकुवक्रोक्ति अलङ्कार निष्पन्न होता है ।

33. **स्वभावोक्ति :** इस महाकाव्य में स्वभावोक्ति के पर्याप्त स्थल मिलेंगे । इस अलङ्कार कर लक्षण साहित्यदर्पण में दिया गया है कि बालक आदि पदार्थों के अपनी क्रिया और स्वरूप विधि से वर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं[143] । यह सहृदयों के द्वारा ही वेद्य होता है पामर जनों से गेय नहीं होता । क्योंकि यहाँ विशेष दक्षता के रूप में बोध कराया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति भी ऐसी है 'स्वभावस्य उक्तिर्यत्र स स्वभावोक्तिरलङ्कारः।' विशेष दक्षता से बोध करने में तात्पर्य यह है कि जो पामर जनों से गेय हैं, ऐसी स्वाभाविक चेष्टा वर्णन में यह स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं होगा। जैसे - यह गाय का बच्चा ही अच्छे डील डौल वाला बैल है, मुख से घास खाता है, कामेन्द्रिय से मूत्र क्षरण करता है और अपान मार्ग से गोबर छोड़ता है । यह यथार्थतः स्वाभाविक वर्णन है । परन्तु यहाँ कोई कवि प्रतिभा से सम्बन्धित नहीं है । किन्तु पामर जनों से गेय है । अतएव यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं होगा । ऐसा साहित्यदर्पणकार के टीकाकार कृष्णमोहन ठाकुर ने लिखा है 'गोरपत्यंवलीबर्दे घासमत्ति मुखेन सः। मूत्र मुंचति शिष्नेनअपानेन तु गोमयम् ।'

महाकाव्य से अवतरित श्लोक द्रष्टव्य हैं -

''अयि रूपममुष्य भूषिणः सुषमाभिश्च सुधांशुदूषिणः ।
द्रुतमेत च पश्यतेति वाऽमृतकुल्येव ससार सारवाक् ।''[144]

''अथ राजपथान् जनीजनः सविभूषोऽरमभूषयद् घनः ।
सदनान्मदनादनात्मको वरमागत्य निरीक्षितुं सकः ।।''[145]

प्रस्तुत पद्य द्वय में वर्णित है कि वर के रूप में पहुँचे हुए भव्य सौन्दर्यशाली जयकुमार को देखने के लिये सब लोग उत्सुक हुए एवं राजमार्ग दर्शकों से भर गया । इस प्रकार परस्पर एक दूसरे से कहने लगे कि शीघ्र आइए अपने सौन्दर्य से चन्द्रमा को भी दूषित करने वाले भव्य रूप को देखिये ।

इसी प्रकार पुनः दिया गया है कि स्त्रियों का बहुत बड़ा समूह कामासक्त चित्त वासगृह से निकलकर वर को देखने के लिये राजमार्ग में व्याप्त हो गया । अनुपम अदृष्ट वस्तु को देखने के लिये स्वभावतः सबकी प्रवृत्ति होती है तथा दूसरों को दिखाने के लिये भी प्रयास किया जाता है । उसी के अनुसार यहाँ वर्णन है । इतना ही नहीं आगे के श्लोकों में भी इसकी धारा बहती चली गयी है ।

34. **उदात्त :** जहाँ पर लोकोत्तर धन समृद्धि आदि का वर्णन किया जाय उसे उदात्तालङ्कार कहते हैं तथा वर्णनीय वस्तु का जो सम्पादक हो वह भी उदात्त ही होता है । इस प्रकार अलौकिक सम्पत्ति वर्णन और प्रकृत वर्णनीय सम्पादक के भेद से दो प्रकार का यह अलङ्कार बन जाता है[146] । उदात्त का अक्षरार्थ है कि 'उत् कर्षेण आदीयते गृह्यत इत्युदात्तम्' उत् आङ् पूर्वक (दु दान दाने) दानार्थक दा धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय करके 'अव उपसर्गात्तः' 7/4/47 इस पाणिनि सूत्र से तकरादेश करके निष्पन्न होता है । सुलोचना के सौन्दर्य वैभव के प्रसङ्ग में इस प्रकार दिखाया गया है -

''सुतनुः समभाच्छ्रियाश्रिता मृदुना प्रोच्छनकेन मार्जिताः ।
कनकप्रतिमेव साऽशिताप्यनुशाणोत्कषणप्रकाशिता ॥''[147]

वह सुन्दरी सुलोचना स्नानान्तर कोमल तौलिये मे पोंछी गयी, जिससे उसका सौन्दर्य मान पर चढ़ायी गयी स्वर्ण की प्रतिमा की भाँति और निखर उठी । यहाँ सुलोचना का सौन्दर्य वैभव पहले ही से दिव्य था । परन्तु स्नान के पश्चात् तौली के सम्पर्क से और स्वर्ण प्रतिमा के चाक चिक्य के भाँति अतिरम्य बनाया गया है । अतएव उदात्त अलङ्कार है । यद्यपि इसके मूल में उपमालङ्कार भी बैठा हुआ है तथापि वह अङ्ग है, अङ्गी उदात्त अलङ्कार ही है ।

35. **संसृष्टि :** जहाँ दो अथवा अनेक अलङ्कारों का परस्पर उपकार्योपकारक भाव शून्य एक गद्य या पद्य में 'तिलतण्डुल' न्याय से वर्णन हो वहाँ संसृष्टि नामक अलङ्कार होता है । यह कहीं शब्दालङ्कार मात्र में, कहीं अर्थालङ्कार मात्र में और कहीं शब्दार्थोभयालङ्कार में परस्पर निरपेक्षतावश स्थित होने से तीन प्रकार का माना गया है[149] ।

प्रकृत महाकाव्य के उदाहरण अवलोकनीय हैं-

''पिप्पलकुपलकुलौ मृदुलाणी विलसत एतौ सुदृशः पाणी ।
सहजस्नेहवशादिह साक्षाद्वलयच्छलतः प्रमिलति लाक्षा ॥''[149]

सुलोचना को सुसज्जनावसर में लाक्षा की चूड़ी पहनाये गये, सुलोचना के दोनों कर पिपल के कोपल के समान कोमल थे और लाक्षा पिपल मे उत्पन्न होती है । अतः सहज स्नेह के कारण मानो वह लाक्षा चूड़ी रूप में आकर मिल गयी ।

इस पद्य में स्वाभाविक स्नेह वश लाक्षा हाथ में मिलने का वर्णन कर उत्प्रेक्षा व्यक्त की गयी है । एवं छल शब्द के प्रयोग से कैतवापह्नुति भी व्यक्त होती है । 'मृदुलाणी' 'पाणि' पदो में आणी' यह एकाकार स्वर व्यंजन का पदान्त में प्रयोग होने से अन्त्यानुप्रास भी है। इन सबों का परस्पर निरपेक्षता होने के कारण यहाँ संसृष्टि अलङ्कार है ।

ऐसे ही त्रयोदश सर्ग से प्रस्तुत उदाहरण में यह अलङ्कार मनोरम है-

''नगरी च वरीयसो विनिर्गमभेरीविवरस्य दम्भतः ।
भवतो भवतो वियोगतः खलु दूनेव तदाऽऽशु चुक्षुभे ॥''[150]

जिसमें जयकुमार के काशी नगरी से विदाई के प्रसङ्ग में कहा गया है कि वह सम्पूर्ण काशी नगरी प्रस्थान कालिक भेरी के शब्द के ब्याज से जयकुमार भावी वियोग की आशंका से मानो दु:खित हो, शीघ्र ही क्षोभ को प्राप्त हुए।

इस पद्य में नगरी जो जड़ है, उसमें दु:खी होने की सम्भावना की वाच्योत्प्रेक्षा व्यक्त किया गया है तथा "भवतो-भवतो" पद की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास व्यक्त है क्योंकि लाटानुप्रास पदान्त और अपदान्त में भी होता है। इनकी परस्पर निरपेक्षता होने से संसृष्टि अलङ्कार है।

शब्दालङ्कार

अलङ्कार विवेचन में मैंने कहीं भी क्रम को ध्यान में नहीं रखा है। मम्मट आदि कतिपय आचार्य भी ऐसा ही करते हैं। अत: अर्थालङ्कार के अनन्तर कतिपय शब्दालंकार पर दृष्टिपात करना असमीचीन नहीं होगा।

36. **अनुप्रास :** अनुप्रास अलङ्कार इस महाकाव्य में सर्वत्र व्याप्त है तथापि उसकी यहाँ उत्कृष्टता है ऐसे स्थान भी कम नहीं हैं। जहाँ स्वर की विषमता रहने पर भी व्यंजन वर्ण की समता हो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है[151]। अनुप्रास शब्द का अक्षरार्थ है कि 'अनु' रसों के अनुकूल 'प्र' प्रकृष्ट रूप से वर्णों के आस न्यास (रचना) को अनुप्रास कहते हैं। यदि रस के विपरीत वर्णो का चयन हो जाय तो वहाँ अनुप्रास अलङ्कार मान्य नहीं होगा। इसीलिये साहित्यदर्पण के सप्तम परिच्छेद में वाक्य दोषनिरूपणावसर पर 'वर्णानां प्रतिकूलत्वम्' कहकर वाक्य दोष बतलाया गया है। यह छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, लाटानुप्रास के भेद से पाँच प्रकार का होता है।

(क) **छेकानुप्रास :** व्यंजनों के समुदाय की एक ही बार अनेक प्रकार की समानता होने को 'छेकानुप्रास' कहते हैं[152]। यहाँ अनेक प्रकार की समानता से यह अभिप्राय है कि स्वरूप से भी समानता होनी चाहिए और क्रम से भी। उदाहरण -

"उपांशुपांसुले व्योम्नि ढक्काढक्कारपूरिते।
बलाहकबलाधानान्मयूरा मदमाययु:॥"[153]

इसमें स्वयंवर हेतु ससैन्य जयकुमार का प्रस्थान वर्णन किया गया है। उस समय भेरी के प्रचण्ड ध्वनि से एवं सैन्य से उठी हुई धूलि से आकाश भर गया, जिससे मयूरों में मेघ गर्जन के भ्रम से मद उत्पन्न हो गया। यद्यपि यहाँ भ्रान्ति अलङ्कार भी है। परन्तु 'प', 'प', 'ढ', 'ढ', 'ब' 'ब', 'य' 'य' की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

(ख) **वृत्यनुप्रास :** अनेक व्यंजनों का एक बार (केवल स्वरूप) से ही, क्रम से नहीं) या बहुत बार का (स्वरूप और क्रम दोनों से) अथवा एक ही वर्ण का एक बार या अनेक बार आवृत्ति साम्य होने पर 'वृत्यनुप्रास' होता है[154]। जैसे :

''सामदामविनयादरवादैर्धामनाम व वितीर्य तदादैः ।
आगतानुपचचार विशेषमेष सम्प्रति स काशिनरेशः ॥''[155]

इसमें स्वयंवरार्थं आगन्तुक अतिथि जनों के भव्य स्वागत को दिखाया गया है कि वश्वविख्यात काशी नरेश अकम्पन ने समयोचित वार्तालाप, माल्यदान तथा आदर युक्त नम्र ाचनों द्वारा एवं सुन्दर निवास स्थान देकर अतिथियों का रम्य स्वागत किया । इस पद्य में 'म''म', 'द''द', 'च''च' आदि वर्णों की आवृत्ति की गयी जो प्रकृत अलङ्कार का पूर्ण पुगक है ।

(ग) **श्रुत्यनुप्रास :** जहाँ तालु, दन्त आदि स्थान से उच्चार्यमान वर्णों का प्रयोग हो वहाँ व्यंजन सादृश्य होने से श्रुत्यनुप्रास कहलाता है[156] । उदाहरणार्थ निम्न श्लोक अवलोकनीय है :

''तत्तदाशयविदाऽथ सुरेण भाषितं नृपसकुक्षिचरेण ।
राजराजिचरितोचितवक्त्री वित्त्वमेव सदसीह भवित्री ॥''[157]

प्रस्तुत श्लोक में सभागत अनेकशः राजाओं का जो विभिन्न भाषा भाषी हैं, उनका रिचय कौन ? कैसे देगा ? जिससे सुलोचना जान सके। इस अभिप्राय को जानकर अकम्पन भाई चित्राङ्गद देव ने बुद्धि देवी (विद्या देवी) से कहा कि हे विद्यावती ! इस सभा में नेकशः राजा आये हुए हैं । उनका सुलोचना हेतु परिचय देने का भार इस सभा में तुम्हारे ऊपर होगा । यहाँ 'त''त', 'स''स' आदि दन्त एवं तालु स्थानीय वर्णों का प्रयोग होने श्रुत्यनुप्रास रम्य रूप में चित्रित हुआ है।

(घ) **अन्त्यानुप्रास :** पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति हो तो वह अन्त्यानुप्रास कहलाता है । इसका प्रयोग पद अथवा पाद के अन्त में ही होता है[158] । इसीलिये इसे अन्त्यानुप्रास कहते हैं प्रकृत अलङ्कार प्रदर्शन करने में कवि की अभिरुचि अधिक दीखती है । उदाहरण

''स्यन्दनं समधिरुह्य नायकः कौतुकाशुगसरूपकायकः ।
प्रीतिमृत्स्नुमृदुरूपिणी प्रिया स प्रतस्थ उचितादरस्तया ॥''[159]

महाराज अकम्पन का आदेश लेकर जिस समय जयकुमार प्रस्थान करते हैं, उस प्रस्थान काल में ऐसा वर्णन दिखाया गया है -

आश्चर्य है पूर्ण कामदेव के समान शरीर धारण करने वाले नायक जयकुमार एवं अनुराग को उत्पन्न करने वाली कोमल कान्तिशालिनी प्रिया सुलोचना रथ पर आरूढ़ हुए तथा सुलोचना के द्वारा अमूल्य आदर के साथ नायक ने प्रस्थान किया ।

यहाँ स्वर के साथ प्रथम पाद के अन्त में 'आयकः' की द्वितीय पाद के अन्त में उसकी स्वर व्यंजन के साथ वैसी ही आवृत्ति की गयी है ।

अतएव अन्त्यानुप्रास मनोज्ञ है ।

इसी प्रकार उक्त सर्ग से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं -

(क) "मार्गमस्तमयितुं तुरङ्गमाः शीघ्रमेव मरूतो द्रुतं गमाः ।
उद्गिरन्त इव तुण्डतः क्षुराञ्चेलुरत्र तु परास्तर्मुमुराः ॥"[160]

(ख) "पादिनामतिजवेन गच्छतां तेच्छदारव तदा गरुन्मताम् ।
रेजिरे भुवि भुजा निरन्तरं संचलन्त उचिता इतादरम् ॥"[161]

(ग) "अध्वकर्तनविवर्तविग्रहास्तेऽपि वर्द्धितपरस्परस्पृहाः ।
शीघ्रमेव गमनश्रमंसहाः पत्तयो ययुरमो समुन्महाः ॥"[162]

२. **यमक :** आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि जहाँ स्वर सहित व्यंजन समूह की आवृत्ति की जाय वहाँ 'यमक' अलङ्कार होता है वह आवृत्ति स्वर व्यंजन समूह कहीं दोनों सार्थक होते हैं और निरर्थक होते हैं । कहीं एक सार्थक और दूसरा निरर्थक होता है । इतना ही नहीं कहीं पाद की आवृत्ति, कहीं पादार्थ की आवृत्ति कहीं श्लोक की आवृत्ति और कहीं पर पाद के आदि भाग की आवृत्ति होती है[163] । इस प्रकार इस अलंकार के बहुत से भेद हो जाते हैं । अन्य आचार्यो ने भी इसके बहुत से भेदों को बतलाया है । जैसे 'काव्यालङ्कार सूत्र' ग्रन्थ के निर्माता ने बतलाया है कि स्थान नियम के साथ अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं[164] । यमक में पद आदि की आवृत्ति के सम्बन्ध में वामन का कथन है कि एक सम्पूर्ण पाद और एक अथवा अनेक पाद के आदि, मध्य, अन्त भाग यमक में आवृत्ति के उचित स्थान हैं[165] । इस अलङ्कार का कुछ उदाहरण दिखाया जा रहा है, क्योंकि सबको दिखाना केवल पृष्ठ बढ़ाना मात्र है। अतएव इस दृष्टि से निम्नस्थ पद्य विचारणीय है -

"समभूत्समभूतरक्षणः स्वसमुत्सर्गविसर्गलक्षणः ।
शिवमानवमानवक्षणः नृपतेरुत्सवदुत्सवक्षणः ॥"[166]

प्रकृत पद्य में जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य की उत्पत्ति होने पर तथा तन्निमित्तक राज्याभिषेक वर्णनावसर में कवि ने व्यक्त किया है - "समदृष्टि से प्राणिमात्र का रक्षक, उत्सर्ग-विसर्ग गुण युक्त जयकुमार के लिये उत्सव स्वरूप एवं मानव मात्र के लिये नवीन मंगलमय स्वरूप कल्याण प्रदान करने वाला अनन्तवीर्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।"

यहाँ 'क्षण' इस वर्ण समूह की चारों चरणों के अन्त में आवृत्ति है तथा तृतीय चरण में 'मानव', 'मानव' की आवृत्ति रम्य है । ऐसे ही चतुर्थ चरण में 'उत्सव' 'उत्सव' की आवृत्ति दर्शनीय है । अतएव यमक अलङ्कार दिव्य है । इस प्रकार यह सर्ग अधिकांशतः यमकालङ्कार से भरा हुआ है। ऐसे ही अन्य सर्गो के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं । यथा -

(क) "श्यामं मुखं मे विरहैकवस्तु एकान्ततोऽरक्तमहोमनस्तु ।
प्रत्यागतस्ते ह्यधराग्रभाग एवाभिरूपे मनसस्तु रागः ॥"167

(ख) "कान्तारसद्देशचरस्य चक्षुःक्षेपोऽभवत्सद्विटपेषु दिक्षु ।
अद्वैतसम्वादमुपेत्य वाणमोक्षः क्षणाद्वा सवयस्यकारणः ॥"168

(ग) अनुष्ठितं यद्यदधीश्वरेण तत्तत्कृतं श्रीसुदृशाऽऽदरेण ।
येनाध्वना गच्छति चित्रभानुस्तेनैव तारातितिरेति साऽनु ॥"169

(घ) "ननु जनो भुवि सम्पदुपार्जने प्रयततां विपदामुत वर्जने ।
मिलति लाङ्गलिकाफलवारिवद् व्रजति यद् गजभुक्तकपित्थवत् ॥"170

(ङ) "परः परागः प्रकृतः प्रयागः स्फुरन्शरीरे सहजोऽनुरागः ।
सौवर्ण्यमायात्वधुनेति मे हि संस्नाति मृत्स्नातिशयेन गेही ॥"171

(च) "सदेह देहं मलमूत्रगेहं बृयांसुरामत्रमिवापदेऽहम् ।
तद्योगयुक्त्या निवहेद पांशु शुतिः स्रवत्स्वेदनिपाति पांशु ॥"172

इसी तरह अनन्त पद्य प्रकृत अलङ्कार से व्याप्त हैं ।

इस महाकाव्य के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि महाकवि वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल जी शास्त्री को काव्य रचना काल में अलङ्कारों के सन्निवेश की स्थिति में मस्तक खुजलाना नहीं पड़ा । अपितु 'अहमहम् पूर्विकया' अलङ्कार स्वयं जुटते गये । आरम्भ से लेकर महाकाव्य की समाप्ति पर्यन्त अलङ्कारों के सन्निवेश में अनायास सफल दिखते हैं । इस महाकाव्य में महाकवि श्री हर्ष की छाया अधिकांशतः प्रतीत होती है । जयोदय महाकाव्य के प्रथम सर्ग में सर्वप्रथम जिन भगवान् के इच्छानुसार अपूर्व गुणों से सम्पन्न महाराज जयकुमार (हस्तिनागपुर) हस्तिनापुर के शासक हुए जिनकी कथा एक बार श्रवण से भी अमृत पीने की इच्छा व्यर्थ प्रतीत होती है । यथा

"कथाप्यथामुष्ययदि श्रुताऽऽरात्तथा वृथा साऽयं सुधासुधारा ।
कामैकदेशक्षरिणी सुधा सा कथा चतुर्वर्गनिसर्गवासा ॥"173

अर्थात् अमृत केवल कामस्वरूप एक ही पुरुषार्थ प्रदान करता है परन्तु महाराज जयकुमार की कथा धर्मार्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को प्रदान करने वाली है । पुनः महाकवि आगे कहते हैं

"तनोति पूते जगती विलासात्स्मृता कथा याऽथ कथं तथा सा ।
स्वसेवनीमेव गिरं ममाऽरात् पुनातु नातुच्छरसाधिकारात् ॥"74

जयकुमार की लीला कथा के स्मरण मात्र से इहलोक, परलोक दोनों पवित्र हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार का कथन है कि मेरी वाणी जो इस कथा का सेवन करेगी

यह क्यों न पवित्र होगी ? अर्थात् अवश्य पवित्र होगी । यह वाक्यार्थ नैषधकार हर्ष की पंक्ति का साक्षात् अनुसरण करता है ।

यथा

"पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा ।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥"[175]

इसी प्रकार अधिकांश स्थल दर्शनीय हैं -

"पयोधरीभृतचतुःसमुद्रां समुल्लसद्वत्सलतोरुमुद्राम् ।
प्रदक्षिणीकृत्य स गामनुद्राग् जगाम चैकान्तमहीमशूद्राम् ॥"[176]

प्रकृत पद्य महाकवि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य के द्वितीय सर्ग के श्लोक में निर्दिष्ट है । ऐसे ही बहुशः समस्त पद योजनादि लक्षित होते हैं । तथापि आधुनिक युग में इस प्रकार के महाकाव्य की पंक्तियों में प्रकृत महाकाव्य का प्रमुख स्थान है क्योंकि शब्दश‍ृङ्खला अथ योजना अलङ्कार प्रदशन पद्धति, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों की स्थिति में आलस्य शून्य प्रतीत होते हैं ।

सर्ग की विशालता एवं श्लोकों की बहुलता यद्यपि इस महाकाव्य में पर्याप्त है, तथापि इनमें अलङ्कारों की योजना में कहीं शैथिल्य का अनुभव नहीं होता । अतः अलङ्कार प्रणयन में सिद्धहस्त महाकवि वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल जी शास्त्री का उत्कर्ष किस सहृदय के हृदय को आवर्जित नहीं करेगा ।

प्रथम अलङ्कारों के साधनत्व एवं परिपोषकत्व की बात कही गयी किन्तु यह भी विचारणीय है कि अलङ्कार कहीं कहीं अलङ्कार्य भी होते हैं । जिन उदाहरणों में अलङ्कार व्यङ्ग्य है वहाँ उनकी प्रधानता होने से 'अलङ्कार' नहीं अपितु 'अलङ्कार्य' है । अलङ्कार्य होने पर भी 'ब्राह्मण श्रमणन्याय' से उनमें अलङ्कारत्व का व्यवहार होता है । विवेचित अलङ्कारों में अनन्वय, अर्थश्लेष और विरोध के व्यङ्ग्य होने के कारण ये उन उन स्थलों में अलङ्कार्य भी होते हैं ।

* * *

फुट नोट

1 सं.शब्द कौ. पृष्ठ 135 2 शत ब्रा. 13.8.4 3 छान्दोग्य उप 8.8.5

4. निरुक्त 10.1.2 5 पाणिनि सू. 3.2.37

6. कृत्वालङ्कारमात्मनः - बा.रामा. 2.40.13

7 अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयेदिव्यमानुषैः ।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम् ॥ महा.भा. पृ. 1.27

8. अलंकार: सप्तममङ्गमिति यायावरीय: ।
सकल विद्या स्थानैकायतनं पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम् । - का.मी. द्वि.अ. पृष्ठ 7

9 काव्यंग्राह्यमलङ्कारात् सौन्दर्यमलंकार: । अलंकृतिरलंकार: । कारण व्युत्पत्या पुनरलंकार शब्दो यमकोपमादिषु वर्तते, स दोष गुणालंकारहानोपादानाभ्याम् ।
काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 1 1

10. शब्द चित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्न तदाद्रियन्ते कवय: । चि.मी.

11. वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति: । भामहा 1 36
वाचां वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते । वही, 5/66

12 सैषा सर्वैव (सर्वत्र) वक्रोक्तिरनयार्थोविभाव्यते ।
यत्नोऽस्थां कविना कार्य: कोऽलंकारोऽनया विना ॥ भामहा 2 85

13 काव्यशोभाकरान्, धर्मानलंकारान् प्रचक्षते । का.द. 2/1

14 प्रेय: प्रियतराख्यानं रसवत् रस पेशलम् ।
अर्जोस्विरुदाहंकार, युक्तोत्कर्ष च तत्त्रयम् ॥ का.द 2/275

15 यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्यङ्ग लक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव न: ॥ का.द 2 267

16 सालंकारस्य काव्यता । अयमत्र परमार्थ: । सालंकारस्य अलंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सत: काव्यता कवि कर्मत्वम् ।
अलंकार शब्द: शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते ।
तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे । शब्दार्थयोरेकयोग क्षेमत्वादेवयेनव्यवहार: । व जी 1 6 तथा 2 की वृत्ति ।

17 नानालंकार ग्रहणम् गुणरसानामुपसंग्रहार्थम् । तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलंकारत्वात् यदाह 'काव्यशोभाकरान्' इत्यादि ।
सरस्वती कण्ठाभरण 5/11 की वृत्ति ।

18 त्रिविध: खल्वकारवर्ग: वक्रोक्ति: स्वभावोक्ति: रसोक्तिरिति ।
तत्रोपमाद्यलंकार प्राधान्ये वक्रोक्ति: सोऽपिगुणप्राधान्ये स्वभावोक्ति:,
विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात्तु रस निपत्तो रसोक्तिरिति । श्रं च.

19. विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन' ध्वन्य 2/19

20. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् । हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय:
- का प्र. 8/2 21. अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति ।' - का मी पृ. 14

22. अङ्गाश्रिता अलंकारा: । काव्यानुशासन, पृ. 17

23. अलंकारास्तु हारादय इव कण्ठादीनां संयोगवृत्त्या वाच्य वाचक रूपाणामङ्गानामतिशयमादधाना रसमुप कुर्वन्ति । एका. 5, 1.

24. अलंक्रियते अनेनेति चारुत्वहेतुरलंकार: । यथा करचरणाद्रयवयवगतैर्वलयनूपुरादिभिस्त-दलंकारतया प्रसिद्धैरवयवी एवालंक्रियते तथा शब्दार्थावयवगतैरनुप्रासोपमादिभिस्तत् तदलंकारतया प्रसिद्धैरवयवीभूतं काव्यमुपच्क्रियते ।

- प्र. रु. य. भू, अलं. प्रक.-पृ. 336

25. यो हेतु: काव्य-शोभाया: सोऽलङ्कार: प्रकीर्त्यते । प्रतापरुद्रयशोभूषण. पृ.-335

26. अलंकार-भूषितं शब्दार्थरूपं काव्यशरीरम् । -काव्यानुशासन्, पृ.-53

27. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन: । रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

- सा. द. 10/1

28. औपाधिक प्रकर्षहेतुरलंकार । अ. ति. परिच्छेद-4

29. अलंकारस्तु शोभायै ... 1 अलंकारा: कुण्डलादिवत् ॥ अ. शे. 1/22

30. काव्यात्मानं व्यङ्ग्यस्य रमणीयता-प्रजोककमलंकारा । - रसगंगाधर, पृ.-248

31. साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयो: । - सा. द. दशम परि. श्लोक 14

32. चि. मी पृष्ठ 7 33.चि. मी. पृष्ट-7

34. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।

काव्यस्यैते ह्यलङ्काराश्चत्वार: । परिकीर्तिता ॥ ना. शा 13 43

35 ...नवस्तु प्रभृतिरूपमाप्रपंच: । काव्या. सू. 4 3 1

36 अलङ्कार शेखर, पृ. 24 पर उद्धृत । 37.अलङ्कार सर्वस्व पृ. 22

38 रस गंगाधर 39.ज म. 1 111 40.ज. म 3/29 41 वही, 5 14

42 वही, 10 52 43 वही, 10/54

44. अलङ्कार सर्वस्वकार ने अलङ्कारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है

(1) भेदाभेद प्रधान अलङ्कार

क 1-उपमा, 2 उपमेयोपमा, 3 अनन्वय, 4 कारण

ख अभेद पधान आरोपमूलक छ: अलङ्कार, 5 रूपक 6 परिणाम, 7 सन्देह, 8 भ्रान्तिमान्, 9 उल्लेख, 10 अपह्नुति

ग अभेद प्रधान अध्यवसाय मूलक दो अलङ्कार 11- उत्प्रेक्षा, 12 अतिशयोक्ति

घ अभेद प्रधान गम्य औपम्याश्रित पदार्थ वाक्यार्थमूलक पाँच अलङ्कार 13 तुल्योगिता 14 दीपक, 15 प्रतिवस्तूपमा, 16- दृष्टान्त, 17- निदर्शना, 18-व्यतिरेक, 19-सहोक्ति 20 विनोक्ति, 21 समासोक्ति, 22 परिकर, 23.परिकराङ्कुर, 24-श्लेष, 25 अप्रस्तुत प्रशंसा, 26 अर्थान्तरन्यास, 27-पर्यायोक्त, 28-व्याजस्तुति, 29-आक्षेप ।

(2) विरोधमूलक ग्यारह अलङ्कार 30 विरोध, 31-विभावना 32- विशेषोक्ति 33 असङ्गति 34 विषम, 35 सम, 36 विचित्र, 37-अधिक, 38-अन्योन्य, 39-विशेष, 40-व्याघात

(3) शृङ्खलावद्धमूलक तीन अलङ्कार -41-कारणमाला 42-एकावली, 42-सार ।

(4) तर्कन्यामूलक दो अलङ्कार-44 काव्यलिङ्ग, 45 अनुमान।

(5) वाक्य न्याय मूलक आठ अलङ्कार-46 यथासंख्य, 47-पर्याय, 48-परिवृत्ति, 49 परिसंख्या, 50-अर्थापत्ति, 51-विकल्प, 52 समुच्चय, 53 समाधि।

(6) लोकन्यायमूलक सात अलङ्कार 54 प्रत्यनीक, 55 प्रतीप, 56 मीलित 57-सामान्य, 58 तद्गुण, 59-अतद्गुण, 60-उत्तर।

(7) गूढार्थमूलक सात अलङ्कार 61 सूक्ष्म 62 व्याजोक्ति, 63 वक्रोक्ति, 64 स्वाभावोक्ति, 65 भाविक, 66-संसृष्टि 67 सङ्कर।

45 उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः। सा द 10 26 उत्त

46 ज म 3 66

47 सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते। साद 10 27 उत्त

48 ज म 13/93

49 रूपकं रूपितारोपाद्वि (पो वि) षये निरपह्नवे। तत्परम्परितं साङ्ग निरङ्गमिति च त्रिधा॥
सा द 10/28

50 ज म 6 108 51 ज म 8 9 52 ज म 8 42 43

53 सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः॥ शुद्धो निश्चय गर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा। सा द 10/35 काप 36 का प 54 ज म 10 33

55 साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः। सा द 10 36 उत्त

56 ज म 8 8 57 ज म 13 63

58 क्वचिद्भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥ सा दा 10 37

59 ज म 3 3 60 ज म 7 103

61 प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः। गापनीयं कमप्यर्थ द्योतयित्वा कथञ्चन॥
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः। स द 10 38 39 प

62 ज म 13 48 63 ज म 13 89

64 संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् का प्र 3 का 92

65 भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथम द्विविधा मता॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि॥
तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः॥
द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति। स द 10 40 41 42 43 का एक पद

66 ज म 8 38 67 ज म 8 39

68 सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ।
पौर्वापर्यात्ययः कार्य हेत्वोः सा पंचधा ततः सा द 10 46 47 प

69 ज म 1/9 70 ज म 5/18

71 अप्रस्तुतप्रस्तुतयार्दीपकं तु निगद्यते ॥ अथ कारणमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।
मा द 10 48 उत्त 49 पृ 72 ज म 5 38

73 सम्भवन् वस्तुसम्बन्धाऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदशना ॥ - मा द 10 51

74 ज म 9 77 75 वही, 10/39 76 ज. म 12 140

77 दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन. प्रतिबिम्बनम् ॥ मा द 10 50 उत्त

78 ज म 5 3 79 ज म 7 36 80 ज म 7 49

81 ज म 7 73 82 ज म 7 74

83 आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा ।
व्यतिरेक· स्त्र उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा ॥" मा द 10 5284 ज म 1 3

85 सा सहोक्तिसूलभूतातिशयोक्तियदा भवेत् । मा द 10 55 पृ

86 ज म 13 9 10 87 ज म 8 32

88 समासोक्ति समयत्र कार्यलिङ्गविशेषण: ।
व्यवहारसमारोप. प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन. ॥ मा द 10 56

89 ज म 8 25 90 ज म 13 92 91 ज म 13 96

92 शब्दै: स्वभावादेकार्थै श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ॥ मा द 10 57 उत्त

93 ज म 12 60 94 ज म 7 75 95 ज म 7 88

96 सामान्य वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि । कार्य च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणाथान्तरन्यासोऽष्टधा तत: । मा द 10 61 62 पृ

97 ज म 9 40 98 वही 9 56 99 ज म 9 57 100 वही 9 81

101 पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ मा द 10 60 उत्त

102 ज म 10 86

103 जातिश्चतुर्भिजात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभि: ॥
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथ .
विरुद्धमिव भासेत विरोधाऽसौ दशाकृति. । मा द 10 67 उत्त 68

104 ज म 3 97 98 105 ज म 28 5 106 ज म 28 1[illegible] [illegible]

108 वही 28 23 109 वही 28 35 110 वही 28 36 111 वही 28 40

112 विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता
मा द 10 66

113 ज म 1 81

114 मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो

रक्तौ च क्रोधरागो सरिदुदधिगत पङ्कजेन्दीवरादि ।
तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिक पाक्षसङ्घा
ज्योत्स्ना पेया चकोरजलधरसमये मानस यान्ति हंसा ॥
पादाघातादशोक विकसित बकुल योषितामास्यमद्य
यूनामङ्गेषु हारा. स्फुटित च हृदय विप्रयोगस्य ताप ।
मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखा कुसुमा पुष्पकेतो
भिन्न स्यादस्य बाणयुवजहृदय स्त्रीकटाक्षेण तद्वत्
अह्न्यम्भोज निशाया विकसित कुमुद चान्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्य भवति च शिखिना नाप्यशोके फल स्यात् ।
न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा
मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगत सत्कवीना प्रबन्धे ॥

मा द 10 23 24 25 तद 60 62

115 ज म 1 84

6 सम स्यादानुरूप्येण श्लाघ्या योग्यस्य वस्तु । मा द 10 1 प

7 ज म 3 88 118 वही 3 89

9 इत्याद्यस्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते मा द 10 62 वृत्ति

10 ज म 1 43 121 वही 11 60 1 म 155

1 अनुमान विच्छित्त्या ज्ञान साध्यस्य साधनात् मा द 10 63 प

14 ज म 6 81 125 वही 11 95

20 यथासख्यमनुद्देश उद्दिष्टाना क्रमेण यत् मा द 10 9प

[illegible]

15 पारम्पर्येणाधनमरा या धाना स्यात समासम [illegible]

23 पारम्पर्येणानमर समस्यनाधक भवत [illegible]

30 ज म [illegible] [illegible] [illegible] मा द [illegible]

32 ज म 5 24

[illegible]

मा द [illegible]

[illegible]

मा द [illegible]

36 ज म [illegible] 137 [illegible] मा द 10 [illegible]

38 ज म [illegible] 139 [illegible] । मा द 10 [illegible]

40 ज म [illegible]

141 अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि । अन्य: श्लेषेण काक्वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥

- सा द 10/9

142 ज म 5/18

143 स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थ स्वक्रियरूपवर्णनम् । - सा द 10 92

144 ज म 10/57 145 वही 10/58

146 लोकातिशयसंपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते । यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥

- सा द 10/94

147 ज म 10/28

148 अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ। संदिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविध: पुन:॥

सा द 10 98

149 ज म 12/117 150 वही 13/3

151 अनुप्रास: शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् सा द 10 2 पू

152 छेको व्यंजनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा । सा द 10 2 उत्त

153 ज म 3 112

154 अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा । एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते ।

सा द 10 4 155 ज म 5 6

156 उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके । सादृश्यं व्यंजनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥

सा द 10 5 157 ज म 5 34

158 व्यंजनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु । आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।

सा द 10 6

159 ज म 2 [illegible] 160 ज म 2 10 161 ज म 2 12

162 ज म 21 13

163 सत्यर्थे पृथगर्थाया: स्वरव्यंजनसंहते: क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते। सा द 10 8

164 पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम् । काव्यालङ्कार सूत्र 4 1

165 [illegible] पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागा: स्थानानि वही 4 1 2

166 ज म [illegible] 1 167 ज म 1[illegible] 12 168 वही 16 22 169 वही 24

[illegible]

170 [illegible] 171 वही 2[illegible] 172 वही 2[illegible] 42 173 ज म [illegible] 3

174 [illegible] म [illegible] 175 [illegible] च 13 176 ज म [illegible] 3

[illegible] अन्यत्र [illegible]णमन्यथैनालङ्कारत्व । का [illegible] चतुर्थ

❑ ❑ ❑

षष्ठ - अध्याय

'जयोदय महाकाव्य' में

गुण, रीति

एवं ध्वनि विवेचन

जयोदय में गुण विमर्श

काव्य जगत् में रस की प्रधानता प्राय: सब लोग स्वीकार करते हैं। उन रसों में गुण रहता है। यह आनन्दवर्धनाचार्य, आचार्य मम्मट, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, पं. राज जगन्नाथ प्रभृति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन गुण माने गये हैं। ये गुण शब्दार्थाश्रित होते हैं। वामन आदि ने बजाय तीन के दस-दस गुण माने हैं-

> ''श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्य सुकुमारता ।
> अर्थ व्यक्तिरुदारत्व ओज: कान्तिसमाधय: ॥

ये दस गुण शब्द और अर्थ में माने गये हैं। लक्षण भेद मात्र से भेद है। परन्तु इन शब्द-अर्थगत बीस गुणों का आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने खण्डन किया है। इन में कुछ तो दोषाभाव रूप से हैं कुछ वाग् वैचित्र्य मात्र हैं। कतिपय न मानने से काव्य दोष उत्पन्न होते हैं एवं कुछ का तीन गुणों में ही अन्तर्भाव किया गया है।

इस प्रकार इनका खण्डन कर माधुर्य, ओज प्रसाद तीन गुणों की स्थिति आचार्यों ने स्वीकार की है[1]। इस प्रकार शब्दगत श्लेष, समाधि, उदारता प्रसाद गुणों का वामनादि प्राचीनोक्त गुणों का ओज में अन्तरभाव है। प्राचीनोक्त माधुर्य गुण का माधुर्य में अन्तरभाव स्वीकार किया है। क्योंकि पृथक् पृथक् पद हों अर्थात् समस्त न आते हों उन्हें माधुर्य कहते हैं। इस प्रकार माधुर्य में ही अन्तर भाव बताया गया है।

अर्थव्यक्ति गुण का प्रसाद में अन्तरभाव किया गया है क्योंकि प्राचीनोक्त अर्थ गुण शीघ्र ही अर्थबोध करा देने में माना गया है।

कान्तिगुण ग्राम्य दोषाभाव एवं सुकुमारता दु:श्रवत्व दोषाभाव स्वरूप है।

अभिन्न मार्ग से वर्णन करना हो समता गुण है। वह कहीं-कहीं रस प्रतिकूल वर्णन में दोष हो जायेगा। यदि रसानुकूल हुआ तो उसी में ही अन्तरभाव हो जायेगा।

इस प्रकार शब्दगत दस गुणों का खण्डन किया गया है।

अर्थगत ओज, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता गुण दोषाभाव रूप ही है। क्योंकि साभिप्राय वर्णन को प्राचीनों ने ओज कहा है। यदि अभिप्राय शून्य वर्णन होगा तो अपुष्टार्थत्व दोष हो जायेगा।

इसी प्रकार अर्थ विमलता को प्रसाद गुण माना है। यदि निर्मलता नहीं होगी तो अधिक पदत्व दोष में चला जायेगा।

उक्ति वैचित्र्य को प्राचीनों ने माधुर्य गुण कहा है। यदि उक्ति वैचित्र्य न हो तो अनवीकृतत्व दोष हो जा...

परुष वर्ण हीनता सुकुमारता गुण अर्थगत प्राचीनों ने वस्तु स्वभाव के सुस्पष्ट वर्णन में स्वीकार किया है । इसे सहोक्ति अलंकार में आचार्यों ने अन्तरभूत किया है ।

कान्ति गुण रस दीप्ति को कहते हैं जो रस दीप्ति की प्रधानता में रस ध्वनि में या उसकी अप्रधानता में गुणीभूत व्यङ्ग्य में अन्तर्भूत हो जायेगा ।

विचित्र वर्णन को प्राचीनों ने श्लेष गुण कहा है । वह वैचित्र्य या समूह का वर्णन विद्वत्तापूर्ण दो वस्तुओं के समर्थन योग्य कौटिल्य, अप्रसिद्ध वर्णन का अभाव अनुल्वणत्व, उपपादक, युक्तियों का विन्यास उपपत्ति आदि है । इन सबों का जहाँ योग हो ऐसे रचना (विचित्रता) को श्लेषण-गुण कहा है जो केवल विचित्रता मात्र है । काव्य का जो अद्वितीयरस है उसका उपकारक न होने से यह गुण नहीं है ऐसा आचार्यों का कथन है ।

विपरीत सम्वाद के अभाव को समता गुण कहा गया है । यदि काव्य में ऐसी समता न हो तो प्रक्रम भंगतारूप दोष हो जायेगा इसलिये यह समता दोषाभावरूप ही है ।

प्राचीनों का जो समाधि गुण है, उसका लक्षण है अर्थ का दृष्टिरूप

"अर्थ दृष्टिः समाधिः"[2]

इसके दो भेद हैं अजोनि दूसरा छायायोनि । यह दो प्रकार का वर्णन काव्य में अद्वितीय शोभाजनक नहीं है किन्तु काव्य के शरीर का निष्पादक मात्र है । इसलिये ये भी गुण नहीं है।

इस प्रकार इन बीस गुणों का खण्डन कर मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्यों ने तीन गुण की (माधुर्य, ओज, प्रसाद) स्थापना की है । इन तीन गुणों के लक्षण तथा उनके व्यंजक वर्णों को इस प्रकार बताया है।

माधुर्यगुण:

सहृदयों के हृदय को द्रवित करने वाले प्रायः आनन्द रूप (दुःख से अभिश्रित) को माधुर्य गुण कहते हैं । यद्यपि रस भी आनन्द स्वरूप है तथापि माधुर्य गुण और रस को एक नहीं कह सकते क्योंकि रस का अंग रूप धर्म है गुण । जिसे आचार्य विश्वनाथ ने अपने अभीष्ट ग्रन्थ में मनोरम रूप में चित्रित किया है । यथा-

"चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।"[3]

काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने माधुर्य को द्रुति का कारण बताया है[4] । उससे चित्त द्रवित होने का कारण माधुर्य है ऐसा व्यक्त होता है। इस प्रकार कुछ अंश में काव्य प्रकाशकार के साथ साहित्यदर्पणकार का विरोध सा प्रतीत होता है। कारणता को दूर करने के लिए विश्वनाथ ने द्रवीभाव को परिष्कृत कर दिया है जिससे द्रवीभाव और आह्लाद में भेद की प्रतीति न होने से अभिन्न रूप से ही बोध होता है। इस प्रकार आह्लाद और माधुर्य एक ही हो जाता है। यह माधुर्य क्रमशः सम्भोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और उससे भी अधिक शान्त रस में पाया जाता है[5] ।

माधुर्य के व्यंजक वर्ण: वर्ग के अन्तिम अक्षर (वर्ण) (ङ, ञ, ण, न, म) संयुक्त हो परन्तु ट, ठ, ड, ढ ये वर्ण जो श्रुति कटुत्व के उत्पादक हैं ये न हो। र और ण लघु होकर आवें एवं रचना सभासाभाव हो अथवा अल्प पदों का समास हो तथा कोमल वर्णो का विन्यास हो तो माधुर्य गुण कहा जाता है[6]।

जयोदय महाकाव्य में माधुर्य बहुश: स्थलों में दर्शनीय है। असमस्त पदावली आदि मे पूर्ण माधुर्य दसम सर्ग में सुलोचना वर्णन के प्रसङ्ग में दर्शनीय है -

''कुसुमगुणितदामनिर्मलं सा मधुकररावनिपूरितं सदंसा ।
गुणमिव धनुषः स्मरस्य हस्त-कलितं संदधती तदा मप्रशस्तम् ॥''[7]

इस पद्य में अल्प समास वाले पद दिये गये है तथा संयुक्ताक्षरों का बाहुल्य नहीं है। इस दृष्टि से माधुर्य गुण भरा हुआ है। इसी प्रकार आगे भी इसी सर्ग में मनोरम स्थलों की एक झलक प्रस्तुत है

''नन्दीश्वरं सम्प्रति देवतेव पिकाङ्गना चूतकसूतमेव ।
वस्वौकसारा किमिवात्रसाक्षीकृत्याशु सन्तं सन्तं मुमुदे मृगाक्षी ॥''[8]

इस पद्य में 'पिकाङ्गना' में ङ, 'ग' का संयोग माधुर्य का व्यंजक है। 'नन्दीश्वर' में 'न' 'द' का संयोग, 'सन्त' में 'न्' 'त' का संयोग वर्गान्त वर्ण संयुक्त होने के कारण माधुर्य है तथा अधिक समस्त पद न होने से रचना मधुरा है।

ओज गुण :

सहृदयों का चित्त जिससे विस्तार को प्राप्त हो ऐसे दीप्ति को ओजगुण कहते हैं। यह ओज क्रमश: वीर, बीभत्स, रौद्र रसों में उत्तरोत्तर अधिक रूप मे रहता है[9]।

ओज गुण के व्यंजक वर्ण : क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग के तृतीय ज, ब, ग, ड, द एवं आद्य क, च, ट, त, प ये अपने से अन्तिम अर्थात प्रथम वर्ण (क, च, ट, त, प) का द्वितीय वर्ण (ख, छ, ठ, थ, फ) के साथ एवं तृतीय (ग, ज, ड, द, ब) का चतुर्थ (घ, झ, ढ, ध,भ) का संयोग हो एवं ट, ठ, ड, ढ वर्ण रहें तथा रेफ का ऊपर की स्थिति रूप से अथवा नीचे संयुक्त रूप में स्थिती हो। तालव्य शकार मूर्धन्य षकार कुछ गुण के व्यंजक होते हैं। इसी प्रकार रचना समास बहुला एवं उद्भट अक्षरों से युक्त हो तो ओज गुण कहलाता है[10]।

जयोदय महाकाव्य में ओज गुण का बहुश: प्रयोग रम्य ढंग से हुआ है। इसी परिवेश में ओज गुण का एक मनोरम उदाहरण पर दृष्टिपात कीजिए -

''भ्रश्यत्स्फुटित्वोल्लसनेन वर्मनाज्ञातमाज्ञातरणोत्थशर्म ।
प्रयुद्धयता केनचिदादरेण रोमाञ्चितायाञ्च तनौ नरेण ॥''[11]

यहाँ इस पद्य में युद्ध में अनुरक्त एक वीर का वर्णन करते हुए कहा गया है कि - आदरपूर्वक युद्ध करने वाले किसी मनुष्य का शरीर प्रसन्नता के कारण रोमांचित हो उठा। परिणामतः उस रोम उठने के कारण गिरते हुए कवच को युद्ध संलग्न वह वीर नहीं जान सका ।

इस पद्य में "भ्रश्यत्स्फुटित्वोल्लसनेन वर्म रणोत्थशर्म प्रयुद्ध्यता" इन पदों में भ र, श्, य, त्, स, त, व, ल् ल, त् थ, र, ग, द, ध य, वर्णो के संयुक्त होने के कारण ओज गुण है । इसी प्रकार आगे के श्लोकों में भी वीर रस के प्रसङ्ग में ओज गुण का सन्निवेश हुआ है जो प्रस्तुत है-

"नियोधिनां दर्पभृदर्पणालैर्यद्व्युत्थितं व्योम्नि रजोऽङ्घ्रिचालैः ।
सुधाकशिम्बे खलु चन्द्रबिम्बे गत्वा द्विरुक्ताङ्कतया ललम्बे ॥"[12]

यहां 'दर्पभृदर्पणव्युत्थितंव्योम्नि, सुधाकशिम्बे, चन्द्रबिम्बे, द्विरुक्ताङ्क, ललम्बे' आदि पदों में र्, प, त् थ म्, न, म्, ब वर्णों में संयुक्ताक्षरादि प्रयोग से ओज गुण की पुष्टि होती है। इसी तरह अन्यत्र भी रौद्र रस के प्रसङ्ग में ओज गुण का सन्निवेश महाकवि की कुशाग्रता की झलक देती है । यथा-

"क्षमायामस्तु विश्रामः श्रमणानान्तु भो गुण ।
सुराजां राजते वंश्यः स्वयं माऽचकमूर्धनि ॥"[13]

इस पद्य में 'क्ष', 'त्र', 'श्र', 'श्य' आदि वर्णो का विन्यास ओजोगुण का वलासक है ।

प्रसाद गुण :

जैसे सुखी हुई लकड़ी को अग्नि शीघ्र ही अपनी दाहकता से व्याप्त कर देता है (अथवा जैसे स्वच्छ जल समूह में पड़ी हुई वस्तु शीघ्र ही प्रतीत होने लगता है) उसी प्रकार जहाँ अर्थ शीघ्र ही चित्त में व्याप्त हो जाता है, वहाँ प्रसाद गुण होता है । यह प्रसाद गुण सम्पूर्ण रस और सम्पूर्ण रचनाओं में रहता है[14] । काव्यप्रकाशकार मम्मट भी अष्टम उल्लास में कहते हैं-

"शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः"[15]

जयोदय महाकाव्य में प्रसाद गुण भी अपना व्यापक स्थान रखता है। प्रसाद गुण से सम्पन्न इस महाकाव्य के एक मनोरम रचना पर दृष्टिपात करें-

"मनो ममैकस्य किलोपहारः बहुष्वथान्यस्य तथाऽपहारः ।
किमातिथेयं करवाणि वाणिः हृदेऽप्यहृद्येयमहो कृपाणी ॥"[16]

यहाँ इस पद्य में यह व्यक्त किया गया है कि स्वयंवर में उपस्थित राजकुमारी सुलोचना

राजकुमारों का परिचय देने वाली विद्या देवी से कहती है कि हे वाणी ! मुझ जैसी बाला का मन तो इन राजाओं में से किसी एक ही के लिये उपहार बनेगा तथा अन्य के लिये अपहार बनकर निरादर का स्थान ही प्राप्त करायेगा । ऐसी स्थिति में मैं किस प्रकार से उन लोगों का अतिथि सत्कार करूँ ? क्योंकि मेरी यह अनभीष्टता कृपाणी (छूरिका) का ही काम करेगी इसलिये आप उसके लिये मार्ग बतावें ।

यहाँ आलङ्कारिक भाषा में तात्पर्य निबद्ध होने पर भी शाब्दिक सरलता एवं स्वाभाविक लौकिक गतिशीलता होने के कारण प्रसाद गुण का रम्य निरूपण हुआ है ।

इसी प्रकार अन्य स्थलों में प्राप्त प्रसाद गुण के हृदयग्राही चित्रण से महाकवि-चातुरी प्रमाणित होती है । एक उदाहरण पर दृष्टिपात करें-

''सद्भिराशासितः प्राप भूमिभृद्भवनं पुनः ।
एधयन्मोदपाथोधिं स राजा विशदांशुकः ।।''[17]

इस पद्य का शब्द विन्यास सर्वथा सरल है जिसका अर्थ है कि जिस प्रकार अपने स्वच्छ किरणों से युक्त नक्षत्रों से आवृत्त चन्द्रमा समुद्र को उल्लासित करता हुआ उदयाचल पर पहुँचता है, उसी प्रकार वह राजा जयकुमार स्वच्छ वस्त्रों को धारण किया हुआ सज्जनों से आवृत्त अकम्पन के लिये हर्षोत्पादक, उनके भवन में पहुँचा ।

यहाँ प्रत्येक शब्द सरल एवं समास बहुल न होने से अर्थ शीघ्र ही प्रदान करता है। ऐसे ही बहुशः स्थलों में प्रसाद गुण दर्शनीय है ।

मैंने यहाँ संक्षेप में ही गुणों पर दृष्टिपात किया है । वैसे जयोदय महाकाव्य एक प्रखर विद्वान् की रचना है । फलतः उसमें व्याकरणानुसारी परुष प्रयोग ही अधिक है । अतः ओजगुण ही अधिक परिव्याप्त हुआ है । अन्य गुण यथाविषय यथावसर प्रयुक्त हैं ।

जयोदय में रीति विमर्श

जयोदय में रीति विमर्श के पूर्व रीति पर विचार करना अप्रासङ्गिक नहीं है । रीति मत के प्रधान आचार्य वामन हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार सूत्र में रीति का आत्मा के रूप में प्रयोग किया । इनके पूर्व भी यह तत्त्व किसी न किसी रूप में विद्यमान था । आचार्य भरत मुनि ने रीति का उल्लेख तो नहीं किया किन्तु विभिन्न देशों में प्रचलित पाँच प्रवृत्तियों का परिगणन अवश्य किया है -

''चतुर्विधाप्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः ।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली पौण्ड्रमागधी ।।''[18]

भरत की प्रवृत्ति वामन की रीति से अधिक व्यापक है । रीति का तात्पर्य केवल भाषा प्रयोग से, परन्तु भरत की प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही न होकर वेश और आचार

से भी है[19] । भरत द्वारा परिगणित प्रवृत्तियों में पाञ्चाली भी है । वामन ने शायद यहीं से अपनी पा चाली के लिए संकेत ग्रहण किया हो । भामह के 'काव्यालङ्कार' के अनुशीलन मे विदित होता है कि उनके समय में वैदर्भी और गौडीय मार्ग प्रचलित थे । वे (भामह) इन दोनों मार्गों में कोइं भेद नहीं मानते । बाणभट्ट के समय में भारतवर्ष की चारो दिशाओं में चार प्रकार की शैलियाँ विद्यमान थी-

"श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥"[20]

दण्डी ने रीति के लिये मार्ग शब्द का प्रयोग किया है । इन्होंने रीति में व्यक्ति का प्रभाव स्वीकार किया । इनके मत में प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है, जिसका व्यक्तित्व के साथ प्रचुर सम्बन्ध होता है। कवियों के अनेक होने से रीतियाँ भी अनेक हैं[21]। इन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, समाधि दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है । गौडीय मार्ग में इनके अनुसार उपर्युक्त गुणों का विपर्यय रहता है[22] । आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बतलाया है[23] । इसी सम्बन्ध में वहाँ कहा गया है कि विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं[24] । रचना में विशिष्टता यह है कि गुणों की स्थिति द्वारा यह रीति उत्पन्न होती है इसलिये गुण पर ही रीति का रहना आधारित है । यह रीति गुण सम्प्रदाय नाम मे भी व्यवहृत है । काव्यलङ्कार सूत्र में कहा गया है-

"ओजःकान्तिमती गौडीया।"[25]

इसी प्रकार **"समग्र गुणा वैदर्भी"**[26]

"माधुर्य सौकुमार्योप पन्ना पाञ्चाली।"[27]

आनन्दवर्धनाचार्य ने रीति का ही दूसरा नाम संघटना रखा । संघटना से तात्पर्य शोभन पदों की रचना से है । संघटना में जो 'सम्यक्' विशेष है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि घटना का सम्यकृत्व गुणों के ही कारण है । इस तरह यह स्पष्ट है कि वामन की 'विशिष्टा पद रचना' और आनन्दवर्धन की 'संघटना' तुल्यार्थ बोधक होने मे एक ही है । रीति गुणाश्रयी है । वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है[28] । इन्होंने रीति नियामक तत्त्वों पर भी प्रकाश डाला। उनके नाम इस प्रकार हैं (1) वक्तृ औचित्य (2) वाच्यौचित्य (3) विषयौचित्य और (4) रसौचित्य ।

राजशेखर ने रीति का लक्षण इस प्रकार किया है - "वचनविन्यासक्रमो रीतिः" यह परिभाषा वामन की परिभाषा से भिन्न नहीं है, केवल शब्दान्तर है । इनके अनुसार रीतियों का वैलक्षण्य इस प्रकार है-

वैदर्भी	पाञ्चाली	गौडी
असमास	ईषद् समास	समास
स्थानानुप्रास	ईषदनुप्रास	अनुप्रास
योगवृत्ति	उपचार	योगवृत्ति परम्परा

इन तीन रीतियों के अतिरिक्त 'मागधी' रीति का निर्देश 'कर्पूरमंजरी' की प्रस्तावना में और 'मैथिली' रीति का वर्णन बाल रामायण के दशम अङ्क में राज शेखर ने किया है। कुन्तक ने दण्डी का अनुकरण करते हुए रीति का मार्ग नाम रख दिया है । ये कवि स्वभाव को रीति का निर्णायक आधार मानते हैं । तीन रीतियों के स्थान पर इन्होंने कवि स्वभावानुरूप सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग इन तीन नये मार्गो की उद्‌भावना की है ।

भोजराज के पहले रीतियों की संख्या चार थी । उन्होंने उसमें दो नामों को और जोड़ दिया (1) आवन्तिका और (2) मागधी । भोज ने अपने सरस्वती कण्ठाभरण में इन छः प्रकार की रीतियों का वर्णन किया है । इन्होंने रीति की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा इस प्रकार की है-

''वैदर्भादि कृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृताः ।
रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते ॥''

शारदातनय ने उक्त छः रीतियों में सौराष्ट्री और द्राविडी नामक दो और रीतियां को जोड़ते हुए अपने भाव प्रकाश में यह कहा कि इन रीतियां की संख्या एक सौ पाँच तक पहुँच सकती है । उनके मत में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक रीति है-

''सोराष्ट्री द्राविडी चेति रीति द्वयमुदाहृतम् ।
तत्तद्‌देशीयरचना रीतिस्तद्‌देशनामभाक् ॥''

''प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति ।
आनन्त्यात् सांक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येषा ॥
तासु पञ्चोत्तरशतं विधाः प्रोक्ता मनीषिभिः ।''

''त एवाक्षरविन्यासास्ता एव पदपङ्क्तयः ।
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती ॥''

वैसे प्रत्येक देश की रीति में कुछ वैलक्षण्य हो सकता है । उस दृष्टि से विभाग करें तो रीतियों के अनन्त विभाग हो जायेंगे ।

रीतियों का नामकरण देश विशेष के नाम से ही है । क्योंकि आरम्भ काल में जिस प्रदेश के निवासी जिस शैली में विशिष्टता प्राप्त किये उस देश का नाम उस शैली के द्वारा ही प्रसिद्ध हुआ, जैसे वैदर्भी विदर्भ देश (वरार) नाम से प्रसिद्ध हुई । इसी प्रकार गौडी वंश

प्रदेश के नाम से पांचाली पांचाल अर्थात् पंजाब प्रदेश के नाम से व्यवहृत हुई। आचार्य विश्वनाथ ने रीतियों का वर्णन साहित्य दर्पण में किया है- जिस प्रकार शरीर में मुख आदि अवयवों का सन्निवेश होता है, उसी प्रकार काव्य के शब्दार्थमय शरीर में पदों की रचना विशेष को रीति कहते हैं। जो रसभाव आदि की उपकार करती है[29]। रीयते अनया इति रीतिः' गत्यर्थक 'ऋ' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर रीति शब्द निष्पन्न होता है। गति के ज्ञान, गमन, मोक्ष रूप अर्थ होते हैं। वस्तुतः रीति व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे गुण विशेष का ज्ञान होता हो उसे रीति कहते हैं। यह रीति चार[30] प्रकार की होती है - (1) वैदर्भी, (2) गौडी, (3) पांचाली और (4) लाटिका (लाटी)।

वैदर्भी रीति :

जिसमें दोषों का स्पर्श तक न हो, जो माधुर्यादि गुणों से युक्त हो और जिसको सुनने से उतना ही आनन्द प्राप्त होता हो, जितना वीणा की मधुर ध्वनि सुनने से हुआ करता है, वह वैदर्भी रीति कही जाती है[31]।

वामन[32], राजशेखर[33], और कुन्तक[34] आदि आचार्यो तथा पद्मगुप्त परिमल[35], विल्हण[36], नीलकण्ठ[37] और श्री हर्ष[38] आदि महाकवियों ने वैदर्भी रीति की अत्यधिक प्रशंसा की है।

माधुर्य संज्ञक गुण के व्यंजक वर्णों से जिसकी सुकुमार रचना की जाय तथा समास रहित अथवा अल्प समास युक्त अर्थात् दो तीन पदों का समास हो ऐसी रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं। माधुर्य गुण के व्यंजक ट, ठ, ड, ढ के बिना अनुस्वार पर सवर्ण वर्गान्त वर्णो का प्रयोग तथा रेफ णकार ह्रस्व होकर आते हों, ऐसे हो वर्ण वैदर्भी रीति के प्रकाशक होते हैं[39]। प्राचीन आचार्य रुद्रट ने प्राचीनों के अनुसार श्लेषादि दस गुणों से युक्त समास रहित तथा समास युक्त वर्ग के द्वितीय अक्षर का जहां बाहुल्य हो, उसे वैदर्भी रीति कहते हैं।

जयोदय महाकाव्य का दशम सर्ग वैदर्भी रीति के लिये दर्शनीय है, जिसके मनोरम वर्णन में सिद्धहस्त महाकवि के अभीष्ट ग्रन्थ का एक उदाहरण देखिए

''दृक् तस्य चायात्स्मरदीपिकायां समन्ततः सम्प्रति भासुरायाम्।
द्रुतं पतङ्गावलिवत्तदङ्गानुयोगिनी नूनमनङ्गसंगात् ॥''[40]

इस पद्य में सुलोचना और जयकुमार के साक्षात्कार के समय जयकुमार के दृष्टि का वर्णन किया जा रहा है कि वरराज जयकुमार की दृष्टि उस समय चारों ओर दीप्तिमान होती हुई कामदेव की प्रदीप रूपा सुलोचना पर पड़ी जो काम के साहचर्य से फतिङ्गों की पंक्तियों की भाँति उसके अङ्गों से लिपट गयी।

इस पद्य में समस्त पद कहीं कहीं हैं। वे भी अत्यन्त सरल पदों के ही समास हैं तथा 'समन्ततः' 'पतङ्गावलि' 'तदङ्गानुयोगिनी' 'अनङ्ग' 'सङ्ग' ये वैदर्भी गुण के व्यंजक

वर्णं नितान्त रम्य रूप में दिखाये गये हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी है-

> "नन्दीश्वरं सम्प्रति देवतेव पिकाङ्गना चूतकसूतमेव ।
> वस्वौकसारा किमिवात्रसाक्षीकृत्याशु सन्तं मुमुदे मृगाक्षी ।।"[41]

यहाँ वैदर्भी रीति की मनोरम छटा दर्शनीय है।

गौडी रीति :

ओज गुण के प्रकाशक वर्णो से उदभट रचना हो तथा समस्त पद का बाहुल्य हो, ऐसी रचना को गौडी रीति कहते हैं[42]।

जहाँ अधिक पदों का समास हो वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों का तथा स, ष, श, ह इन वर्णो का प्रयोग हो एवं अनुप्रास अलंकार का अधिक रूप में प्रयोग हो ऐसी रचना को गौडी रीति मानते हैं।

जयोदय महाकाव्य में गौडी रीति का प्रयोग बड़े ही रोचक ढंग से हुआ है, जिसकी एक झाँकी प्रस्तुत है

> "भ्रश्यत्स्फुटित्वोल्लसनेन वर्म नाज्ञातमाज्ञातरणात्थशर्म ।
> प्रयुद्ध्यता केनचिदादरेण रोमाञ्चितायाञ्च तनौ नरेण ।।"[43]

यहाँ युद्ध में अनुरक्त एक वीर का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उत्साह पूर्वक आदर के साथ युद्ध करते हुए किसी व्यक्ति ने युद्धस्थल के यथार्थ सुख का अनुभव किया एवं उसके शरीर में रोमांच उत्पन्न हो आया उस रोम उठने के कारण गिरते हुए कवच को युद्ध संलग्न वह वीर नहीं जान सका।

इस पद्य में 'भ्रश्यत्स्फुटित्वोल्लसनेन' 'वर्म' 'रणोत्थशर्म' 'प्रयुद्ध्यता' इन पदों में 'भ र्' श य, 'त स् त् व, ल् ल त थ र् म द् ध य, वर्णो के संयोग से गौडी रीति के व्यंजक हैं। इसी प्रकार अग्रिम श्लोक में भी रम्य गौडी रीति की रचना की गयी है। यथा

> "नियोधिनां दर्पभृदर्पणालैर्यद् व्युत्थितं व्योम्नि रजोऽङ्घ्रिचालैः ।
> सुधाकशिम्बे खलु चन्द्रबिम्बे गत्वा द्विरुक्ताङ्कतया ललम्बे ।।"[44]

यहाँ युद्धरत वीरों के दर्प से भरे हुए एवं उत्साह से युक्त जो पैरों का उछलना इधर उधर फेंकना आरम्भ हुआ उससे उठी हुइ धूलि आकाश में पहुँच गयी और वहाँ जाकर अमृत छत्र चन्द्रबिम्ब में पड़कर उसके कलंक अथात् चन्द्र कलंक को दुना बना दी। इस पद्य में दर्प, भ्रदर्पण 'व्युत्थितं' आदि पदों में र, प, र भ आदि वर्णो में संयुक्ताक्षरादि प्रयोग से गौडी रीति निखर उठी है।

पाञ्चाली :

वैदर्भी और गौडी रीति के प्रकाशक वर्णो को छोड़कर अन्य वर्णो का जहाँ प्रयोग

हो अर्थात् प्रसाद मात्र गुण के व्यंजक वर्णों के प्रयोग हों, पाँच अथवा छः पदों का समास हो, ऐसी रचना को पाञ्चाली रीति कहते हैं ।

परन्तु भोज ने कहा है जहाँ ओज और कान्तिगुण से युक्त पाँच या छः पदों के समास हों, कोमल मधुर रचना हो उसे पाञ्चाली रीति कहते हैं ।

जयोदय महाकाव्य में पाञ्चाली रीति का भी बहुशः स्थलों में महाकवि ने प्रयोग किया है, जिसका एक उदाहरण देखिए-

''मनो ममैकस्य किलोपहारः बहुष्वथान्यस्य तथाऽपहारः ।
किमातिथेयं करवाणि वाणिः हृदेऽप्यहृद्येयमहो कृपाणी ॥''[46]

यहाँ प्रसाद गुण के प्रसङ्ग में दिखाये गये पद्य में पाञ्चाली रीति अत्यन्त रम्य है । इसमें संयुक्ताक्षरों का आधिक्य नहीं है तथा वर्गान्त वर्ण के साथ (अनुस्वार पर सवर्ण करके) वर्णों के प्रयोग भी नहीं है तथा अर्थ सुबोध होने से पाञ्चाली रीति चमक उठी है ।

इसी प्रकार इस महाकाव्य के अन्यत्र स्थलों में भी यह रीति दर्शनीय है

''हृदये जयस्य विमले प्रतिष्ठिता चानुविम्बिता माला ।
मग्नामग्नतयाभात् स्मरशरसन्ततिरिव विशाला ॥''[47]

यहाँ इस पद्य में जयकुमार के वक्षस्थल पर पड़ी हुई माला का वर्णन किया गया है। जयकुमार के निर्मल हृदय पर प्रतिष्ठित (स्थापित) एवं प्रतिफलित वह वरमाला कुछ भीतर घुसे हुए के समान प्रतीत हो रही थी जिससे यह ज्ञान होता था कि कामदेव से (पुष्पमय) विशाल वर्णों की पंक्ति पड़ी हुई है । अर्थात् वरमाला पहन लेने से वह जयकुमार सकाम सा हो गया ।

लाटी :

जहाँ पर वैदर्भी और पाञ्चाली रीति में आये हुए वर्णों का प्रयोग एवं रचना की स्थिति हो ऐसी रचना को लाटी रीति कहते हैं ।

जयोदय महाकाव्य में लाटी रीति भी बहुशः स्थलों में व्यवहृत है। जैसे

''मृताङ्गनानेत्रपयःप्रवाहो मदाम्भसा वा करिणामथाहो ।
प्रवर्ततेऽदस्तु ममानुमानमुदगीयतेऽसौ यमुनाभिधानः ॥''[49]

यहाँ युद्ध-भूमि में मरे हुए शत्रु वीरों की स्त्रियों के आँसुओं का जल बह रहा था अथवा हाथियों का मदजल समूह बह पड़ा था इसलिये आश्चर्य है कि हमें तो यही प्रतीत होता है कि वही यमुना नदी के नाम से कहा जा रहा है । यहाँ पर 'मृताङ्गना' 'मदाम्भसां' में 'म' 'न' 'न' आदि वर्णों का प्रयोग वैदर्भी से सम्बन्धित है तथा अन्य वर्ण पाञ्चाली के पोषक हैं । इन सबको एकत्र समन्वित होने से लाटी रीति की योजना रम्य है ।

इसी प्रकार इसी सर्ग के अन्यत्र श्लोकों में भी लाटी की योजना मनोहारी है-

''विद्याधृतां कम्पवतां हृदन्तः किरीटकोटेर्मणयः पतन्तः ।
देवैर्द्विरुक्ता रभसात्समन्तयशोनिषेवैर्जयमाश्रयन्तः ॥''[50]

यहाँ यह वर्णन किया गया है कि युद्ध-भूमि में जयकुमार के बाण जब आकाश मे स्वर्ग तक पहुँचे तो हृदय मे काँपते हुए विद्याधरों के मुकुटों के अग्रभाग से गिरती हुई मणियाँ जयकुमार के यश का गान कर रही थी जो देवताओं के स्तुति मे दुगुनी होकर जयकुमार को सुशोभित कर रही थी ।

इसमें म-प, न-न आदि वर्ण वैदर्भी के पोषक तथा द्वि-व-भ-स-म आदि अनेकश. वर्ण पाञ्चाली के प्रकाशक होने से दोनों का समूह एकत्र होने के कारण लाटी रीति की रचना रम्य है ।

यहाँ मैंने रीतियों को दिङ्मात्र ही दर्शाने का प्रयास किया है । पूर्ण बोध के लिये तो काव्य ही अवगाहनीय है ।

जयोदय महाकाव्य में ध्वनि विवेचन

ध्वनि का सामान्य परिचयः

वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री के जयोदय महाकाव्य में काव्योचित चमत्कार की पर्यालोचना के प्रसङ्ग में ध्वनि विमर्श के पूर्व काव्य के स्वरूप और उसके भेदों का संक्षिप्त परिचय अप्रासङ्गिक न होगा । मम्मट के 'तद्दोषौशब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इस काव्य लक्षण का कतिपय आलङ्कारिकों ने खण्डन किया है, परन्तु बाद के आलङ्कारिकों ने इस खण्डन का भी खण्डन कर इसी लक्षण को समीचीन माना । अधिकांश आचार्यों शब्द और अर्थ दोनों में काव्यत्व स्वीकार किया है । आचार्यों के वचन निम्नलिखित हैं

''शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं वा तद् द्विधा ।''[51]

''शब्दार्थौ काव्यम् ।''[52]

''काव्यशब्दोऽयं गुणलङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।''[53]

''अदोषौ सगुणौ मालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।''[54]

''शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सलङ्कारौ च काव्यम् ।''[55]

''गुणालङ्कार सहितौ शब्दार्थौ दोष वर्जितौ ।''[56]

''शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यथापि ध्वनिः ।''[57]

इससे यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश विद्वानों के मत में शब्दार्थ युगल में ही व्यामज्यवृत्ति से काव्यत्व प्रतिष्ठित है । शब्द के अर्थ तीन प्रकार के होते है- वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य

इनमें से जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता हो वहीं काव्य उत्तम कोटि का माना गया है । काव्य में व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्याप्राधान्य तथा साहित्य को ध्यान में रखकर सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने काव्य का तीन भेद किया - उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त होता है । विद्वान् लोग इसी को ध्वनि काव्य कहते हैं। इस ध्वनिकाव्य के भी तीन वर्ग हैं - रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि । इनमें भी रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है और यही काव्य का उत्तम रूप है । पण्डित राज ने इसका उत्तमोत्तम नामकरण किया है । काव्य के दूसरे भेद को गुणीभूतव्यङ्ग्य भी कहते हैं ।

अधम काव्य को चित्र काव्य भी कहा जाता है । इस प्रकार के काव्य में व्यङ्ग्यार्थ स्फुट नहीं रहता । मम्मट ने इसको 'शब्दचित्र' और 'अर्थचित्र' दो वर्गों में विभक्त किया है । मम्मट ध्वनिकार के उक्त वर्गीकरण का अनुसरण करते हैं । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने चित्रकाव्य को काव्य भेद न मानकर केवल 'ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य' को ही काव्य भेद माना है । क्योंकि 'रसात्मक काव्य रूप काव्य की सीमा के भीतर इस प्रकार की काव्य रचना नहीं आ सकती । मम्मट के चित्र नामक एक तीसरे काव्य भेद के स्वीकार करने के सम्बन्ध में कविराज विश्वनाथ ने इस प्रकार लिखा है-

''शब्दचित्रं वाक्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्। इति ।''

तन्न, यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम्। ईषद्व्यङ्ग्यत्वमिति चेत, किं नामेषद्व्यङ्ग्यत्वम्? आस्वाद्य व्यङ्ग्यत्वम्, अनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं वा ? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तः पातः । द्वितीये त्वकाव्यत्वम्। यदि चास्वाद्यत्वं तदाऽक्षुद्रत्वमेव क्षुद्रतायामनास्वाद्यत्वात् । तदुक्तं ध्वनिकृता-

''प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ।।''[58] इति

पण्डित राज के विचार से काव्य के चार भेद हैं - (1) उत्तमोत्तम, (2) उत्तम, (3) मध्यम और (4) अधम । जिस काव्य में शब्दार्थ अपने को गौण करके व्यंजनावृत्ति से किसी चमत्कार जनक अर्थ को अभिव्यक्त करे वह उत्तमोत्तम काव्य होता है । इसी को अन्य आचार्यों ने ध्वनि काव्य कहा है । जिसमें अप्रधान व्यङ्ग्य ही चमत्कार कारण हो, वह उत्तम नामक द्वितीय काव्य भेद है[59] । जहाँ व्यङ्ग्य चमत्कार और वाच्य चमत्कार एक अधिकरण में न हो वहाँ काव्य का मध्यम नामक भेद होता है[60] । जिस वाक्य में वाक्यार्थ के चमत्कार से उपस्कृत होकर शब्द का चमत्कार प्रधान हो उसको अधम काव्य कहते हैं । जहाँ मुख्यतः रस भाव आदि की अभिव्यंजना होती है, वह उत्तमोत्तम काव्य अवश्य है, परन्तु अन्य रचनाओं को काव्य की सीमा से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता[61] ।

ध्वनिकाव्य के भेदों का परिगणन करने से पूर्व ध्वनि के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। ध्वनि शब्द 'ध्वन् शब्दे' से उणादि इ प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यङ्ग्य के व्यंजक शब्द के लिये ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है। नागेश भट्ट ने लिखा है - 'पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहित संस्कार सचिवेनान्त्य वर्णानुभवेनाभिव्यज्यते स्फोट: इति। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार ध्वनि शब्द का व्युत्पत्तिमूलक पाँच अर्थ है -

1. **ध्वनति य: स व्यञ्जक: शब्द: ध्वनि:** - जो ध्वनित करे वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।
2. **ध्वनति ध्वनयति वा य: स: व्यञ्जकोऽर्थ: ध्वनि:** - जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।
3. **ध्वन्यते इति ध्वनि:** - जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तुरूप विविध व्यङ्ग्य आते हैं।
4. **ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि:** - जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय, वह ध्वनि है। इसमे व्यंजनाशक्ति को समझना चाहिए।
5. **ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनि:** - जिसमें रस, अलङ्कार और वस्तु ध्वनित हो अर्थात् व्यङ्ग्यप्रधान काव्य ध्वनि है।

इस प्रकार आलङ्कारिकों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच भिन्न भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थों में किया है।

ध्वनि मार्ग का अवलम्बन करने से कवि प्रतिभा आनन्त्य को प्राप्त होती है। प्राचीन भावों या अर्थो को ग्रहण कर लिखी गयी कविता ध्वनि के संस्पर्श से नूतन चमत्कार की उत्पादिका होती है। जिस प्रकार बसन्त ऋतु में नवीन पल्लव एवं पुष्पों के उद्गत से सब वृक्ष नये से प्रतीत होने लगते हैं, उसी प्रकार काव्य में रस के द्वारा पूर्वदृष्ट पदार्थ भी नये की तरह दिखायी पड़ने लगते हैं[2]।

ध्वनि के भेद :

ध्वनि के अनन्त भेद बताये गये हैं। फिर भी मुख्यत: लक्षणामूल ध्वनि एवं अभिधामूल ध्वनि (अविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्य) के भेद से दो प्रकार के बताये गये हैं[3]। उनमें अविवक्षितवाच्यध्वनि को अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य एवं अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के भेद से दो प्रकार का कहा गया है[4]।

विवक्षितान्य पर वाच्य ध्वनि के असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य एवं संलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य के भेद से दो भेद कहे गये हैं[5]।

असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के भीतर रस, ध्वनि, भावध्वनि, रसाभास, भावाभास,

भावोदय, भाव-शान्ति, भाव-सन्धि, भाव-शबलता आदि भेद होते हैं[66]। असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि पदगत, पदांशगत, वर्ण रचना प्रबन्ध गत भी होता है[67]।

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य - (1) शब्द शक्त्युत्थ (2) अर्थशक्त्युत्थ (3) शब्दार्थोभय शक्त्युत्थ के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है[68]।

शब्दशक्त्युत्थ - (1) वस्तु ध्वनि (2) अलंकार ध्वनि के भेद से दो प्रकार का है[69]

अर्थशक्त्युत्थध्वनि - (1) स्वतः सम्भवी (2) कवि प्रौढोक्ति (3) कवि निबद्ध वक्त्रि प्रौढोक्ति इन तीन प्रकार के भेद से वस्तु से वस्तु ध्वनि अलंकार से अलंकार ध्वनि, वस्तु से अलंकार ध्वनि एवं अलंकार से वस्तु ध्वनि के भेद से 12 प्रकार का वर्णन किया गया है[70]। परन्तु पं. राज जगन्नाथ कवि निबद्ध वक्त्रि प्रौढोक्ति को कवि प्रौढोक्ति के भीतर ही मानकर इस भेद को अलग से नहीं मानते हैं।

इसके अतिरिक्त यह 12 प्रकार का अर्थशक्त्युत्थध्वनि भी प्रबन्धगत भी होता है[71]। आचार्य मम्मट ने लिखा है -

"प्रबन्धोऽप्यर्थ शक्तिभूः"[72]

शब्दार्थोभय शक्त्युत्थ ध्वनि केवल एक ही प्रकार का होता है शेष ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों में होते हैं। इस प्रकार ध्वनि के 35 भेद बन जाते हैं[73]। सम्पूर्ण को पदगत वाक्यगत करने से तथा शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ को जोड़ देने से ध्वनि के सामान्यतः 51 भेद हो जाते हैं[74]। इनमें भी नीर-क्षीर न्याय होने से और कहीं तिल तण्डुल न्याय (संसृष्टि) रूप में मिलने से ध्वनि के बहुल भेद निष्पन्न हो जाते हैं[75]। (साहित्यदर्पणकार ध्वनि के योग को 5304 और शुद्ध 51 भेद का जोड़ देने से 5355 ध्वनि भेद माने हैं) जिसका विवरण यहाँ विस्तृत कलेवर होने के कारण नहीं किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त जहाँ ध्वनि की प्रधानता नहीं होती किन्तु अप्रधान हो जाता है वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है। इस गुणीभूत व्यङ्ग्य के भी आठ भेद बताये गये हैं। इस प्रकार ध्वनि का परिवार विशाल एवं अनन्त है[76]।

जयोदय महाकाव्य में ध्वनि विवेचन

वस्तु ध्वनिः

वस्तु ध्वनि के लिए एक उदाहरण पर दृष्टिपात कीजिए -

"हृदये जयस्य विमले प्रतिष्ठिता चानुबिम्बिता माला।
मग्नामग्नतयाभात् स्मरशरसन्ततिरिव विशाला ॥"[77]

यहाँ सुलोचना द्वारा पहनाये गये माला जो जयकुमार के निर्मल वक्षस्थल पर प्रतिष्ठित एवं प्रतिबिम्बित हुई। निर्मल वस्तु में प्रतिबिम्ब का पड़ना स्वाभाविक होता है। यहाँ जय

के वक्षस्थल को निर्मल बताया गया है उसके ऊपर पड़ी हुई माला प्रतिबिम्बित हो रही हैं। अतएव वक्षस्थल पर भी माला का होना तथा भीतर भी पहुँच जाना धस जाना सिद्ध होता है । इस वर्णन से यह दिखाया गया है कि कामदेव के बाणों की परम्परा जय के अन्तर तक प्रविष्ट हो गयी । वह कामाहत हो गया । सकाम हो गया ।

इस महाकाव्य के अन्य स्थलों में भी वस्तु-ध्वनि की मनोरम छटा है -

''सकलासु कलासु पण्डिताः सुतनोरालय इत्यखण्डिताः ।
न मनागपि तत्र शश्रमुः प्रतिदेशं प्रतिकर्म निर्ममुः ।।''[78]

इसमें यह बताया गया है कि सुलोचना को सजाने वाली उसकी सखियाँ सम्पूर्ण कलाओं में पण्डिता थी । अतएव वे सब सुलोचना के प्रत्येक अङ्गों को परिपूर्ण रूप में अलङ्कृत करने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं कीं अर्थात् उन्हें कुछ भी आयास नहीं करना पड़ा । इससे यह ध्वनि निकलती है कि सुलोचना की सखियाँ कुशल थी ।

इसी प्रकार इसी सर्ग के आगे के श्लोक पर भी ध्यान दें -

''अलिकोचितसीम्नि कुन्तलाविबभुवुः सुतनोरनाकुलाः ।
सुविशेषकदीपसम्भवा विलसन्त्योऽञ्जनराजयो न वा ।।''[79]

यहाँ सुन्दरी सुलोचना के ललाट प्रदेश में सजाये गये केशों का वर्णन किया गया है। वे सजे हुए केश शुभ तिलक रूप में दीपकोत्पन्न कज्जल समूह तो नहीं है । यहाँ संशय सन्देहालंकार द्वारा उत्पन्न किया गया है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि सुन्दरी सुलोचना के केशपाश अत्यन्त काले थे ।

इसी प्रकार आगे के श्लोक में भी यह ध्वनि दर्शनीय है -

''सुतनोर्निदधत्सु चारुतां स्वयमेवावयवेषु विश्रुताम् ।
उचितां बहुशस्यवृत्तितामधुनाऽलङ्करणान्यगुर्हिताम् ।।''[80]

यहाँ भी यह ध्वनित हो रहा है कि सुलोचना स्वभाव सुन्दर थी ।

अलङ्कार ध्वनिः

जयोदय महाकाव्य में अलङ्कार ध्वनि का बहुशः प्रयोग हुआ है । यथा-

''असमाप्तविभूषणं सतीरधिभित्तिस्खलदम्बरं यतीः ।
पटहप्रतिनादसंवशा खलु हर्म्यावलिरुज्जहास सा ।।''[81]

यहाँ जयकुमार को देखने के लिये स्त्रियाँ उत्कण्ठित होकर चल पड़ी। उस समय प्रासाद भवन की पंक्ति नगाड़ों की ध्वनि से गुँज चुकी थी। अधुरे ही आभूषण को धारण कर वस्त्रों के गिर जाने से वे स्त्रियाँ नग्न की भाँति प्रतीत हो रही थी तथा दीवाल का सहारा लेकर चल रही थी। लगता था मानो प्रासाद पुंज देखकर हँस रही हों ।

जड पदार्थ प्रासाद पक्ति हँसी कहाँ से कर सकती है। परन्तु उसमें चेतन का आरोप करके कवि ने वर्णन किया है। इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। हर्म्यावलि पर चेतन के कार्यों का समारोप होने के कारण उत्प्रेक्षा से समासोक्ति ध्वनित हो रही है। एक और उदाहरण यथा-

''ककुभामगुरूत्थलेपनानि शिखिनामम्बुदभांसि धूपजानि ।
खतमालतमांसि खे स्म भान्ति भविनां त्रुटऽदघद्धवीनियान्ति ॥''[82]

हवन किये गये धूप से उत्पन्न हुए धुएँ आकाश में फैलते समय दिशाओं में अगर के लेप के समान प्रतीत हुए। एवं मयूरों के लिये मेघ सदृश प्रतीत हुए और भव्य जीवों के लिये भग्न अपने पापों के आकार में प्रतीत हुए।

इस प्रकार यहाँ उल्लेखालंकार वाच्य है जिसमे उपमा और अप्रस्तुत प्रशंसा ध्वनित हो रही है। इसी प्रकार आगे के श्लोकों में भी यह ध्वनि द्रष्टव्य है

''ननु तत्करपल्लवे सुमत्वं पथि ते व्योमनि तारकोक्तिमत्वम् ।
जनयन्ति तदुज्झिताः स्म लाजा निपतन्तोऽग्निमुखे तु जम्भराजाः ॥''[83]

इस पद्य में यह वर्णन किया गया है कि सुलोचना और जयकुमार के परिणय संस्कारावसर पर वर और वधू दोनों ने अपने कर पल्लवों से हवन के उद्देश्य से जो लाजा को छोड़ा वह हाथ में ग्रहण करते समय पुष्प सदृश प्रतीत हुए और ऊपर से छोड़ते समय आकाश में ताराओं (नक्षत्र) के सदृश प्रतीत हुए एवं अग्नि के मुख में पड़ते समय अग्नि के दन्त पंक्ति के समान अनुभव में आयी। इस प्रकार उस लाजा के सात विकल्पोत्थान किये गये हैं जो उल्लेखालङ्कार को स्पष्ट करता है। इस उल्लेख से यहाँ उत्प्रेक्षा व्यंजित हो रही है।

इसी प्रकार इसके पूर्व प्रथम सर्ग में ही व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि द्रष्टव्य है

''भवाद्भवान भेदमवाप चङ्ग भवः स गौरीं निजमर्थमङ्गम् ।
चकार चादो जगदेव तेन गौरीकृत किन्तु यशोमयेन ॥''[84]

यहाँ जयकुमार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह महादेव से विलक्षण है क्योंकि महादेव आधे अङ्ग में पार्वती को रख सके हैं (अर्धनारीश्वर होने से आधे अङ्ग में पार्वती की रचना कर सके हैं) परन्तु इस राजा ने अपने अखण्ड यश से सारे जगत् को गौरी बना लिया है। अर्थात् शंकर ने केवल एक अङ्ग में गौरी का निर्माण किया और यह सारे जगत को गौरी बना दिया। इसलिये व्यतिरेकालङ्कार है। जिसमे उत्प्रेक्षा, अपह्नुति एवं भ्रान्तिमान् ध्वनित हो रहा है।

जयकुमार के भुजदण्ड सर्पराज शेष के समान लम्बे थे इन्द्र के ऐरावत हाथी के शुण्डदण्ड को भी पराजित कर चुके थे। यह पृथ्वी उनके भुजदण्ड के आश्रित सुदृढ़ बन गयी। इसी शोक से मानो शेषनाग श्वेत हो गये। इस रम्य भाव का दर्शन करें-

अहीन लम्बे भुजमञ्जुदण्डे विनिर्जिताखण्डलशुण्डिशुण्डे ।
परायणायां भुवि भुपतेः स शुचेव शुक्लत्वमवाप शेषः ॥''[85]

यहाँ भी वाच्योत्प्रेक्षा से व्यतिरेक ध्वनित हो रही है ।

''श्रीपादपद्मद्वितयं जिनानां तस्थौ स्वकीये हृदि सन्दधाना ।
देवेषु यच्छ्रद्दधतां नभस्या भवन्ति सद्यः फलिताः समस्याः ॥''[86]

मुलोचना का मनोरथ सफल कैसे होगा ? इस हेतु सुलोचना अपने चित्त में भगवान् जिन के चरणकमल द्वय को हृदय से धारण की थी क्योंकि देवों पर श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति की आकाशीय समस्याएँ भी (असम्भाव्य वांछाएँ भी) सफल हो जाती है ।

यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है जिससे जिनकी उदात्तता व्यंजित होने के कारण उदात्त अलङ्कार ध्वनित हो रहा है । मुनिगत सुलोचना की रति भी व्यङ्ग्य है ।

गुणीभूत व्यङ्ग्य :

जयोदय महाकाव्य में गुणीभूत व्यङ्ग्य के एक उदाहरण पर दृष्टिपात करें-

''निपीय मातङ्गघटास्त्रगोधं स्पृशन्त्यरीणां तदुरोऽप्यमोघम् ।
वामा ध्वनामात्ममतं निवेद्य यस्यासिपुत्री समुदाप्यतेऽद्य ॥''[87]

यहाँ जयकुमार की क्षुरिका वाम मार्ग नाम से कही गयी है । वह शत्रुओं के हाथियां के मण्डल का रक्तपान कर तथा शत्रुओं के वक्षस्थल का स्पर्श करती हुई उत्कृष्ट बतलायी गयी है । इससे क्षुरिका की तीक्ष्णता व्यंजित हो रही है । यह व्यङ्ग्य वाक्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्काराधायक न होकर उसी का उपकारक बन जाता है । राजा की तलवार असि-पुत्री बतायी गयी है । अर्थात् पुत्री होकर भी वाम मार्ग को अपनाने वाली है । 'मातङ्ग' शब्द श्लिष्ट होने के कारण चाण्डाल अर्थ को भी व्यक्त करता है । इस प्रकार वह असि-पुत्री चाण्डाल के घड़े का रक्त पीकर प्रसन्नतापूर्वक शत्रुओं के हृदय का अप्रतिहत गति से आलिङ्गन करती है। इस वाच्यार्थ में चमत्कार अधिक है । असि (खड्ग) पर पुत्री का आरोप एवं 'मातङ्ग' शब्द से चाण्डाल तथा घट से घड़ा रूप अर्थ बोधकर वाममार्गिणी पुत्री के व्यवहार का खड्ग पर आरोप किया गया है, जिससे ध्वनि प्रधान न होकर अधिक चमत्काराधायक होने से समासोक्ति अलंकार अधिक चमत्काराधायक बन जाता है । अतएव यह गुणीभूत व्यङ्ग्य मध्यम काव्य है ।

अर्थ शक्त्युत्थ वस्तु से वस्तुध्वनि :

प्रकृत महाकाव्य इस ध्वनि से अछूता नहीं है । इस ध्वनि का रम्य उदाहरण महाकवि के वर्णन में द्रष्टव्य है-

"सन्ति गेहिषु च सज्जना अहा भोग संसृति शरीर निः स्पृहाः ।
तत्त्ववर्त्मनिरता यतः सुचित्प्रस्तरेषु मणयोऽपि हि क्वचित् ।।"[188]

यहाँ वर्णन किया गया है कि गृहस्थों में भी कतिपय सज्जन ऐसे होते हैं जो संसार शरीर और भोगों से स्पृहा शून्य होते हैं क्योंकि वे तत्त्व मार्ग में रत रहते हैं । ठीक ही है कहीं-कहीं सुन्दर पत्थरों में बहुमूल्यवान् मणि भी मिल जाते हैं । इस वाक्यार्थ रूप वस्तु में यह ध्वनि निकलती है कि गृहस्थ मार्ग में भी कतिपय व्यक्ति आसक्तिहीन होते हैं ।

व्यभिचारी भाव की व्यङ्ग्यता :

प्रकृत ग्रन्थ से इस ध्वनि का एक उदाहरण देखें

"परिणता विपदेकतमा यदि पदमभून्मम भो इतरा पदि ।
पतितुजोऽनुचितं तु पराभवं श्रणति सोमसुतस्य जयो भवन् ।।"[189]

इस पद्य में चिन्ताभाव व्यंजित है । अर्ककीर्ति और जयकुमार के युद्ध में जयकुमार को विजय प्राप्त हो जाने पर काशी नरेश महाराज अकम्पन का कथन है कि हे भगवन् । सुलोचना सम्बन्धी एक विपत्ति तो दूर हुइ परन्तु अब दूसरी विपत्ति के स्थान को हम प्राप्त हो गये । क्योंकि अर्ककीर्ति से जय की ठन गयी है । इस उक्ति मे राजा की चिन्ता व्यंजित होने मे यहाँ भाव ध्वनि है ।

यह चिन्ता ही उत्तरोत्तर शान्ति की व्यवस्थापिका बनती है । महाराज चक्रवर्ती भरत के पास काशी नरेश अकम्पन द्वारा दूत का भेजना एवं भरत द्वारा अकम्पन के कृत्यों का समर्थन शान्ति की पुष्टि करता है । विग्रह निवृत्ति हेतु ही अककीर्ति की अक्षमाला अर्पण की गयी है ।

उत्तरोत्तर सर्गो का इतिवृत्त शम स्थायिशान्त की ओर ही उन्मुख दिखायी दे रहा है। यथा-

"कचेषु तेलं श्रवसोः फुलेलं ताम्बूलमास्ये हृदि पुष्पितेऽलम् ।
नासाधिवासार्थमसौ समासात्समस्ति लोकस्य किलाभिलाषा ।।"[190]

यहाँ केशों में तेल लगाना कानों में इत्र आदि का पोतना, मुख में ताम्बूल रखना, वक्षस्थल पर पुष्पमाला धारण करना नासिका द्वारा सुगन्धित वस्तु का सेवन करना आदि ये सब कृत्य लोक की ही इच्छाएँ हैं । परन्तु मननशील मुनियों की पद्धति इससे भिन्न है जैसा कि इसी सर्ग के श्लोक संख्या सोलह में दिखाया गया है -

"शिरोगुरोरंघ्रिधुरोरजोभिरुरः पुरः पांशु परं सुशोभि ।
फुत्कारपुत्का खलु कर्णपालीत्यदन्तमृष्टस्य मुनेः प्रणाली ।।"[191]

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि अपने मस्तक को गुरु के चरण रज से सम्पृक्त करें

तथा सम्मुख (दण्डवत्) आदि प्रणाम प्रक्रियाओं के द्वारा वक्षस्थल को भी धुलि से अलङ्कृत करे तथा मन्त्रों के फुत्कार द्वारा अर्थात् मन्त्र दीक्षा द्वारा कर्ण पाली (कर्ण पंक्ति) को पवित्र करें। जो अभी मननशील एवं जितेन्द्रिय नहीं हैं उनके लिये यह पद्धति बतलायी गयी है।

अपराधयुक्त व्यक्ति गुरु के समीप पहुँचने के लिये यत्नशील होता हुआ भी पन्द्रह दिन या एक माह पर्यन्त उद्योग तत्पर होकर सुन्दर बुद्धि को पाकर लेश्या[92] विशुद्धि प्राप्त करना है। उस स्थिति में भिक्षा चरण के द्वारा निर्वाह कर अन्त:करण को निर्मल बनाया जाता है। यह भैक्ष शुद्धि अपराध का उत्पादक नहीं होता है। यह गृहस्थ जीवन मे ऊपर उठने वाले व्यक्ति के लिये कहा गया है। यथा-

"आपक्षमासं व्रजतोऽपि मन्तुर्गुरूनुरूद्योगपरोऽपि गन्तुम् ।
लेश्याविशुद्धिं लभते सुबुद्धिर्नैवापराध्यत्यपि भैक्ष्यशुद्धिम् ॥"[93]

शरीर के प्रति घृणा बुद्धि उत्पन्न कर एकान्त सेवन की ओर बल दिया गया है। जो इसी सर्ग के आगे के श्लोक से अभिव्यक्त है-

"शरीरमात्रं मलमूत्रकूण्डं समीक्षमाणोऽपि मलादिझुण्डम् ।
त्यजेदजेतव्यतया विरोध्यमेकान्तमेकान्ततया विशोध्य ॥"[94]

इस पद्य में यह कहा गया है कि मल-मूत्र का पात्र सारा शरीर है। यह विचार करते हुए भी किन्तु जीतने की क्षमता न होने के कारण एकान्त में मन मे विचार कर निश्चल रूप से विरोद्योत्पादक वस्तुओं का परित्याग करें।

इसी प्रकार शान्त को उत्कृष्ट बनाने के लिये ही आगे के श्लोकों में उसके साधन इस प्रकार बताये गये हैं कि जिस प्रकार पत्नी को ग्रहण किया जाता है उसी के सदृश परिश्रममात्र से प्राप्त उपकरण के द्वारा जीवन निर्वाह करना उचित होता है। इस शरीर को जलते हुए कुटीर के समान समझना चाहिए एवं आपत्ति काल में भी आसक्तिहीन होकर इसको छोड़ने के लिये उत्सुक होना चाहिए। यथा -

"श्रमैकसम्वाहि किलाभिजल्पन्विनिर्वहत्यात्तकलत्रकल्प: ।
ज्वलत्कुटीरोपममेतदङ्गमापत्क्षणे मोक्तुमुदेत्यसङ्ग: ॥"[95]

इस श्लोक द्वारा एकान्त निवास एवं शरीर के प्रति अनास्था उत्पन्न करायी गयी है।

सर्ग की समाप्ति में यह लक्ष्य बताया गया है कि सत्कर्तव्य मार्ग का उपदेश करना, अपवर्ग अर्थात् नित्य सुख-निश्चल शान्ति को प्राप्त करने के लिये साधन हैं।

"सदाचारविहीनोऽपि सदाचारपरायण: ।
स राजापि तपस्वी सन् समक्षोऽप्यक्षरोधक: ॥"[96]

अर्थात् यह गुप्तचर एवं दूतों से सदा के लिये रहित हुआ तथा सज्जनों के किये गये

आचारित मार्ग में तत्पर हुआ । राजा होते हुए भी तपस्वी बना । समदृष्टि रखते हुए भी इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी व्यापार का निवारक बना ।

इसी प्रकार आगे के श्लोकों में भी महाकवि ने वर्णन किया है जो देखने योग्य है

"हेरयैवेरयाव्याप्तं भोगिनामधिनायकः ।
अहीनः सर्पवत्तावत्कञ्चुकं परिमुक्तवान् ॥"[97]

अर्थात् यह विलासियों का स्वामी था । परन्तु जिस प्रकार सर्पों का राजा सर्पों की भाँति अपने ही कंचुक का त्याग करता है, वैसे ही जयकुमार भी धन सम्पत्ति मे व्याप्त नहीं रहा अपितु उससे मुक्त बना सम्पूर्ण संयम में तत्पर होकर पंचमुष्टि भिक्षाटन पर ही अपने भाग्य को अवलम्बित किया तथा पापों को उखाड़ फेंका ।

इस प्रकार पूरे महाकाव्य मे शान्त रस ध्वनि अभिव्यक्त होती है । अन्य रस अङ्ग होकर आये हुए हैं, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है ।

ध्यातव्य है कि इस महाकाव्य में ध्वनि का दिग्दर्शन ही मेरा अभीष्ट रहा है । समग्र ध्वनियों का अन्वेषण नहीं । अतः मेरा ध्वनि विवेचन अति विस्तार को नहीं प्राप्त कर सका।

* * *

फुट नोट

1. (अ) माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश । का प्र सू 88 68 पृ
   (ब) श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसदा इति ये पुनः ॥
   गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते । माधुर्य व्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम् ।
   पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः । अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्य गुणेनैव परिग्रहः ।
   अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम् । ग्राम्यदुः श्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता ॥
   क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदः स्वरूपिणी । अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तः पातो यथायथम्।
   ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता । तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः ॥
   अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यलङ्कारेण तथा पुनः । रसध्वनि गुणीभूत व्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः।
   श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम । न गुणत्वं समाधेश्च तेन नार्थगुणाः पृथक् ।
   सा द 8/9, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 16
2. वामन- का सू. वृ. 3/2/6 3. सा द 8/2 पृ
4. आह्लादकत्व माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् । का प्र सू. 89/68 उत्त
5. संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥ सा द. 8/2
6. मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना। रणौ लघु च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
   अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा । - सा. द. 8/3, 4 पृ.
7. ज. म. 10/111 8 ज. म. 10/119
9. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥

वीर वीभत्स रौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्यतु । - सा. द. 8/4 उत्त. 5 पृ.

10. वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥
उपर्यद्यो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह । शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकता गताः ॥
तथा समासो बहुला घटनौद्धत्यशालिनी । - सा. द. 8/5 उत्त. 6, 7 पृ.

11. ज. म. 8/13 12. ज. म. 8/14 13.वही. 7/46

14. चित्तं व्यप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानल ॥
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च । - मा. द. 8/7 उत्त. 8 पृ.

15. का. प्र. 8/70 16. ज. म. 5/96 17.ज. म. 10/82 18.ना. शा. 14/36

19. पृथिव्यां नानादेशेवशभाषाचारवार्ताः स्थापपरीति प्रवृत्तिः । - ना. शा.

20. हर्ष च. प्र. उच्छ 1/7

21. तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः । - काव्यादर्श

22. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः । एषां विपर्ययो प्रायो दृश्यये गौडवर्त्मनि - का. 1/42

23. रीतिरात्मा काव्यस्य । - काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/6

24. विशिप्ट पद रचना रीतिः । - काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/7

25. काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/12

26. वही. 1/2/12 27.वही. 1/2/13

28. गुणानाश्रित्य तिप्ठन्ती, माधुर्मादीन् व्यनक्ति सा । रसान् ....॥
ध्वन्यालोक 3/6

29. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् । उपकर्ती रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥
- सा. द. 9/1

30. वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लटिका तथा । - सा. द. 9/2 पृ.

31. अस्पृष्टदोषमात्राभिः समग्रगुणगुफिंता । विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥
- काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

32. सतिवश्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने । अस्ति तन्न विना येन परिस्त्रवति वाङ्मथु ॥
- काव्यालङ्कार सूत्र वृ

तासां पूर्वा ग्राह्य गुणसाकल्यात्। वही. 1/2/14 न पुनरितरे स्तकि गुणत्वात्। वही. 1/2/15
तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि । वही. 1/2/2
किन्त्वस्तिकाचिदपरेव पदानुपूर्वी, यस्यां न किञ्चदपि किञ्चिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता, चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥ काव्या. सू. वृ.
वचसि यमधिगम्य स्यन्दते वाचक श्री - वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति ।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ, सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ॥
काव्या. सू. वृ.

33. वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम् । वा. रा. 3/14

34. सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः । मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः ॥
व. जी. 1/29

सोऽतिदुः संचरो येन विदग्धकवयो गताः षड्गधारापथेनैव मुभटा नां मनोरथाः व. जी. 1/43

35. तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः श्री भतृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति ।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ता ॥ नव. सा. च. 1/5

36. अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाम प्रतिमः पदानाम् ॥ विक्र. दे. च. 1/9

37. आदि स्वादुषुः या परा कवयतां काप्टा यदारोहणे ।
या ते निः श्वसितं नवापि च रसा यत्र म्वदन्नेतराम् ॥
पाञ्चालीतिपरम्परापरिचितो वादः कवीनां परं,
वैदर्भी यदि सैव वाचि किमितः म्वर्गेऽपवर्गेऽपि वा ॥ न च 3/18

38. धन्यासि वैदर्भी गुणैरुदौरर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलोकरीति ॥ नै. म. 3/116

39. माधुर्यव्यञ्जकेर्वर्णै रचना ललितात्मिका ॥ अवृत्तिरल्पवृत्तिवां वैदर्भी रीतिरिष्यते ।
सा द. 9 2 उत्त. 3 पृ.

40. ज. म. 10/117 41. ज. म. 10/119

42 ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः । ममाम बहुला गौडी ।
मा द 9/3 उत्त 4 पृ.

43. ज. म. 8/13 44. ज म 8 14

45. वर्णै शेषैः पुनर्द्वयोः । समस्तपञ्चपपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥
मा द 9/4 पृ एवं 4 उत्त.

46. ज. म. 5/96 47. वही. 6/128

48. लाटी तु रीतिर्वैदर्भी पाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता । मा द 9/5 पृ.

49. ज. म. 8/41 50. ज. म 8/46 51. भामह का 1/16

52. रुद्रट, काव्या. 2/1 53. वामन 1/1 54. हेमचन्द्र, पृष्ठ 16

55. वाग्भट, पृष्ठ-14 56. प्रतापरुद्रे विद्यानाथ, पृष्ठ 42

57. एका. वि. पृष्ठ-113 58. मा द च. परि. पृष्ठ 291 से 292

59 यत्र व्यङ्ग्यप्राधानेमेव मच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम् । रसगङ्गा पृष्ठ 61

60. यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारसमानाधिकरणे वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ॥ रसगङ्गाधर पृष्ठ 70

61. यस्तु 'रसवदेवकाव्यम्' इति साहित्यदर्पणेनिर्णीतम्, तन्न, वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न चेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जल प्रवाह वेग निपतनोत्पतन भ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालादिविलासितानि च। न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेतिवाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गोश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभा वानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक् । - रसगङ्गाधर

62. दृष्टपूर्वा अपिह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् । सर्वेनवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥
- ध्वन्यालोक 4/4

63. भेदौ ध्वनेरपि द्वावदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।
अविवक्षित वाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥ - सा. द. 4/2

64. अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते ।
अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति ॥ - वही. 4/3

65. विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेद: प्रथमं मत: ।
असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्य क्रमस्तथा ॥ - वही. 4/4

66. तत्राद्यो रसभावादिरेक एवात्र गण्यते ।
एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्य नैव यत् ॥ - वही. 4/5

67. पदांशवर्णरचनाप्रबन्धेष्वस्फुटक्रम: । - वही. 4/11 पृ.

68. शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे ।
ध्वनिर्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यस्त्रिविध: कथितो बुधै: ॥ - वही. 4/6

69. वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्द शक्त्युद्भवो द्विधा । - वही. 4/7 पृ.

70. वस्तु वालङ्कृतिर्वापि द्विधार्थ: सम्भवी स्वत: ॥
कवे: प्रौढोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेति षट् ।
षड्भिस्तैर्व्यंज्यमानस्तु वस्त्वलङ्कार रूपक: ॥
अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो याति द्वादशभेदताम् । सा द. 4/7 उत्त., 8, 9 पृ.

71. प्रबन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनि: । वही 4/10 उत्त.

72. का. प्र. 4/42

73. एक: शब्दार्थशक्त्युत्थे तदष्टादशधा ध्वनि: ।
वाक्ये शब्दार्थशक्त्युथस्तदन्ये पदवाक्ययो: । वही 4/9 उत्त. 10 पृ.

74. तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मता: । सा द 4/11 उत्त.

75. सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।
वेदखाग्निशरा: (5304) शुद्धैरिषुबाणाग्निसायका: (5355) ॥ वही. 4/12

76. अपरं तु गुणीभूत व्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।
तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्धयङ्गम् ॥
संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगुढम् ।
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥ सा. द. 4/13, 14

77. ज. म. 6/126 78. ज. म. 10/32 79. वही. 10/33 80. ज. म. 10/41

81. वही. 10/67 82. ज. म. 12/68 83. वही. 12/71 84. ज. म. 1/15

85. ज. म. 1/25 86. वही. 1/68 87. ज. म. 1/34 88. ज. म. 2/12

89. वही. 9/2 90. ज. म. 27/15 91. वही. 27/16

92. जह गेरुवेण कुड्डो लिप्पड लेवेण आम पिट्ठेण ।
तह परिणामो लिप्पड सुहासुहा यत्ति लेवेण ॥ - पं. सं. (प्राकृत ग्रन्थ)

93. ज. म. 27/32 94. वही. 27/36 95. ज. म. 27/60 96. वही. 28/5

97. ज. म. 28/6

❑ ❑ ❑

सप्तम - अध्याय

'जयोदय महाकाव्य'
में औचित्य एवं
कतिपय दोष

जयोदय महाकाव्य में औचित्य एवं कतिपय दोष

जयोदय महाकाव्य में औचित्य :

अनौचित्य के त्याग से औचित्य का ज्ञान स्वत: सिद्ध हो जाता है, जिस प्रकार घट के ज्ञाता व्यक्ति को घटाभाव का ज्ञान स्वत: सिद्ध हो जाता है। जयोदय में औचित्य विमर्श के पहले उसके सम्बन्ध में आचार्यों के तत्सम्बन्धी कथन को अभिव्यक्त कर देना असंगत नहीं होगा। अपितु संगति का साधन ही है। इसलिये उनके उपदिष्ट सिद्धान्त को कतिपय शब्दों से व्यक्त किया जा रहा है।

संस्कृत साहित्य में औचित्य पर सर्वप्रथम विचार नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत मुनि ने ही व्यक्त किया है। यद्यपि उनके ग्रन्थ में विशेष विवेचन नाट्यशास्त्र सम्बन्धी हैं तथापि वहाँ नाट्य के अङ्गों तथा सभी कमनीय कलाओं का भी प्रदर्शन किया गया है। उनका कथन है कि सांसारिक व्यक्ति एक प्रकृति, एक चरित्र, एक चित्त एक अवस्था के नहीं होते हैं। अपितु धार्मिक, अधार्मिक, सदाचारी, दुराचारी, कृतज्ञ, कृतघ्न विविध प्रकार के होते हैं। उनकी विविध अवस्थाओं के चित्रण से युक्त लोक वृत्त का अनुकरण ही नाट्य कहलाता है[1]।

अवस्थाओं की अनुरूपता इस प्रकार होनी चाहिए कि अवस्था के अनुसार वेश, वेश के अनुसार गति तथा क्रिया गतिशीलता के अनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए[2]। इसके विरुद्ध करने से अनौचित्य माना गया है।

देश के प्रतिकूल वेश धारण करने से शोभा नहीं होती है। मेखला को कण्ठ में धारण किया जाय तथा नुपुर को हाथ में धारण किया जाय तो इससे शोभा न बढ़कर उपहास ही होता है[3]। इस प्रकार भरत के कथन से औचित्य का आविर्भाव अवश्य हो जाता है। भरत के ही सूत्र को आधार बनाकर परवर्ती आचार्यो ने औचित्य तत्त्व की विस्तृत व्याख्या की है।

आचार्य भरतमुनि के अनन्तर अलंकारिकों में प्रथम नाम भामह का गणनीय है। उनके अनुसार कहीं-कहीं अनौचित्य रूप से प्रतीत दोष भी यदि परिहार के योग्य हो तो वे दोष न होकर गुण बन जाते हैं।

''सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ।।''[4]

तात्पर्य यह है कि दोष भी कहीं-कहीं गुण रूप में होकर शोभा धायक बन जाते हैं, जिस प्रकार काला कज्जल भी कामिनी नयन में शोभावर्धक हो ही जाता है[5]।

अपार्थ दोष के विषय में दण्डी का कथन है कि समुदाय रूप से अर्थ शून्य प्रयोग अपार्थ कहे जाते हैं किन्तु वे ही यदि उन्मत्त, मत्त अथवा बालक आदि के प्रयोग में हों तो दोष न होकर काव्योपयुक्त बन जाते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार दोष किसी विशेष परिस्थिति में ही होते हैं। यदि वे परिस्थितियाँ हटा दी जाय तो दोष न होकर वहाँ गुण बन जाता है[6]।

इसी प्रकार कान्यकुब्ज के अधिपति यशोवर्मा के भी समर्थन मिलते हैं। उन्होंने अपने रामाभ्युदय नाटक में प्रकृत श्लोक प्रस्तुत किया है

> "औचित्यं वचसां प्रकृत्यंनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता,
> पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे नचातिक्रमः।
> शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयो,
> र्विद्वद्भिः परिभाव्यतामविहितै रेतावदेवास्तु नः ॥"[7]

संभवतः इसी नाटक से भोजराज ने भी शृंगार प्रकाश में यह श्लोक उद्धृत किया है। ध्वन्यालोक तृतीयोद्योत में "कथामार्गेन चाति क्रमः" इस पंक्ति पर लोचनकार की टिप्पणी से भी उक्त श्लोक यशोवर्मा का ही प्रतीत होता है।

आचार्य रुद्रट ने भी अपने काव्यालङ्कार में औचित्य का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म रूप से किया है। अलङ्कारों का सन्निवेश रस के साथ किस प्रकार होना चाहिए, इस सम्बन्ध में उक्त ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के बत्तीसवें पद्य में ऐसा कहा है कि काव्य में औचित्य के आधार पर ही अलङ्कारों का सन्निवेश यथार्थ हो सकता है[8]।

इसी प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी औचित्य पर पूर्णबल दिया है। आवश्यकतानुसार अलंकारों का समय पर ग्रहण एवं समय पर त्याग करना चाहिए[9]। अतएव अनपेक्षित का त्याग एवं अपेक्षित का उपादान करने के लिये किसी अंश में शास्त्रीय सिद्धान्त का त्याग एवं चमत्कार लाने के लिये कल्पित अंश का सन्निवेश करना भी उचित माना गया है[10]। जो ध्वन्यालोक के संघटना निरूपण प्रसङ्ग में दिखाया गया है।

औचित्य प्रदर्शन में रस के औचित्य पर ही अन्य सब पदार्थ आधारित हैं, जो ध्वन्यालोक के तीसरे उद्योत की छठवीं कारिका मे व्यक्त है।

विभावादि औचित्य विनिबन्धन के साथ साथ काव्य में अङ्ग का अति विस्तार अङ्गी का अनुसन्धान न करना अनङ्ग का कथन प्रकृति विपर्यय आदि दोष अनौचित्य पर ही आश्रित हैं[12]।

इन अंशों को कहकर तृतीयोद्योत में ही अनौचित्य ही रस का परम विघातक है और जिस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार उपनिषद के कहे हुए साधनों से माना गया है, उसी प्रकार

रस निष्पत्ति में औचित्य ही मुख्य कारण है । यह तत्त्व आनन्दवर्धनाचार्य ने मुक्तकण्ठ से व्यक्त किया है[13]।

इसी प्रकार सरस्वती कण्ठाभरण तथा शृङ्गार प्रकाश ग्रन्थ निर्माता भोजराज ने भी विरुद्ध नामक दोष को अनौचित्य के ऊपर ही अवलम्बित किया है । देश विरोध, काल विरोध, लोक विरोध, अनुमान विरोध औचित्य विरुद्ध के अन्तर्गत ही है[14] ।

वक्रोक्तिजीवित निर्माता कुन्तक भी औचित्य का चमत्कार व्यक्त करते हैं । यज्ञादि में म्लेच्छ भाषाओं का प्रयोग स्त्रियों के साथ प्राकृत छोड़कर अन्य भाषाओं में भाषण, सत्कुलोत्पन्न के प्रति संकीर्ण भाषा का प्रयोग अप्रबुद्ध जनों के प्रति संस्कृत शब्दों का प्रयोग स्वभाव के विरुद्ध माना गया है । इसके अनुसार रीति तीन प्रकार की है - सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम। इन तीनों रीतियों (मार्गों) में समान रूप से रहने वाले गुण औचित्य और सौभाग्य हैं[15] । इस प्रकार कुन्तक ने औचित्य को सबसे व्यापक काव्य तत्त्व माना है । वर्ण विन्यास वक्रता के विवेचनावसर में वक्रतापूर्ण वर्ण योजना अनिवार्य रूप से होनी चाहिए, जिससे प्रस्तुत औचित्य सुशोभित होता है[16] । जहाँ वक्ता या श्रोता के अत्यन्त रमणीय स्वभाव के द्वारा अभिध्ये वस्तु सर्वथा आच्छादित कर दी जाती है, वहाँ दूसरे प्रकार का औचित्य होता है[17] ।

औचित्य के विषय में व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट भी आनन्दवर्धन के अनुयायी हैं। अनौचित्य को महिमभट्ट भी प्रधान दोष के रूप में स्वीकार करते हैं[18] । विदग्ध मण्डल मण्डित आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य तत्त्व सबसे अधिक महत्त्व रखता है । उनकी अमर कीर्ति 'औचित्य विचार चर्चा' है ।

दशरूपककार ने भी कहा है कि सम्पूर्ण वस्तु का दो भाग करना चाहिए कुछ तो सूच्य होना चाहिए जो दृश्य अथवा श्रव्य हो । नीरस वस्तु अनुचित रूप में प्रतीत होता है, इसलिये संशूच्य रूप में ही वस्तु का विस्तार करना चाहिए । दृश्य वस्तु मधुर उदात्त रसभाव समन्वित होना चाहिए[19]।

औचित्य विचार में क्षेमेन्द्र ने कहा है कि उचित व्यापार को ही औचित्य कहते हैं[20]। औचित्य के अनन्त भेद कहे जा सकते हैं । काव्य के प्रत्येक अङ्ग एवं उपाङ्ग औचित्य के व्यापक प्रभाव से भरे रहते हैं ।

क्षेमेन्द्र का कथन है कि उचित स्थान में विन्यास से अलङ्कार-अलङ्कार होता है एवं गुण-गुण होते हैं । यदि उसके स्थान में उनका विन्यास सन्निवेश न हो तो वह अलङ्कार-अलङ्कार नहीं एवं गुण-गुण नहीं हो सकता[21]। वह अनौचित्य का रूप ही धारण करेगा जैसे कण्ठ में मेखला नितम्ब प्रदेश में मुक्ताहार, हाथ में नूपुर, चरण में अङ्ग धारण करने तथा प्रणत पर पराक्रम और शत्रु पर कृपा करने से कौन उपहास का पात्र नहीं बनता[22] ? यह औचित्य विरुद्ध होने से उपहास का ही स्थान प्राप्त करेगा । औचित्य विचार प्रसङ्ग में क्षेमेन्द्र

ने प्राय: 27 प्रकार का विचार हेतु सोपान बना रखा है-

(1) पद, (2) वाक्य, (3) प्रबन्धार्थ, (4) गुण, (5) अलङ्कार, (6) रस, (7) क्रिया, (8) कारक, (9) लिङ्ग, (10) वचन, (11) विशेषण, (12) उपसर्ग, (13) निपात, 14) काल, (15) देश, (16) कुल, ९ (17) व्रत, (18) तत्त्व, (19) सत्त्व, (20) अभिप्राय, (21) सार-संग्रह, (22) प्रतिभा, (23) अवस्था, (24) काव्यार्थ, (25) विचार, (26) नाम (संज्ञा), (27) आशीर्वाद । इन्हीं स्थानों में औचित्य की सुस्पष्टत: प्रतीति होती है'[1]।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने यह स्वीकार किया है कि काव्य का जीवन धायक औचित्य ही है । यदि औचित्य नहीं है तो अलङ्कार गुण, रस आदि सब व्यर्थ हैं । क्योंकि रस परिपाक में औचित्य ही प्रधान है । औचित्य ही सिद्ध रस का स्थिर प्राण है'[4] ।

जयोदय महाकाव्य में औचित्य का सन्निवेश पर्याप्त है । प्रत्येक सर्ग में विषयानुसार वृत्तचयन तथा प्रसादगुण को अपनाया गया है, जिसका निदर्शन अवधेयार्थ है

1. **पदौचित्य :** पदौचित्य के सम्बन्ध में औचित्य विचार चर्चा ग्रन्थ के निर्माता आचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि जिस प्रकार सरदिन्दु मुखी सुन्दरी के ललाट पर कस्तूरी निर्मित श्याम तिलक शोभा देता है एवं श्याम वर्ण कामिनी के ललाट पर श्वेत चन्दन का तिलक शोभा देता है, उसी प्रकार एक भी समुचित प्रयोग किया गया पद काव्यात्मक वाणी में अपूर्व मधुरिमा का संचार कर देता है' । पदौचित्य से यह महाकाव्य सर्वथा ओतप्रोत है । इसके उदाहरण से कोई स्थल शून्य नहीं है तथापि स्थाली पुलाक न्याय से उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है । षष्ट सर्ग में स्वयंवर वर्णन प्रसङ्ग में अर्ककीर्ति के समक्ष जिस समय सुलोचना पहुँचती है और विद्यादेवी अर्ककीर्ति का परिचय देकर उनके साथ सम्बन्ध हेतु सुलोचना को मर्यादानुसार इङ्गित करती है, उस समय सम्बन्ध योजना में सुलोचना को अम्भोजमुखि इस पद से सम्बोधित किया गया है । कमल का अर्क अर्थात् सूर्य के साथ सम्बन्ध होने में प्रसन्नता प्राप्त होती ही है, इसी दृष्टि से यह सम्बोधन दिया गया है । विद्यादेवी कहती हैं-

> ''भरतेशतुगेष तवाथ रते: स्मरवत् किमर्ककीर्तिरयम् ।
> अम्भोजमुखि भवेत्सुखि आस्यं पश्यन्सुहासमयम् ॥''[26]

तात्पर्य यह है कि हे कमल मुखी ! यह चक्रवर्ती भरत का पुत्र अर्ककीर्ति है तुम्हारे मुख को देखकर वह वैसे ही प्रसन्न हो जायेगा, जैसे रति को देखकर कामदेव प्रसन्न हो जाता है । इस पद्य में अम्भोज मुखि! यह सम्बोधन पदौचित्य का पूर्ण परिचायक है ।

इसी प्रकार आगे के श्लोकों में भी यह औचित्य मनोरम है । पदौचित्य का एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है -

"दुग्धीकृतेऽस्य मुग्धे यशसा निखिले जले मृषास्ति सता ।
पयसो द्विवाच्यताऽसौ हंसस्य च तद्विवेचकता ।।"[27]

प्रकृत पद्य पदौचित्य के लिये अद्वितीय है तथा इस औचित्य के पोषक के रूप में अकेले ही पर्याप्त है ।

2. **वाक्यौचित्य :** वाक्यौचित्य के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि औचित्य से रचित वाक्य काव्यालोचक विद्वत् जनों को निरन्तर उसी प्रकार अभीष्ट रहता है, जिस प्रकार दान के द्वारा सम्पत्ति की उदात्तता और दाक्षिण्यादि गुणों के द्वारा विद्या की उज्जवलता सज्जनों के लिये अभिमत होती है[28] ।

जयोदय महाकाव्य में वाक्यौचित्य अपना व्यापक स्थान रखता है । इस औचित्य के दो-तीन उदाहरणों पर दृष्टिपात करें-

"त्रिभुवनपतिकुसुमायुधसेनायाः स्वामिनी त्वमथ चेयान् ।
भरताधिपबलनेता तस्मात्ते स्याज्जयः श्रेयान् ।।
तव चैष चकोरदृशो दृश्योऽवश्यं च कौमुदात्तिमयः ।
सोमाङ्गजो हि बाले सतां वतंसः कलानिलयः ।।
एतस्याखण्डमहोमयस्य बाले जयस्य बहुविभवः ।
बलमण्डो भुजदण्डो बसुधाया मानदण्ड इव ।।"[29]

उपर्युक्त उदाहरणों में स्वयंवर काल में जयकुमार का परिचय दिया गया है । त्रैलोक्यपति कामदेव के सेना की स्वामिनी जैसे तुम हो वैसे ही चक्रवर्ती भरत की सेना का नायक यह जयकुमार है इसलिये तुम्हारा इसके साथ सम्बन्ध श्रेयस्कर है ।

हे बाले ! सोमकुलोत्पन्न यह कुमार कलाओं का घर सज्जनों का भूषण एवं चन्द्र प्रकाशमय है तथा तुम जैसे चकोर नेत्री के लिये अवश्य दर्शनीय है ।

इसका भुजदण्ड बहुविभव बल- मण्डित एवं पृथ्वी को नापने के लिये मानदण्ड सरीखा है, इसलिये तुम्हारे साथ सम्बन्ध हो जाना सर्वथा समुचित होगा । इसमें जयकुमार के परिचयात्मक वर्णन किये गये हैं, जो वाक्यौचित्य का परिचायक है ।

3. **विषयौचित्य:** जयोदय महाकाव्य इस औचित्य से भरा पड़ा है। जयकुमार के शासन काल में कोई व्यक्ति वस्त्रहीन नहीं हुआ, खाने पीने की सामग्री इतनी पर्याप्त थी कि उपवास करने की स्थिति नहीं आयी, अतएव चित्त में चिन्ता का कभी निवास नहीं हुआ । संसार में ऐहिक सुख की पूर्ण प्राप्ति हुई । संसार से तथा सांसारिक दुःख से मनुष्य मुक्त रहे, यह विलक्षण चरणानुयोग है । जैन धर्मानुसार दिगम्बर होने, उपवास करने आत्मचिन्तन तथा भोगों के त्याग से मुक्ति होती है । यह सदाचार प्रतिपादक ग्रन्थ

चरणानुयोग में दिया गया है। जयकुमार के चरण सम्पर्की अर्थात् चरण के समीप में आये हुए (शरणागत) व्यक्तियों के लिये किसी प्रकार का दुःख नहीं हुआ यह सरल शब्द उपजाति वृत्त के द्वारा दिखाया गया है। यह शासन प्रबन्ध प्रदर्शन शैली यथार्थ निरूपण के लिये स्वाभाविक प्रवाह से भरी हुई है। यथा

"दिगम्बरत्वं न च नोपवासश्चिन्तापि चित्ते न कदाप्युवास ।
मुक्तो जनः संसरणात्सुभोगस्तस्याद्भुतोऽयं चरणानुयोगः ॥"[30]

जयकुमार के दया दाक्षिण्य उदारता, शासन कुशलता आदि का वर्णन कर विषयौचित्य प्रगट करने से यहाँ काव्य अलौकिक आनन्दप्रद बन गया है।

4. **गुणौचित्य** : औचित्य विचार चर्चा की चौदहवीं कारिका में क्षेमेन्द्र ने गुणौचित्य का अनुपम वर्णन किया है जिसमें कहा गया है कि जिस प्रकार कान्ता संगम समय में नवोदित चन्द्र आनन्द का क्षरण करता है उसी प्रकार प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप ओज प्रसाद, माधुर्यादि गुण काव्य में सुन्दर एवं स्पष्टतया निपुण होते हैं।

जयोदय महाकाव्य में गुणौचित्य का अपना उचित स्थान है यथा

"दृष्ट्वा स्वसेनामरिवर्गजेनाऽयुधक्रमेणास्तमितामनेनाः ।
रोद्धुञ्च योद्धुं जय ओजसो भूः श्रीवज्रकाण्डाख्य धनुर्धरोऽभृत ॥"[32]

इस पद्य में शत्रु दल के साथ जयकुमार सेना का युद्ध बताया गया है। पवित्र जयकुमार ने शत्रु मण्डल के आयुधाक्रमण से अपनी सेना को अस्त होते हुए देखकर शत्रु सैन्य को रोकने के लिये तथा युद्ध करने के लिये वज्रकाण्ड नामक धनुष को धारण किया।

यहाँ 'दृष्ट्वा' में संयुक्ताक्षर 'ष्' 'ट' वर्ग में 'र' 'ग' क्रमेण 'र' 'क' 'स्वसेन्' में स् न् रोद्धुं योद्धुं में 'द्' 'ध' वज्र में 'ज' 'र' काण्डाख्य में ण्ड 'य' धनुधर में र् ध से वर्ण विन्यास ओज गुण से पूर्ण है। अतः ओज गुणौचित्य समीचीन है।

सुलोचना वर्णन प्रसङ्ग में प्रकृत औचित्य का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है

"कुसुमगुणितदाम निर्मलं सा मधुकरगर्वनिपूरितं सदंसा ।
गुणमिव धनुषः स्मरस्य हस्तकलितं सदधर्ती तदा प्रशस्तम् ॥"[33]

यहाँ शोभन स्कन्ध प्रदेश वाली सुलोचना भ्रमरों के शब्दों से पूर्ण तथा उज्ज्वल पुष्पों की माला को अनङ्ग के धनुष की डोरी की भाँति कर में लेकर सुशोभित हुई। इस पद्य में अल्प समास वाले पद दिये गये हैं तथा संयुक्ताक्षरों की अधिकता नहीं है। इस दृष्टि से यह पद्य माधुर्य गुण से ओतप्रोत है। अतएव यहाँ भी गुणौचित्य का समुचित सौन्दर्य उल्लसित हो रही है।

5. **अलङ्कारौचित्य :** औचित्य विचार चर्चा के पन्द्रहवीं कारिका में क्षेमेन्द्र ने अलङ्कारौचित्य का मनोरम चित्रण किया है। जिम प्रकार उन्नत पयोधर पर स्थित हार मे मृगाक्षी सुन्दरी सुशोभित होती है। उसी प्रकार अर्थगत औचित्य से अनुम्युत अलंकार द्वारा सूक्ति सुशोभित होती है[34]।

जयोदय महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग अलंकारौचित्य से पूर्ण है इसलिये सभी उदाहरण दिखाना यद्यपि मम्भव नहीं है, तथापि कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे-

> ''जठरवन्हिधरं ह्युदरं वदत्यपि च तैजसमश्रुसुगक्ष्यदः ।
> जनमुखे करकृत्कतमोऽधुना हृदयशुद्धिमुदेतु मुदे तुना ॥''[35]

प्रस्तुत श्लोक में रमणीय अलङ्कारौचित्य है। अर्ककीर्ति और काशी नरेश महाराज अकम्पन वार्तालाप प्रसंग में अर्ककीर्ति को उत्साह प्रदान करने एवं मनोमालिन्य दूर करने के लिये कहते हैं कि मनुष्य जठराग्नि को धारण करने वाले स्थान को उदर कहते हैं। उदर का शाब्दिक अर्थ निकलता है - 'उदम् उदकं राति गृह्णाति इति उदरम्'। यह नेत्र जो अस्रु जल को छोड़ता है, उसे तेजस् कहते है भला जनवर्ग के मुख पर कौन ताला लगा सकता है। अर्थात् उनके मुख को कैसे रोका जा सकता है परन्तु मनुष्य को चाहिए कि अपने प्रसन्नता के लिये मन को शुद्द या सरल बनावें।

यहाँ अर्थान्तरन्यास का प्राधान्य अत्यन्त चित्ताकर्षक है अत: अलङ्कारौचित्य अपने रूप में पर्याप्त है। नीचे लिखे श्लोक में उपमालङ्कार का औचित्य अवलोकनीय है -

> ''अनुगम्य जयं धृतानतिः प्रतियाति स्प स मण्डलावधेः ।
> अनिलं हि निजात्तटात्सरोवरभङ्गश्चटुलापतां गतः ॥''[36]

जनवर्ग जयकुमार का मधुर आलाप द्वारा अनुगमन करता हुआ अपने देश की सीमा प्रान्त तक जाकर पुन: ठीक उसी प्रकार लौट आया, जिस प्रकार तालाब के जल की लहरें वायु का पीछा करके अपने तट से लौट आती है। इसमें महाकवि ने उपमा अलङ्कार के द्वारा अलङ्कारौचित्य की संघटना किया है। इसी प्रकार अनेकश: अवसरोचित विशेषताओं को अभिव्यक्त करने में पटु महाकवि का अलङ्कारौचित्य सहृदय हृदय को अनायास ही आह्लादित कर देता है।

6. **रसौचित्य :** औचित्य विचार चर्चा नामक ग्रन्थ में रसौचित्य के निरूपण में सोलहवीं कारिका से आरम्भ कर दूर तक विवेचना है। जिस प्रकार वसन्तऋतु अशोक वृक्ष को अंकुरित करता है, उसी प्रकार औचित्य से चमत्कृत रस सज्जनों के हृदय को अंकुरित करता है[37]।

जयोदय महाकाव्य में अंगरूप में प्राप्त सभी रसों का सम्यक निरूपण किया गया है तथापि शान्त रस का ही अङ्गी रूप से प्रतिपादन किया गया है। नवम सर्ग में जयकुमार-

अर्ककीर्ति के मिलन प्रसङ्ग में शान्त की अनुपम छटा दर्शनीय है-

"जयमहीपतुजोर्विलसत्त्रपः सपदि वाच्य विपश्चिदसौ नृपः ।
कलितवानितरेतरमेकतां मृदुगिरो ह्यपरा न समार्द्रता ।।"[38]

यहाँ बोलने में पटु एवं बुरी बात से शर्मिन्दा काशिराज अकम्पन ने जयकुमार और अर्ककीर्ति में अपनी मधुर गिरा के द्वारा ही परस्पर की प्रतिद्वन्दिता को ममाप्त कर आपस में मेल करा दिया । सत्य है, मधुर वाणी के समान सम्मिलन कराने वाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है ।

रसौचित्य के उदाहरण में शृङ्गार रस का उदाहरण अवधेय है

"मुखारविन्दे शुचिहासके शरेऽलिवत्स मुग्धो मधुरे मृगीदृशः ।
प्रसन्नयोः पादसरोजयोर्दृशं विशेष्य पद्मापि जयस्य सम्बभौ ।।"[39]

मृगनयनी सुलोचना के मधुर कान्ति, शुभ्रहास्यपूर्ण मुख कमल रूपी बाण से भ्रमर के समान जयकुमार वशीभूत हो गया । ऐसे ही सुलोचना भी उसके निर्मल चरण कमलों में अपने नेत्र से देखती हुई सुशोभित हुई। यहाँ शृङ्गार रस का पूर्ण औचित्य है ।

वीररसौचित्य के सन्निवेश में कवि को मस्तक नहीं खुजलाना पड़ता है । जिधर देखते हैं, उधर ही तदनुरूप पर्याप्त रचना दृष्टिगत होती है यथा

"परे रणारम्भपरा न यावद् बभूवुश्च काशीशसुता यथावत् ।
निष्क्रष्टुमागत्यतरा मितोऽघं हेमाङ्गदाद्या ववृषुः शरौघम् ।।"[40]

समराङ्गण में युद्धार्थ उद्यत सेनाओं को देखकर काशी नरेश के पुत्र हेमाङ्गद आदि आक्रामक उपद्रव को दूर करने के लिये शीघ्र ही पहुँचकर वाण पंक्तियों की वर्षा करने लगे ।

प्रकृत पद्य में 'रणा' 'निष्क्रष्टुम्' 'ववृषु' आदि पद ओज गुण के पोषक होकर वीर रस में योगदान प्रदान करते हैं । इसी प्रकार इसी सर्ग का अधोलिखित पद्य रसौचित्य के लिये विवेचनीय है -

"भिन्नारिसन्नाहकुलान् स्फुलिङ्गानसिप्रहारैरुदितान् कलिङ्गा।
स्फुरत्प्रतापाग्निकणानिवाऽऽहुर्जयस्य यः स प्रचलत्सुबाहुः ।।"[41]

कुशल योद्धाओं के खड्ग प्रहार से शत्रुओं के विदीर्ण कवच मण्डल से चिनगारियाँ (अग्निकण) उत्पन्न हो रही थीं । वे बलशाली बाहु से प्रयोग किये गये जयकुमार के दीप्यमान् प्रतापाग्नि कण को बता रहे थे। प्रकृत पद्य में अधिकांश समस्त पद का सन्निवेश 'न' 'न' का संयुक्ताक्षर एवं 'स' 'फ' 'प' 'र' आदि संयुक्त प्रयोग पूर्णरूपेण वीर रसौचित्य के परिचायक हैं ।

7. **क्रियौचित्य :** क्रियौचित्य के बिना काव्य में दोष झलकने लगता है। इसलिये क्रियौचित्य पर अवहित होना आवश्यक होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है - जिस प्रकार सज्जनों के गुण दया, दाक्षिण्य, व्यवहार, कुशलता और साधुता तभी अच्छे माने जा सकते हैं, यदि उनके कर्तव्य सर्वदा औचित्य से पूर्ण हों। उसी प्रकार काव्य के माधुर्य, ओज आदि रम्य गुण तभी सुशोभित होते हैं जब वे व्याकरणानुसार शब्द शुद्धि आदि समन्वित क्रियापद के औचित्य से युक्त हों[42]।

जयोदय महाकाव्य में इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत हैं -

''नन्दीश्वरः सम्प्रति देवदेव पिकाङ्गना चूतकसूतमेव ।
वस्वौकसारार्कमिवात्र साक्षीकृत्याशु सन्तं मुमुदे मृगाक्षी ॥
अध्यात्मविद्यामिव भव्यवृन्दः सरोजराजिं मधुरां मिलिन्दः ।
प्रीत्या पपौ सोऽपि तकां सुगौर गात्रीं यथा चन्द्रकलां चकोरः ॥''[43]

यहाँ बताया गया है कि सुलोचना सज्जन जयकुमार को देखकर उसी प्रकार प्रसन्न हुई, जिस प्रकार नन्दीश्वर (अष्टम द्विप) को देखकर देवता, आम्रमंजरी को देखकर कोकिल सूर्य को देख रजनी प्रसन्न होती है। जय भी सुलोचना को इस प्रकार पान करने लगा (देखने लगा) जिस प्रकार भव्य जीवों का समूह अध्यात्म विद्या को भ्रमर कमल पंक्ति को चकोर चन्द्रकला को पाकर प्रेम से पीता है (प्रसन्न होता है)।

उक्त दोनों पद्यों में क्रमशः 'मुमुदे और पपौ' क्रिया का प्रयोग किया गया है, जिसका प्रत्येक के साथ उचित समन्वय रूप क्रियौचित्य का प्रतिपादन करता है।

8. **कारकौचित्य:** कारकौचित्य के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जिस प्रकार सदवंश से अलंकृत ऐश्वर्य और उदारता आदि सच्चरित्र से ही सुशोभित होता है उसी प्रकार अनुनय आदि से युक्त वाक्य रूप काव्य भी उचित कारक के प्रयोग से ही सुशोभित होता है। कर्ता कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान, अधिकरण प्रभृति भेद से 7 कारक कहे गये हैं अतः इसके भेद और उदाहरण भी अनेक बन जाते हैं[44]।

जयोदय महाकाव्य में इसके उदाहरण खोजने नहीं पड़ते हैं, सर्वत्र व्यापक रूप में उपलब्ध हैं।

(अ) **कर्तृ पदौचित्य:** जयोदय महाकाव्य में कर्तृपदौचित्य पदे पदे हृदयग्राही हैं, जिसके एक उदाहरण पर दृष्टिपात करें-

''प्राणा हि नो येन नियन्त्रिताश्चेत्किं प्राणिनोऽपि स्ववशान्समञ्चत्।
स तत्र यत्नं कृतवानितीव स्वदोर्द्वयाक्रान्तसमस्तजीव ॥''[45]

जिसने प्राणों को नियन्त्रित नहीं किया वह क्या प्राणियों को अपने वश में कर सकता

है। परन्तु जयकुमार ने अपने भुजाओं से समस्त जीवों को आक्रान्त कर प्राणनियन्त्रण हेतु यत्न किया। यहाँ 'सः' यह कर्तृपद दुर्नियन्त्रण को नियन्त्रित करने हेतु उचित रूप में प्रयोग किया गया है अतएव कर्तृपदौचित्य है।

(ब) कर्म पदौचित्य: कर्मपदौचित्य का उदाहरण जैसे -

"जम्पत्योर्यन्निशि च गदतोश्चाशृणोद् गेहकीरः,
ह्रीणा गत्वा तदुनवतदः श्रीपादानान्तु तीरम्। ।
कर्णान्दूकारुणमणिकणं तस्य चञ्चौ निधाय,
मूकत्वं तं करकफलकव्याजतः सान्निनाय ।।"[46]

इस श्लोक में कर्मौचित्य की योजना अत्यन्त मनोरंजक एवं चित्ताकर्षक है।

इसमें यह वर्णन किया गया है कि रात्रि में दम्पत्ति के रतिकालिक परस्पर वार्तालाप को गृह पालतू तोता ने जो सुना श्रीपद के तटप्रदेश पर उसके द्वारा उस रहस्य के उद्घाटन होने से लज्जित हुई। एक नायिका ने तोते के मुख को बन्द करने के लिये लाल मणि के टुकड़े को अनार फल के बहाने उसके चोंच में रख दिया। रहस्यमय बात को छिपाने के लिये चोंचों में अनार के दाने को व्याज से मणि कण को रखकर मूक बनाना कर्मौचित्य का अच्छा उदाहरण और कवि की अपूर्व प्रतिभा का परिचायक है।

(स) करणौचित्य : जयोदय महाकाव्य में करणौचित्य की कमी नहीं है। एक उदाहरण जैसे -

"वधुमुखेन्दोः स्मित चन्द्रिकाचयैर्जयस्य नक्तं च दिवा च भूपतेः ।
स्वयं प्रजायाः कुशलानुचिन्तनैर्बभूव तावत्समयः समन्वयः ।।"[47]

इस श्लोक में जयकुमार की दिनचर्या का वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि नृपति जयकुमार सुलोचना वधू के मुख चन्द्र की मुस्कराहट रूप ज्योत्स्ना मण्डल में रात्रि का समय व्यतीत करता था एवं प्रजा के स्वयं कुशलानुचिन्तन के द्वारा दिन व्यतीत करता था। इस प्रकार उसने समय का सम्यक् समन्वय किया था।

यहाँ स्मित चन्द्रिकाचय तथा प्रजाकुशलानुचिन्तन के द्वारा समय व्यतीत करने को करणरूप में बताया गया है, जो उचित करणौचित्य को निष्पन्न करता है।

(द) सम्प्रदानौचित्य : सम्प्रदानौचित्य के लिये भी सब सर्गों में सर्वत्र स्थान है। जैसे-

"अस्या हि सर्गाय पुरा प्रयासः परः प्रणामाय विधेर्विलासः ।
स्त्रीमात्रसृष्टावियमेव गुर्वी समीक्ष्यते श्रीपदसम्पदुर्वी ।।"[48]

जिस समय जयकुमार सुलोचना के स्वरूप को देखता है, उस समय मन में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। इसी विचारधारा में जयकुमार के ये विचार हैं कि इसकी सृष्टि

के लिये ब्रह्मा ने जो पहले परम प्रयास किया, उस ब्रह्मा की चेष्टा के लिये प्रणाम है। क्योंकि स्त्री मात्र सृष्टि में यही सबसे महिमाशालिनी प्रतीत होती है। इसीलिये चरणसम्पति से ह गौरवशालिनी है।

यहाँ ब्रह्मा का प्रयास सर्ग रूप चतुर्थी के लिये है। अत: सम्प्रदानौचित्य का उदाहरण है।

इसी प्रकार अन्य श्लोकों में भी यह औचित्य दर्शनीय है-

"करौ विधेस्तस्त्ववरौ धियापि सवेदनस्येयमहो कदापि।
नमोऽस्त्वनङ्गाय रतेस्तु भर्त्रे स्मृत्यैव लोकोत्तररूपकर्त्रे॥"[49]

इस श्लोक में सुलोचना के हाथों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि स्वय आविभृत ज्ञान ब्रह्मा की बुद्धि से दोनों श्रेष्ठ हाथों का निर्माण हुआ। कदाचित् काम भी स्मरण मात्र से अलौकिक रूप निर्माण करने में समर्थ है, ऐसे रतिपति अनंग को नमस्कार है।

यहाँ अलौकिक रूप निर्माण करना स्मरण मात्र से ही दिखाया गया है वह भी अंगहीन काम के अलौकिक वैभव का परिचायक है। अतएव यहाँ भी सम्प्रदानौचित्य है।

(य) **अपादानौचित्य :** जयोदय महाकाव्य में अपादानौचित्य भी रम्य रूप में दिखाया गया है। जिस समय जयकुमार की दृष्टि सुलोचना के शरीर पर पड़ी, उस समय का वर्णन महाकवि ने एकादश सर्ग में करते हुए इस प्रकार दिखाया है -

"कालागुरोर्लेपनपङ्किलत्वाद् दृष्टिः स्खलन्तीव च सस्पृहत्वात्।
तनौ चरिष्णुः सुदृशोऽप्यपूर्वा उरोरुहाभोगमगान्मुहुर्वा॥"[50]

इस पद्य में कहा गया है कि जयकुमार की अपूर्व दृष्टि सुन्दरी सुलोचना के शरीर पर घुमती हुई वक्षस्थल भाग पर पहुँची जहाँ काले अगर का लेप किया गया था। उस स्थान के आर्द्र होने से (करदम युक्त) फिसलती हुई भी वह दृष्टि उत्कण्ठा अधिक होने से बारम्बार वहीं पहुँची। इस श्लोक में कालागुरु के लेपन की पंकिलता होने से एवं उत्कण्ठा पूर्ण होने से बारम्बार एक ही स्थान पर पड़ना वह वक्षस्थल की रम्यता का परिचायक है। जिसमें पंचम्यन्त हेतु बनाकर सुदृढ़ता लायी गयी है, अतएव अपादानौचित्य मनोज्ञ है।

(र) **अधिकरणौचित्य :** इस महाकाव्य में अधिकरणौचित्य का चमत्कार अनेक स्थलों में दिखाया गया है। अट्ठारहवें सर्ग में अनेक पद्य दर्शनीय हैं जैसे-

"सूक्तिं प्रकुर्वति शकुन्तगणेऽर्हती युक्तिं प्रगच्छति च कोकयुगे सतीव।
मुक्तिं समिच्छति यतीन्द्रवदब्जबन्धे भुक्तिं गते सगुणवद्र जनीप्रबंधे॥"[51]

इस पद्य में प्रभातकाल का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि जब अर्हत् की सुन्दर

स्तुति के समान पक्षी गण मधुर शब्द करने लगे चक्रवाक पक्षी के युगल जोड़े परस्पर मिलने के लिये चलने लगे यतिराज जैसे मुक्ति की इच्छा करता है, वैसे ही कमल कुडमलता (संकोचिता) से मुक्त होने लगे। इसी प्रकार आगे के श्लोकों में वर्णन है कि-जब आकाश में बहुत से रत्न समूह चन्द्र नष्ट होने लगे चन्द्र भी करशून्य मंदता को प्राप्त होने लगा। उल्लू अपने शीघ्र ही छिपने के लिये जाने लगा एवं जलराशि में कुछ गति होने लगी। पुष्पकणों से युक्त मंद-मंद वायु पहुँचाने के लिये बहने लगा एवं रात्रिवेग से निकल गयी। इस संदेश के श्रावकों नगरों की मनोरम ध्वनि होने लगी। तब सूत गण उत्सव हेतु मधुर रम्य गान करने लगे। जो महाकवि के शब्दों में निम्नस्थ प्रस्तुत है

लुप्तोरुरत्ननिचये वियतीव ताते चन्द्रे तु निष्करदशामधुना प्रयाते।
घूकेऽपकर्मनयने द्रुतमेव जाते मन्दं चरत्यभिगमाय किलेति वाते ॥

सुप्ते विजित्य जगतां त्रितयं तु कामे लुप्ते तदीय धनुषो विरवेऽतिवामे ।
उप्ते रथाङ्गयुगचञ्चुपुटेऽभिरामेऽहोरात्रकस्य मधुरे चरमेऽत्र यामे ॥
नन्दत्वमञ्चति विद्योर्मधुरे प्रकाशे पर्याप्तिमिच्छति चकोरकृते विलासे ।
सत्स्पन्दभावमधिगच्छति वारिजाते सर्वत्र कीर्णमकरन्दिनि वाति वाते ॥

यन्नाक्षि चाक्षिपदहोपलकांशमामामेणी दृशान्तु रतिरासबृहद्विलासात् ।
प्राभुञ्जवाद्रजनिनिर्गमनैकनाम मन्देशकस्य पटहस्य खोऽभिरामः ॥''[52]

उक्त श्लोकों में प्रातःकाल के वर्णन में सम्प्रयुक्त पदों की योजना के द्वारा प्रातः काल की सम्पूर्ण वैभव की विभूतियों का वर्णन परिपूर्ण दिखायी देता है। इस प्रकार यहाँ अधिकरणौचित्य का सम्यक् परिपालन किया गया है।

9. **वचनौचित्य :** क्षेमेन्द्र ने वचनौचित्य को इस प्रकार व्यक्त किया है। प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसार एक वचन द्विवचन, बहुवचन के प्रयोग से काव्य उसी प्रकार सौन्दर्य को प्राप्त करता है, जिस प्रकार दीनता से रहित धन्यवादार्ह मन वाले विद्वानों का मुख चारुता को प्राप्त होता है।[53]

वचनौचित्य का प्रयोग इस महाकाव्य में अनेक स्थलों में है, सबका दिखाना सम्भव नहीं है तथापि सर्ग 10 के एक सौ ग्यारहवें श्लोक में इसका मनोज्ञ चित्रण हुआ है। यथा-

''कुसुमगुणितदाम निर्मलं सा मधुकररावनिपुरितं सदंसा ।
गुणमिव धनुष स्मरस्य हस्तकलितं संदधती तदा प्रशस्तम् ॥''[54]

इस पद्य में सुन्दरी द्वारा पुष्प-माला धारण करने का वर्णन किया गया है। सुन्दर स्कन्ध-प्रदेश वाली सुलोचना निर्मल पुष्प से गुथे गये एवं सुगन्ध के कारण भ्रमर के ध्वनि से भरे हुए कामदेव के धनुष की मौर्वी की भाँति प्रशस्त हाथों से बनायी गयी माला को स्वयं बरावसर में धारण की।

प्रकृत पद्य में एक वचन का प्रयोग समुचित रूप में किया गया है। इसी प्रकार इसी सर्ग के आगे के श्लोकों में यह औचित्य दर्शनीय है । यथा -

''पुरतः पुरुषोत्तमस्य सेवाथ सुता भूभृत उग्रतेजसे वा ।
सुकलाशुकलाधराय शर्मनिधये प्रीतिजनन्यनन्यधर्म ।।''[55]

इस पद्य में कहा गया है कि पुरः स्थिति पुरुषोत्तम सेना के लिये अथवा शोभन कला परिपूर्ण कल्याण की निधि को धारण करने वाले, जिसमें अन्य धर्म का निवास नहीं है, ऐसे प्रेमोत्पादक जयकुमार के लिये सुलोचना ने माला को हाथ में धारण किया ।

यहाँ पुरुषोत्तम उग्रतेज से कलाधर हैं । 'शर्मनिधये' आदि में एक वचन का प्रयोग समुचित हैं क्योंकि सती साध्वी सुलोचना का वरण एक ही व्यक्ति को करना है यद्यपि अनेकशः राजकुमार उपस्थित हैं किन्तु उसके हृदय में एक स्थित है अतः एक वचन का प्रयोग समुचित है ।

10. **विशेषणौचित्य :** जयोदय महाकाव्य में विशेषणौचित्य भी पग-पग पर देखा जा सकता है। विशेषणौचित्य के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि जहाँ समुचित विशेषण से विशेष्य चमत्कृत होता है, उसे विशेषणौचिन्य कहते हैं । जिस प्रकार गुणवान् मित्रों के द्वारा गुणी सज्जन पुरुष प्रतिष्ठित हो जाता है[56] ।

प्रकृत महाकाव्य में इस औचित्य से सम्बन्धित एक उदाहरण पर दृष्टिपात करें -

''गेहमेकमिह भुक्तिभाजनं पुत्र तत्र धनमेव साधनम् ।
तच्च विश्वजनसौहृदाद् गृहीति त्रिवर्गपरिणामसंग्रही ।।''[57]

इस पद्य में गृहस्थ महत्त्व वर्णन प्रसंग में कहा गया है कि घर ही भाग का स्थान है, पुत्र ही धन है । विश्व मात्र में सौहार्द होने से गृही गृहस्थ बनता है । उसी गृही के लिये त्रिवर्ग परिणाम संग्रही (धर्मार्थकाम तीनों के परिपाक हेतु संग्राहक) यह विशेषण समुचित है । ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थी संन्यासी सब गृहस्थ पर ही आधारित है । गृही के द्वारा ही सबका पालन पोषण समभाव्य है, इसीलिये उक्त विशेषण यथार्थ है ।

11. **उपसर्गौचित्य :** औचित्य विचार चर्चा के चौबीसवीं कारिका में उपसर्गौचित्य का निरूपण करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जिस प्रकार सत्कर्म में व्यय होने से सम्पत्ति बढ़ती रहती है, उसी प्रकार प्रपरादि उपसर्गों से सत्काव्योक्ति प्राप्त होती है[58] । जयकुमार का प्रभाव (प्रतापाग्नि) निःशेष अर्थात् सम्पूर्ण दिशाओं में (प्रत्येक समय) वृद्धि को प्राप्त हुआ । यथा -

''निःशेषकाष्ठांतरुदीर्णमाप प्रभावमेतस्य पुनः प्रतापः ।
रविः कवीन्द्रस्य गिरायमेष तस्यैव शेषः कणसन्निवेशः ।।''[59]

प्रकृत पद्य में 'नि:' उपसर्ग सम्पूर्ण स्थानों में व्याप्त प्रतापाग्नि को दिखानें के उद्देश्य से प्रयोग किया है, जिससे यहाँ उपसर्गौचित्य है।

इस प्रकार आगे के सर्गों में भी यह औचित्य भरापुरा है। यथा

> ''विपत्त्रेऽपि करे राज्ञ: पत्रमत्रेति सन्ददत्।
> अपत्रपतयाप्यासीत् स दूतो मञ्जुपत्रवाक् ॥''[60]

इस पद्य में राजा के पत्रहीन हाथ में पत्र का होना विरोधाभास का परिचायक है तथा विपत्ति से रक्षा करने वाला हाथ है। यह 'वि' उपसर्ग दोनों अर्थों के देने में सिद्ध है अतएव यहाँ अत्यन्त मनोरम उपसर्गौचित्य का प्रयोग किया गया है।

12. **निपातौचित्य :** निपातौचित्य के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का कथन है कि जैसे मन्त्रियों की नियुक्ति से कोष (खजाना) अक्षय रहता है वैसे ही निपातों के उचित स्थानों पर प्रयोग होने से अर्थसंगति सन्देहरहित दृढ़ होती है[61]। निपात अप, च, वा ह अहो आदि अव्यय पद माने गये हैं इनका प्रयोग उचित स्थान पर होने से काव्य रम्य होता है।

जयोदय महाकाव्य के प्राय: प्रत्येक सर्गों में निपातौचित्य का स्थान मिलता है। इसके उदाहरणों की गणना करना या दिखाना सम्भव नहीं है फिर भी इस दिशा की ओर भी दृष्टि न डालना अच्छा नहीं। इसलिये 'स्थालीपुलाक' न्याय से एक उदाहरण पर दृष्टिपात करें

> **''यथोदये ह्यस्तमयेऽपि रक्त: श्रीमान् विवस्वान् विभवैकभक्त:।**
> **विपत्सु सम्पत्स्विव तुल्यतैवमहो तटस्था महतां सदैव ॥''[62]**

उक्त पद्य में कहा गया है कि श्रीमान् विवस्वान् 'सूर्य' उदय और अस्त काल में लाल ही रहते हैं तथा धन सम्पत्ति की समृद्धि करने वाले हैं। आश्चर्य है कि विपत्ति और सम्पत्ति दोनों समय में महान् व्यक्तियों की निरन्तर तटस्थता ही पायी जाती है।

यहाँ 'अहो' तथा 'अविर' निपात का सन्निवेश कवि ने रम्यता हेतु किया है, जो अत्यन्त आकर्षक है।

13. **कालौचित्य :** कालौचित्य के निरूपण में आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार समयोचित वेश विन्यास से अवसर ज्ञाता सज्जनों का शरीर शोभित होता है, उसी प्रकार कालकृत औचित्य अनुस्युत अर्थों के द्वारा काव्य अपूर्व सौन्दर्य को प्राप्त करता है[63]।

जयोदय महाकाव्य में कालौचित्य अपना अद्वितीय स्थान रखता है, जिसका चित्ताकर्षक उदाहरण निम्नलिखित है-

> **''पतत्यसौ वारिनिधौ पतङ्ग: पयोदरे सम्प्रति मत्तभङ्ग:।**
> **आक्रीडकद्रोर्निलये विहङ्ग: शनैश्चरम्भोरुजनेष्वनङ्ग: ॥''[64]**

यहाँ सूर्यास्त काल के वर्णन प्रसंग में महाकवि ने इस प्रकार वर्णन किया है। यह

सूर्य समुद्र में गिर रहा है । मत्त भ्रमर इस समय कमलकोश में पड़ा है । पक्षी आनन्द स्थान वृक्ष के घोसले में जा रहे हैं । कामदेव धीरे-धीरे सुन्दरियों के हृदय में उद्बुद्ध हो रहा है यह सम्पूर्ण सायंकालिक वर्णन अवसर पर दिया गया है । इसलिये कालौचित्य है । इसी प्रकार बहुश: पद्य हैं जो कालकृत औचित्य के परिचायक हैं ।

14. **देशौचित्य :** आचार्य क्षेमेन्द्र ने देशौचित्य के निरूपण में लिखा है कि जिस प्रकार पुत्र परिचय का सूचक है, सज्जनों का व्यवहार शोभा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार हृदय भावना के अनुरूप देशौचित्य की महिमा से काव्यार्थ उत्कृष्टता को प्राप्त होता है[65] ।

जयोदय महाकाव्य के बीसवें सर्ग में अयोध्या स्थली का वर्णन देशौचित्य का पूर्ण परिचायक है । जैसे-

''वहुधावलिधारिणी स्रवन्ती नितरां नीरदभावमाश्रयन्तीम् ।
जयराट्जरतीतिनामवोध्यां द्रुतमुल्लंध्य जगाम तामयोध्याम् ॥''[66]

यहां अयोध्या का वर्णन है । उसके प्रसङ्ग में नदी का वर्णन देशौचित्य है

इसी प्राकर आगे के श्लोकों में यह औचित्य दर्शनीय है -

''स्वमुपपयोधरदेशं चलदुज्वलध्वजनिवसनविशेषम् ।
त्रपयेव वोन्नयन्तीं त्रियाखिलं विश्वमपि जयन्तीम् ॥''[67]

''प्रणयातिशयाय पश्यताथ बहूत्तानशयोपलक्षिताम् ।
महतीमनुजानताक्षितावपि विश्रम्भपरायणां हिताम् ॥''[68]

यहाँ पर प्रासार भवन आदि का विलक्षण वर्णन किया गया है । यह अयोध्या सतयुग से ही पुराणादि में वर्णित है । हरिशचन्द्र आदि प्रमुख राजा यहाँ विख्यात रहे हैं । आज भी इसकी स्थिति तद्वत् दिखायी देती है । भरत के शासन काल में कवि ने वैसे ही इसका स्वरूप दिखाया है । अतएव यह देशौचित्य के दृष्टि से अत्यन्त रम्य है ।

15. **कुलौचित्य :** कुलौचित्य के विषय में आचार्य क्षेमेन्द्र अट्ठाइसवीं कारिका में कहा है कि जिस प्रकार सद्वंश का सम्बन्ध मनुष्यों की महती उत्कृष्टता का कारण होता है, उसी प्रकार कुलौचित्य अर्थात् कुल के अनुरूप वर्णन काव्य की उत्कृष्टता का कारण सहृदय हृदयाभिमत होता है[69] ।

जयोदय महाकाव्य के 28वें सर्ग में इसका दिग्दर्शन मिलता है । ''आश्रमात आश्रमं गच्छेत्'' इसी पद्धति के अनुसार मनुष्यों को विषय वासनाओं के भोगानन्तर यथार्थ तत्त्व के परिज्ञान में तत्पर होना चाहिये । जयकुमार भी इस सिद्धान्त का परिपालक बना ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जयकुमार हृदय को दूषण से मुक्त करने के लिये राजकार्य का परित्याग कर गुरु कृपावश तपस्वी वन कर अर्हन् देव के पास पहुँचा और तपश्चर्या

को ही अपना धर्म बनाया, जो महाकाव्य में निम्नरूप में अभिव्यक्त है-

''स्फोटयितुं तु कमलं कौमुदं नान्वमन्यत: ।
सानुग्रहतयार्हन्तमुपेत्यासीत्तपोधन: ॥''[70]

इसी प्रकार आगे के श्लोक में यह वर्णन है कि

''सहसा सह सारेणा – पदूषणमभूषणम् ।
जातरूपमसौ भेजे रेजे स्वगुणपूषण: ॥''[71]

सहसादुषणों से दूर और भूषणों को परित्यागकर अपने स्वाभाविक गुणों के द्वारा सूर्य की भाँति सुवर्ण प्राप्त करने में प्रवृत्त हुआ ।

अन्यत्र श्लोकों में यह औचित्य विलक्षण है । यथा

''सदाचारविहीनोऽपि सदाचारपरायण: ।
स राजापि तपस्वी सन् समक्षोऽप्यक्षरोधक: ॥
हेरयैवेरयाव्याप्तं भोगिनामधिनायक: ।
अहीन: सर्पवत्तावत्कञ्चुकं परिमुक्तवान् ॥''[72]

इसमें कहा गया है कि यह गुप्तचरों में हीन होकर सज्जनों के आचरण में तत्पर हुआ राजा होकर भी तपस्वी बना एवं जितेन्द्रिय बनकर समदृष्टि का व्यवहार करता हुआ जिस प्रकार सर्पराज केंचुल का परित्याग करता है, वैसे ही विलासियों का अधिनायक भी जयकुमार ने कंचुक अर्थात् राज्य के वेश एवं अनुचरों का परित्याग कर दिया ।

इस प्रकार जयकुमार का यह कुलौचित्य व्यक्त किया गया है ।

16. **व्रतौचित्य :** काव्य का पदार्थ अनुकूल व्रताचरण के महत्त्व से प्रशंसनीय होकर सहृदयों के हृदय को प्रसन्न करता है[73] ।

जयोदय के 27वें सर्ग में समदृष्टि के विवरण में व्रतौचित्य का स्वरूप जयकुमार के सम्बन्ध में इस प्रकार दिया गया है जो निम्न पंक्तियों में अवलोकनीय है

''साम्ये समुत्थाय धृतावधान इष्टेऽप्यनिष्टेऽपि कृतावसान: ।
अबुद्धिपूर्वं च समुत्थमाग: संशोधयत्यध्वविदस्तराग: ॥''[74]

इस पद्य में वर्णन है कि वह जयकुमार अभिष्ट और अनभिष्ट दोनों दृष्टियों में साम्य मार्ग पर आरूढ़ होकर (सावधान होकर) उपासीन बना।

राज का परित्याग कर मार्ग वेत्ता वह अज्ञान पूर्वक उत्पन्न अपराध का परिमार्जन करने लगा। स्वभावत: हुए अपराधों का परिमार्जन तथा इष्टानिष्ट रूप से विरक्त होना यह उत्तरोत्तर व्रत की उत्कृष्टता का परिचायक है।

इसी प्रकार आगे के श्लोक में भी यह औचित्य परम लुभावन है। यथा-

**"धर्मस्वरूपमिति सैष निशम्य सम्यग्नर्मप्रसाधनकरं करणं नियम्य ।
कर्मप्रणाशनकशासनकृद्धूरीणं शर्मैकसाधनतयार्थितवान् प्रवीणः।।"[75]**

प्रकृत पद्य में कहा गया है कि जयकुमार धर्मस्वरूप का उपदेश सुनकर पीड़ा के साधन भूत इन्द्रियों का नियन्त्रण कर कर्म जन्य फल के विनाश में समर्थ, उपदेश करने में दक्ष कल्याण के एकमात्र साधन की इच्छा में प्रवीण हुआ ।

इस पद्य में भी लक्ष्यानुसार व्रताचरण का उचित निर्देश किया गया है ।

17. **तत्त्वौचित्य :** तत्त्वौचित्य का विवेचन करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि सत्य ज्ञान के निर्णय मे हृदय के अनुरूप कवि का काव्य उपादेय होता है । अर्थात् उस काव्य को संसार में सब लोग हृदय से ग्रहण करते हैं । यदि यथार्थ तत्त्व का निरूपण न हो तो काव्य मिथ्या की प्रतीति मात्र होने से उपादेय नहीं होता[76] ।

जयोदय महाकाव्य के तेइसवें सर्ग में यह विचार निश्चयात्मक रूप में बताया गया है कि संसार के सब पदार्थ नश्वर हैं इस संसार में आत्मचिन्तन ही सार है । यही यथार्थ तत्त्व है । इसी पर ये सुभाषित स्थायी टेक के साथ अनेकों गान इस सर्ग में गीत के रूप में दिये गये हैं । यथा-

"हे मन आत्महितं न कृतम्" अपने मन को ही सम्बोधन करके कहा जा रहा है कि हे चित तुमने अपने हेतु अर्थात् आत्मा के हेतु कुछ भी कार्य नहीं किया ।

कोई भी जन्तु गर्भावस्था में गर्भ में निवास करता है एवं गर्भाशय के भीतर मल-मूत्रादि सम्पृक्त ही जीवन में रहता है ।

प्रकृत पद्य में यह कहा गया है कि माता के पेट में नौ महीनें तक चर्वी मल-मूत्र के सहित मैं निवास किया । बाल्यावस्था भी खेल करके ही अनेक उत्साहों के साथ व्यतीत किया एवं उचित अनुचित रूपों से इस अवस्था को व्यतीत किया । युवावस्था में निर्दयता के साथ उद्धत आचरण किया । मद से मत्त यह चित्त दिन रात युवतियों में रत रहा । इस भाव को प्रकृत महाकाव्य में अनुपमेय ढंग से चित्रित किया गया है -

**"तव मम तव मम लपननियुक्त्याखिलमायुर्विगतम् ।
हे मन आत्महितं न कृतम्।। हा हे मन।। स्थायी ।।
नव मासा वासाय वसाभिर्मातृशकृतिसहितम् ।
शैशवमपि शवलं किल खेलैः कृतोचितानुचितम् ।। हेमन।।
तारुण्ये कारुण्येन विनौद्धत्यमिहाचरितम् ।
मदमत्तस्य तवाहर्निशमपि चित्तं युवतिरतम् ।। हे मन ।।"[79]**

इसी प्रकार आगे के श्लोकों में भी चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है, जिसका उदाहरण क्रमशः अवलोकनीय है -

''प्रौढिं गतस्य परिजन पुष्टचै शश्वत्कर्ममितम् ।
एकैकया कपर्दिकया खलु वित्तं बहुनिचितम् ।।हे मन.।।
स्मृतमपि किं जिननाम कदाचिद्‌वार्द्धक्येऽपि गतम् ।
विकलतया हे शान्ते सम्प्रति संस्मर निजनिचितम् ।।हे मन.।।
रट झटति मनो जिननाम् गतमायुर्नु दुर्गुणग्राम । स्थायी ।।
आशापाशविलासतो द्रुतमधिकर्तु धनधाम ।
निद्रापि क्षुद्रा भवद्भुवि नक्तं दिवमविराम ।। गतमायु.।।
पुत्रमित्रपरिकरकृते बहुपरिणमतोऽतिललाम ।
रामानामारामरसतो हसतो वाश्रितकाम ।।गतमायु.।।
परहरणे भरणे स्वयं पुनरनुभवता दुर्नाम ।
अयशः परिहरणाय दत्तं त्वया तु नैकविदाम ।।गतमायु.।।
बहु वलितं गलितं वयो रे सम्प्रति पलितं नाम ।
अलमालस्येनास्तु शठः ते स्वीकुरु शान्तिसुधाम ।गतमायु.।।
माया महतीयं मोहिनी जनतायां भो माया ।। स्थायी ।।
भूरामाधामादिधरायोमिह मातङ्कजरायां ।
यतते परमर्मच्छिदिरायां करपत्रप्रमरायामिह जनताया भो माया ।।
विषयरमाय दशा मकषाया शोच्या खलु विवशा या ।
गजवत्कपटकृताभ्रमुकायां प्रभवति बहुलापा या ।। इह.।।
मित्रकलत्रपुत्रविसरायां परिकरपरम्परायाम् ।
जरद्‌गवः कर्दमितधारायामिव मीदति विधुरायाम् ।। इह.।।
रता द्विरक्ताप्युनुरतिमायान्येषा जगतश्छाया ।
ततो विरज्य पुमानमुकायां किमित्र न शान्तिमथायात् ।। इह.।।''[78]

आगे भी 'हे नर निजशुद्धि मेव विद्धि सिद्धि हेतुम्' यह स्थायी रख देकर पुनः उसी वस्तु को पुष्ट किया गया है, जो सग की समाप्ति तक दिखाया गया है । इस कथन मे शरीर, मन, इन्द्रियाँ ये नश्वर ही हैं । आत्म चिन्तन ही यथार्थ तत्त्व है । उसी का चिन्तन करना चाहिए और वह आत्म चिन्तन मन की शुद्धि पर निर्भर है । इसलिये मन को पवित्र करना अपेक्षित है । यह अन्तःकरण की पवित्रता रूप, रस, गन्ध स्पर्शादि विषयों से दूर होने पर ही निर्भर है ।

इस प्रकार तत्त्वौचित्य का निरूपण पूर्णरूप में किया गया है ।

18. **सत्त्वौचित्य :** सत्त्वौचित्य के विषय में औचित्य विचार चर्चा में क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जिस प्रकार विचार करने पर सुन्दर प्रतीत होने वाला सज्जनों का उदात्त चरित्र चमत्काराधायक होता है, उसी प्रकार सत्त्व (अन्तरबल) के अनुरूप वर्णन से कवि की सूक्ति भी अपूर्व चमत्काराधायक होती है[79] ।

जयोदय महाकाव्य में सत्त्वौचित्य का विवेचन बहु स्थलों में दर्शनीय है ।

जयकुमार के हृदय में जिनदेव के प्रति भक्ति अन्तःकरण में पहले से ही निहित है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश होने पर यद्यपि उसे पूर्वतया उद्बुद्ध होने का अवसर नहीं मिला परन्तु गृहस्थाश्रम जीवन के कतिपय लक्ष्य पूर्ण होने के पश्चात् ही वह अन्तःकरण का उद्रेक अपने स्वरूप में समृद्ध हो गया । अतएव शान्त के अङ्कुर, अङ्कुर ही नहीं रहे किन्तु पुष्पित, पल्लवित और फलित होकर यथार्थ सत्त्वौचित्य का परिचय दे दिये, जिसका उद्धरण अनन्त है तथापि यहाँ, स्थाली 'पुलाक' न्याय से दिया जा रहा है । जैसे सर्ग 25 में चतुर्थ श्लोक इस औचित्य के लिये पर्याप्त है

''युवतयो मृगमञ्जुललोचनाः कृतरवाद्विरदामदरोचनाः ।
लहरिवत्तरलास्तुरगाश्चमू समुदये किमु दृक् झपनेऽप्यमूः ।।''[80]

प्रकृत पद्य में जयकुमार के हृदय इस भाव को व्यक्त कर रहे हैं कि सारे वैभव शत्रु के सदृश हैं । यह सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ नश्वर अध्रुव है । नेत्र के बन्द होने पर मृगाक्षी युवतियाँ, मत्त हाथी, चंचल घोड़े और सेवाएँ ये सब क्या अभ्युदय के लिये हो सकती हैं ? अर्थात् नहीं ।

प्रकृत पद्य में य ज एवं कोमल वर्ण विन्यास संयुक्ताक्षरों की अल्पता शान्तरस की पुष्टि हेतु समुचित रचना का औचित्य परिपूर्ण है ।

19. **अभिप्रायौचित्य :** इस औचित्य को व्यक्त करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जिस प्रकार निश्छल हृदय से उत्पन्न नम्रता आनन्दित करती है, उसी प्रकार सरलता से अभिप्राय के बोधक कथन (काव्य) सज्जनों के चित्त को आनन्दित करते हैं[81] ।

जयोदय महाकाव्य के एक सर्ग में ही नहीं अपितु अन्यत्र भी अभिप्राय बोधन में समर्थ बहुत से पद्य पड़े हुए है । इसलिए इसका उदाहरण दिखाना सूर्य को दीपक दिखाना है तथापि 'स्थाली-पुलाक' न्याय से एक उदाहरण दिया जा रहा है । यथा -

''विल्वफलानि विलोक्य सहर्षं निजोरोजमण्डलं ददर्श ।
सहसा तानि तथैव सुयोषा पुनरपि द्रष्टुमभूदपदोषा ।।
नेशायामुनि वल्लभानि तव कुचकुम्भवदियानिदानीम् ।
भेदोऽस्तीति समाह वयस्या सदभिप्रायवेदिनी तस्याः ।।''[82]

प्रकृत पद्य में यह वर्णन किया गया है कि कोई सुन्दरी नायिका विल्वफल को देखकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने वक्षस्थल मण्डल को सहसा देखने लगी और दोष शून्य अपने को समझी । इतने ही में उसके अभिप्राय को जानकर उसकी सखी कह रही है कि तुम्हारे कुचकुम्भ और इस विल्वफल में इतना ही अन्तर है कि इस समय विल्वफल तुम्हारे प्रियतम को अभीष्ट नहीं हैं किन्तु तुम्हारा कुचकम्भ अभीष्ट है ।

यह वर्णन अत्यन्त सरल शब्दों में किया गया है जो अभिप्राय को स्पष्ट करने में सक्षम है । शब्द विन्यास भी उसी के अनुसार मनोहारी है ।

20. **स्वभावौचित्य :** आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जिस प्रकार कृत्रिमता रहित स्त्रियों का अनन्य साधारण सौन्दर्य विशेष चमत्काराधायक होता है, उसी प्रकार काव्यों के लिये स्वभावानुरूप वर्णन अधिक शोभाधायक होता है"[1] ।

जयोदय महाकाव्य में स्वभावौचित्य से सम्बन्धित एक पद्य की झाँकी प्रस्तुत है

''धवसम्भवसंश्रवादितो गुरुवर्गश्रितमोहतस्ततः ।
नगराज वशाद्दशात्मसादपि दोलाचरणं कृतं तदा ॥''[84]

प्रकृत श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि पति जयकुमार के प्रति उत्पन्न हुआ प्रेम एवं माता-पिता गुरुजनों के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ मोह होने से राजकुमारी सुलोचना की दृष्टि दोनों ओर आ जाकर हिडोले का आचरण करने लगी ।

यहाँ स्वाभाविक रूप दिखाया गया है कि जन्मकाल से माता पिता के प्रति उत्पन्न हुआ प्रेम त्याग काल में मोह उत्पन्न करता ही है तथापि जयकुमार को पति रूप में पाकर तत्सम्बन्धी उत्पन्न हुआ प्रेम भी सुलोचना के अन्त: करण में बैठा हुआ है । इन दोनों स्थितियों में इसकी दृष्टि कभी जयकुमार की ओर कभी माँ पिता की ओर दौड़ रही है । यह वर्णन स्वाभाविक है । अतएव स्वभावौचित्य से यह आक्रान्त है ।

21. **सार संग्रहौचित्य :** सार संग्रहौचित्य के प्रदर्शन में औचित्य विचार चर्चा ग्रन्थ निर्माता का कथन है कि सार संग्रहौचित्य काव्य के द्वारा सुनिश्चित फल परक काव्य पदार्थ उस प्रकार दिखाया जाता है, जिस प्रकार शीघ्रकारी व्यक्ति के द्वारा कोई व्यापार किया जाता हो अतएव यह किसको प्रिय नहीं ? अर्थात् सबको प्रिय होता है"[2] ।

जयोदय महाकाव्य के छब्बीसहवें सर्ग में श्लोक संख्या 73 से 77 तक इसका प्रदर्शन किया गया है । जिसमें स्यादवाद सिद्धान्त ग्रहण के योग्य है त्याज्य नहीं । यह व्यक्त किया गया है विश्वमात्र के लिये यह संजीवन एवं उपकारक है । इस तथ्य को दिखाने के लिये आदिम तीर्थनाथ की वन्दना के द्वारा आरम्भ किया गया है जो इस प्रकार कहा गया है कि-आश्चर्य है कि इन्द्रादि देव भी तुम्हारी गुणगाथा का गान करते हैं आपकी जय हो । संसार के मित्र अर्थात् पितामह यथार्थ पवित्र तत्त्व का निर्देश आपने किया ।

इस भाव की अभिव्यक्ति महाकवि के शब्दों में निम्नस्थ है-

''जयस्यहो आदिमतीर्थनाथः शक्रादिभिस्त्वं परिणीतगाथः ।
हितस्य वर्त्मन्वकया पवित्रं न्यदेशि तत्त्वं भुवनस्य मित्रम् ।।''[86]

आगे का श्लोक भी इस औचित्य से अछूता नहीं हैं । यथा-

''हे देव दोषावरणप्रहीण त्वामाश्रयेद्भक्तिवशः प्रवीणः ।
नमामि तत्त्वाधिगमार्थमारान्न मामितः पश्यतु मारधारा ।।''[87]

प्रकृत पद्य में कहा गया है कि दोष वरण से परित्यक्त हे देव । भक्ति के आधीन हुआ कुशल व्यक्ति तुम्हारा शरण लेता है । तत्त्व के यथार्थ ज्ञान के लिये मैं प्रणाम कर रहा हूँ । काम की धारा मुझ पर दृष्टिपात न करे ।

इसी सर्ग का पचहत्तरहवाँ श्लोक भी इसके लिए दर्शनीय है-

''भवन्ति भो रागरुषामधीना दीना जना ये विषयेषु लीनाः ।
त्वां वीतरागं च वृथा लपन्ति चौरा यथा चन्द्रमसं शपन्ति ।।''[88]

राग क्रोध के आधीन हुए जन दुःखी होकर विषयों में लीन होते हैं । जिस प्रकार चोरगण अपने चौर कृत्य के बाधक चन्द्रमा को शाप देता हैं (उलाहना करते हैं) उसी प्रकार विषयासक्त व्यक्ति तुम्हें व्यर्थ बनाते हैं ।

महाकाव्य में अग्रिम श्लोक भी इसी औचित्य का परिचायक है

''राज्ञामिवाज्ञा भवतां जगन्ति गताऽविसम्वादतया लसन्ती ।
शिशोरिवान्यस्य वचोऽस्त्वपार्थ मोहाय सम्मोहवतां कृतार्थम् ।।''[89]

यहाँ वर्णन है कि जिस प्रकार राजाओं की आज्ञा संसार में निर्विरोध मान्य एवं शोभित होती है, उसी प्रकार आपकी आज्ञा निर्विरोध शोभित है । अन्य लोगों की वाणी बालक के कथन की भाँति भले ही निरर्थक एवं मोह में पड़ने वाले व्यक्तियों के लिये मुग्धकारक हो किन्तु आपकी वाणी ही ग्राह्य है ।

इसी प्रकार सारसंग्रहौचित्य से पूर्ण अग्रिम श्लोक निम्नस्थ शब्दाङ्कित है-

''विरागमेकान्ततया प्रतीमः सिद्धौ रतः किन्तु भवान् सुषीम ।
विश्वस्य सञ्जीवनमात्मनीनं स्याद्वादमुज्झेत्किमहो अहीन ।।''[90]

यहाँ यह कहा गया है कि - हे अपरित्याज्य मैं यह समझता हूँ कि शुद्धि के विषय में निश्चित ही विरक्तता आवश्यक है । आप भी इस पक्ष के सर्वथा पोषक एवं तत्परता के यथार्थ सीमा हैं । संसार के आत्मकल्याण एवं संजीवन, आश्चर्य है कि स्याद्वाद को क्या छोड़ा जा सकता है ? अर्थात् नहीं । इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त ही निश्चयात्मक दृढ़ मार्ग है । इस दिशा में कवि ने संकेत किया है ।

आगे के श्लोकों में भी दार्शनिक तत्त्वों को 'अस्ति' 'नास्ति' की पद्धति दिखाकर व्यक्त किया गया है ।

22. **प्रतिभौचित्य :** आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि ऐश्वर्य से चमत्कृत गुणवानों के उज्जवल कुल के समान प्रतिभौचित्य के प्रभाव से कवि का काव्य सुशोभित होता है[91] ।

जयोदय महाकाव्य में प्रतिभा के द्वारा महाकवि ने यहाँ रति की अच्छी व्यंजना करायी है

''लताप्रताने गता महति या चकर्ष कान्तं परिरम्भधिया ।
मुमुदे साम्प्रतमितो वयस्या वलयस्वनेन वध्वास्तस्याः ॥''[92]

यहाँ वन विहार वर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है कि लताओं की जहाँ सान्द्रता थी, ऐसे विशाल वन प्रदेश में जो नायिका आलिङ्गन की बुद्धि से कान्त को अपनी ओर खींची उसी समय इधर उसकी सखियाँ कंकण ध्वनि से प्रसन्न हो गयीं ।

यहाँ आलिङ्गन बुद्धि से प्रियतम को अपनी ओर खींचना और उसी क्षण कंकण ध्वनि का होना तथा कंकण ध्वनि से सखी में प्रसन्नता का होना या हर्ष का उत्पन्न होना नायक नायिका की व्यङ्ग्य रूप में प्रकट रति का सूचक है जो प्रतिभा के द्वारा ही व्यक्त किया गया है ।

इसी प्रकार अनेकशः पद्य ऐसे प्रकरणों में इस महाकाव्य में दर्शनीय हैं, जिनको दिखाने से कलेवर विशाल हो जायेगा इसलिये एक ही उदाहरण पर्याप्त है ।

23. **अवस्थौचित्य :** आचार्य क्षेमेन्द्र ने अवस्थौचित्य को बतलाया है कि जिस प्रकार बुद्धिमानों के कार्य संसार में आदरणीय होते हैं, उसी प्रकार अवस्था की अनुकूल वर्णना से काव्य भी जगत् में प्रशंसनीय होता है[93] ।

अवस्थौचित्य का निरूपण भी इस महाकाव्य में बहुस्थलों में है। यथा

''नैषावेगं तावकं सम्विमोढुं शक्ता नैनां खेदयेतीहवोढुः ।
कर्णोपान्ते रत्युदात्तस्य गत्वा प्राहोढाया नूपुरं नाम सत्वात् ॥''[94]

इस पद्य में वर्णन किया गया है कि परिणय संस्कार सम्पन्न एवं रति क्रीडा में कुशल नायक के कानों के समीप ऊढा नायिका के नूपुर जा पहुँचे । उस समय कवि उत्प्रेक्षा के द्वारा यह व्यक्त करता है कि यह नूपुर मानो कान के समीप पहुँचकर यह नायक से कह रहा है कि यह तुम्हारे वेग को सहन करने में समर्थ नहीं हैं, इसलिये इसको अधिक खिन्न मत कर । यह ऊढा नायिका का अवस्थानुरूप वर्णन इसके लिये समीचीन है ।

24. **विचारौचित्य :** विचारौचित्य के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि विचारौचित्य के द्वारा सूक्तियाँ उसी प्रकार रमणीय बन जाती है, जिस प्रकार ज्ञेय तत्त्व के ज्ञान से विद्वानों की विद्याएँ रमणीय हो जाती हैं ।[95]

जयोदय महाकाव्य के पच्चीसवें सर्ग में इस प्रकार के वर्णन का बाहुल्य है । जैसे-

"क्षणरुचिः कमला प्रतिदिङ्मुखं सुरधनुश्चलमैन्द्रियकं सुखं ।
विभव एष च सुप्तविकल्पवदहह दृश्यमदोऽखिलमध्रुवं ।।"[96]

इस श्लोक में कहा गया है कि आकाश मण्डल में चंचल इन्द्र धनुष और इन्द्रिय सुख के समान लक्ष्मी क्षण काल के लिये ही दीप्तिशालिनी ठहरती हैं । यह वैभव भी स्वप्नकालिक पदार्थ के सदृश है । सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ ही अध्रुव है ।

परवर्ती श्लोकों में भी इस प्रकार के रूप दर्शनीय हैं, जो सांसारिक सुख निवृत्ति एवं जयकुमार के वैराग्योत्पादक हैं । जैसे-

"युवतयो मृगमञ्जुललोचनाः कृतरवाद्विरदामदरोचनाः ।
लहरिवत्तरलास्तुरगाश्चमू समुदये किमु दृक् झपनेऽप्यमूः ।।"[97]

यहाँ यह दिखाया गया है कि नेत्र के बन्द हो जाने पर मृगाक्षी युवतियाँ, मत्तहाथी, चंचल घोड़े सेना ये सब क्या अभ्युदयार्थ होते हैं? अर्थात् नहीं।

यहाँ सारा जगत् नश्वर है । एक ब्रह्म तत्त्व जिन (अर्हन्) ही ध्रुव एवं सत्य है । इस विचार को व्यक्त करने के दृष्टि से ही यह सर्ग प्रस्तुत है ।

अतएव विचारौचित्य प्रदर्शन में यहाँ पूर्ण योग प्राप्त होता है ।

25. **नामौचित्य :** नामौचित्य के विषय में आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य के अपने कर्म के अनुकूल नाम से गुण-दोष की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार उचित नाम से काव्य के भी गुण दोष की अभिव्यक्ति से यथार्थ ज्ञान होता है[98] ।

जयोदय महाकाव्य में नामौचित्य बहुशः स्थलों में है । स्वयंवर वर्णन प्रसङ्ग में इसे भलीभाँति देखा जा सकता है । इस औचित्य से सम्बन्धित उदाहरणों पर दृष्टिपात करें-

"स्मररूपाधिक एषोऽस्ति कामरूपाधिपोऽथ च मनोज्ञा ।
रतिमतिवर्तिन्यस्यादस्यासि च वल्लभा योग्या ।।

अनुनामगुणममुं पुनरहोरहोवेदिनीमनीषाभिः ।
नत्वापसापदोषाप्यनङ्गरूपाधिकं भाभिः ।।"[99]

प्रकृत पद्य में इस प्रकार वर्णन किया गया है । स्वयंवर भूमि में माल्यार्पण के लिये राजकुमारों के सम्मुख जब सुलोचना पहुँचती है तब राजकुमारों का परिचय उसे विद्या देवी देती हैं । उसी प्रसङ्ग में एक राजकुमार के विषय में कहा जा रहा है कि यह काम रूपाधिप है अथवा स्मर रूपाधिप है और तुम सुन्दरी हो अतएव इसकी वल्लभा बनने के योग्य हो। यह सुनकर सुलोचना समझती है कि कामरूपाधिप कहने से कामाङ्ग में गुप्तरूप से व्याधि को धारण करता है अर्थात् यह नपुंसक है अतएव उसे अङ्गीकार नहीं की ।

तदनन्तर आगे के श्लोकों में भी नामौचित्य मनमोहक है । यथा-

''चालितवती स्थलेऽत्रामुकगुणगतवाचि तु सुनेत्रा ।
कौतुकितमेव वलयं साङ्गुष्ठानामिकोपयोगमयम् ॥
नयतिस्म स जन्यजनो भगीरथो जह्नुकन्यकां सुयशाः ।
सुकुलाद् भूभृत इतरं कुलीनमपि भूभृतं सुरसाम् ॥''[100]

यहाँ भी सुलोचना के वलय संचालन से 'सांगुष्ठानामिकोपयोगम्' इत्यादि से उक्त नृपति का तिरस्कार व्यंजित हो रहा है । अतः उपयुक्त नामौचित्य का यह उदाहरण है ।

26. **आशीर्वचनौचित्य :** क्षेमेन्द्र ने 39वीं कारिका से इस औचित्य के विषय में बतलाया है कि जिस प्रकार पूर्णार्थं प्रदाता राजादि के लिये विद्वानों द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद अभ्युदयकारक होता है, वैसे ही काव्य में आशीर्वचना काव्य के अभ्युदय कारक होते हैं[101] ।

जयोदय महाकाव्य में बहुस्थलों में आशीर्वचनौचित्य का प्रयोग किया गया है

''अनङ्गसौख्याय सदङ्गगम्या योच्चैस्तना नम्रमुखीति रम्या ।
विभ्राजते स्माविकृतस्वरूपानुमाननीया महिषीति भूयात् ॥''[102]

यहाँ कहा गया है कि सुन्दर अङ्गों से युक्त होने के कारण गमन योग्य उच्चस्तन मण्डल वाली एवं नम्रमुखी होने से रम्य तथा अविकृत स्वरूप के कारण अनुमान से सम्मान के योग्य काम सौख्य के लिये यह सुन्दरी सुलोचना दीव्यमान है । अविकृत स्वरूप होने के कारण से राजमहिषी (राजरानी) हो ऐसा 'भूयात' आशिर्लिङ्ग के द्वारा व्यक्त किया गया है अतएव आशीर्वचनौचित्य अपने रूप में सन्निविष्ट है ।

जयोदय महाकाव्य के सर्ग बाइसवें में भी यह औचित्य दर्शनीय है।

यथा-

''गद्यचिन्तामणिर्बाला धर्मशर्माधिराट् परम् ।
यशस्तिलकभावेनालंकरोतु भुवस्तलम् ॥''[103]

यहाँ सुन्दरी सुलोचना के विषय में कहा गया है कि यह बाला प्रशंसनीय चिन्तामणि है । धर्मरूप कल्याण में तत्पर रहने वाले यशरूपी तिलक के साथ इस भूतल को अलङ्कृत करें । 'अलङ्करोतु' यह आशीर्वादार्थ लोट् का प्रयोग कर आशीर्वचनौचित्य व्यक्त किया गया है ।

इसी प्रकार सर्ग 25 में भी यह औचित्य अपना आधिपत्य बनाये हुए है-

''जन्मातङ्कजरादितः समयभुविंतामथागाच्छुभां
यत्नोद्वाह्यमिदन्तु राज्यभरकं स्थाने समाने ध्रुवम् ।

सद्भूयामहमत्र कुत्र भवतो निक्षिप्य सम्यङ्मनाः
नानिष्टं जनताऽऽयतिं प्रसरताद् भातूत्सवश्चात्मनाम् ॥''[104]

जयकुमार की सद्भावना रूप में यह व्यक्त किया गया है कि जन्म सम्बन्धी आतंकता, बृद्धावस्था इत्यादि कष्ट दूर हों और शुभमयी चिन्ता को लोग धारण करें। यह राज्य भर यत्न से उचित समान रूप में स्थिरता के साथ वहन कर मुझमें सद्भाव उत्पन्न हो। जनता के भावी जीवन में अनिष्ट प्रसार न हो और हम लोगों के उत्सव विराजमान हों। इस प्रकार लोट् लकार के द्वारा आशीर्वचन की पुष्टि की गयी है।

27. **काव्यार्थौचित्य :** काव्यार्थौचित्य के विषय में आचार्य क्षेमेन्द्र का विचार है कि जिस प्रकार गुणों के वैशिष्ट्य से अलंकृत ऐश्वर्य के द्वारा सज्जन पुरुष सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अनुभव रूप अर्थ विशेष के कारण सम्पूर्ण प्रबन्धार्थ काव्याथ अत्यन्त शोभित होता है[105]।

इस महाकाव्य में पदार्थ विवेचन की दृष्टि प्रायः प्रत्येक सर्ग में अपना पर्याप्त स्थान रखती है। इसलिये अत्यन्त संक्षेप में दिखाया जा रहा है। यथा-

''घटकन्तु विधातारं सतोरनुजानामि विचारकारिणम्।
जडमित्यनुजानतो वचः शुचि तावद् धरणौ विरागिणः ॥''[106]

सुलोचना और जयकुमार के मनोरम सौन्दर्य को देखकर एक सखी दूसरी सखी से कह रही है कि हे सखि! सुलोचना और जय के निर्माता (विधाता) विचारकों में श्रेष्ठ है, ऐसा मैं समझती हूँ।

परन्तु विधाता जड है, ऐसा विरागी अर्हतों का जो जीवन दर्शन है वह तो पवित्र ही है ''प्राणिनांशुभाशुभविधिविधायकं अदृष्टं तत्पौद्गत्यिकं निर्जीवं एव वस्तु भवति इति जैन सिद्धान्तः'' जयकुमार और सुलोचना इन दोनों योग्य स्वभाव कान्तिशाली प्राणियों का संयोजक अदृष्ट चैतन्य ही प्रतीत होता है। यह हमारा चित्त कह रहा है। इसलिये इन दोनों का निर्माता चेतन ही है जड नहीं है। जैन सिद्धान्त की व्याख्या रखते हुए काव्यार्थ का ठीक बोध कराया गया है।

सम्पूर्ण जयोदय महाकाव्य आकार से विशाल है। स्वभावतः उसमें अनुपम किसी भी साहित्यतत्त्व का प्रदर्शन संभव नहीं है। इसलिये मैंने यत्रकुत्रापि से जो भी उचित प्रतीत हुआ, उसी को यहाँ प्रदर्शित किया है। औचित्य काव्य का प्राण है। कवि भूरामल जी ने उसका सम्यक् निर्वाह किया है। यह तो काव्य देखकर ही सुधी विज्ञ वर्ग जान सकता है।

जयोदय महाकाव्य में कतिपय दोष

ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री द्वारा प्रणीत जयोदय एक विशाल महाकाव्य है, जिसकी रचना

अट्ठाईस सर्गों में की गयी है । महाकवि का पाण्डित्य सतत संस्तवनीय है, फिर भी कहीं कहीं शब्द शास्त्र प्रतिकूलता एवं अलङ्कार शास्त्र मर्यादा की अतिक्रान्तता भी देखने को मिलती है । यथा-

1. **च्युतसंस्कृति दोष:** इस महाकाव्य में 'पुनीत' शब्द बहुश: स्थलों में प्रयुक्त है, जो सुबन्त के रूप में सर्वथा निन्द्य है । क्योंकि पु, पावने धातु से क्त प्रत्यय करने पर पुत रूप बन सकता है । 'पुनीत' लट् लकार में तस प्रत्यय के यहाँ 'पृना' प्रत्यय करने पर पुनीत: रूप बनेगा । महाकवि के महाकाव्य से कतिपय पद्य अवबोधार्थ प्रस्तुत हैं

(क) ''गुणैस्तु पुण्यैकपुनीतमूर्ते: जगन्नग: संग्रथित: सुकीर्ते: ।
कन्दुत्वमिन्दुत्विऽनन्यचौरे रुपैति राज्ञो हिमसारगौरे: ।।''[107]

(ख) ''सम्विदम्बर इहात्मिभि: किणधारिण: किल पुनीतपक्षिण: ।
स्वैरमाविहरतोऽस्य दक्षतां शिक्षितुं स्वयमपृरिपक्षता ।।''[108]

(ग) ''असौ कुलीनापि पुनीतभावाच्चेतश्चुरा वा पटुता तुला वा ।
श्रीव्यंजनस्फीतिमतीव देहान्तस्थोद्भवृत्तेति पुनर्ममेहा ।।''[109]

(घ) ''नवारितामाप पुनीतकेश्या दत्वा दृशं कौतुकतोङ्ककेऽस्या: ।।''[110]

(ङ) ''प्राच्या परावृतपुनीतरदच्छदाया ।।''[111]

ऐसे ही निम्नस्थ श्लोक में 'मानि' ह्रस्व इकारान्त का प्रयोग किया गया है जबकि 'मानी' इस प्रकार दीर्घ ईकारान्त का प्रयोग होना चाहिए। यथा

''न चातुरोप्येष नरस्तदर्थमकम्पनं याचितवान् समर्थ: ।
किमन्यकैर्जीवितमेव यातु न याचितं मानि उपैति जातु ।।''[112]

2. **सन्धि की न्यूनता :** 'सम्भवन्ति अरदा' यहाँ सन्धि प्राप्त होने पर सन्धि नहीं की गयी है अन्यथा 'सम्भवन्त्यरदा' ऐसा प्रयोग होता । इसमे शब्द विन्यास में कवि बुद्धि वैकल्पना प्रतीत होती है । जैसे

''नाथ नाथ विपदा विपदा मे सम्भवन्ति अरदादरदा मे ।
सोऽयमत्र भवतो ह्यनुभाव: शीतगावपि रवेरिव गाव: ।।''[113]

3. **अप्रयुक्त दोष:** जयोदय महाकाव्य मे उद्धृत निम्नलिखित श्लोक में 'किण' शब्द का प्रयोग 'यश' अर्थ में किया गया है, जो अप्रयुक्त दोष ग्रस्त है । उदाहरण

''विधुदीधितिवन्धुराधरावलये व्याप्तिमती मनोहरा ।
नृपतेऽस्तु मुदे नदीकिणस्थिरतेवाग्रिमवर्षपत्रिण: ।।''[114]

इसी प्रकार कुछ उदाहरण अप्रयुक्त दोष के प्रस्तुत हैं-

(क) "अपि हठात् परिषज्जनुषां मुदः स्थलमतिव्रजतीति विधुन्तुदः ॥"[115]
(ख) "ननु तेन हि सन्धयेऽर्पिता कुवलालीस्वकुलक्रमेहिता ॥"[116]
(ग) "हीरवीरचितास्तम्भा अदम्भास्तत्र मण्डपे ॥"[117]
(घ) "स्वजनसज्जनयोः परिचारक चिरत् आव्रजसि क्व शयानकः ॥"[118]

उक्त श्लोक चरणों में क्रमशः 'परिषद्', 'कुवलाली', 'अदम्भ' और 'चिरत्' शब्द का प्रयोग 'पङ्क', 'मौक्तिकमाला', 'विशाल' और 'चिरात' के अर्थ में प्रयोग हुआ है, जो अप्रयुक्त दोष से शून्य नहीं है ।

इसी प्रकार 'कुसुमांजलिः' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में किया गया है जबकि कोष में 'अंजलिर्ना' इस उक्ति से पुल्लिङ्ग में ही प्रयोग होना चाहिए । अतएव यह लिङ्गदोषग्रस्त है ।

इस महाकाव्य में अनेक सर्गों में कतिपय श्लोकों का कुछ पद ही नहीं है । यथा-

'अभात्तमां पीततमा हि दीपैविकस्वर...........।
गतस्तटाकान्तरमाशु हंसस्त्यक्त्वामुकं पुष्करनामकं सः ॥"[119]

उक्त म्लोक में द्वितीय चरण अब भी विकल है ।

सर्ग पच्चीस के श्लोक अट्ठासी में जो पद्य कहा गया है, उसकी सर्ग की समाप्ति होने पर भजनावली के पंचम श्लोक के द्वारा पुनरावृत्ति कर दी गयी है । वह श्लोक निम्न प्रकार है-

"यदुपश्रुतिनिर्वृतिश्रिया कृतसकेत इवाथ कौ धियां ।
विजनं हि जनैकनायकः सहसैवाभिललाषचायकः ॥"[120]

4. **छन्दोभङ्गता** : प्रकृत महाकाव्य में छन्दोभङ्गता भी अपना स्थान बनाये हुए है। जैसे-

"कल्पवल्लिदलयोः श्रियं तयोः सद्योजात्फलोपलम्भयोः ।
पाणियुग्ममपि चक्रिणो जयत्तच्छिरोमृदुगिरोऽभ्युदानयत् ॥"[121]

उक्त पद्य में द्वितीय चरण में छन्दोभङ्ग है । ऐसे ही आगे श्लोक में भी यह कमी है-

"उपलम्भितमित्यथोपकर्तुं हृदयेनाभ्युदयेन नामभर्तुः ।
उदयदिवोदयभूभृतस्तटे तच्छशिबिम्बं जयदेवव क्रमेतत् ॥"[122]

यहां भी द्वितीय चरण विकल है ।

5. **च्युत संस्कृति** : इसका उदाहरण न्यून है फिर भी यत्र-तत्र प्राप्त हो जाता है, जो अवलोकनीय है-

"अहो महत्त्वं महतामिहेदं सहन्ति शीतातपनामखेदं ।
द्रुवत्परेषां स्थितिकारणाय सदैव येषां सहजोऽभ्युपायः ॥"[123]

प्रकृत पद्य में 'सहन्ति' पद के स्थान पर 'सहन्ते' प्रयोग करना उचित है, किन्तु ऐसा

प्रयोग न होने से व्याकरण विरुद्ध है, क्योंकि यह धातु आत्मनेपदी है ।

इस प्रकार उपर्युक्त दिखायी गयी स्थितियाँ प्रकृत महाकाव्य में बहुश: आयी हुई हैं। लेकिन चन्द्र में कलङ्क होने पर भी अधिक प्रकाशक एवं जगदाह्लादकारक होने से नितान्त दर्शनीय, रमणीय एवं प्रिय है, यह सब लोग अङ्गीकार करते हैं । इस दृष्टि से इस महाकाव्य में उक्त कहे गये दोष ही केवल चन्द्र कलंक की भाँति विद्यमान है । चन्द्रवत् यह महाकाव्य विज्ञजनों से समादरणीय, चित्ताकर्षक, मनोज्ञ तथा प्रशंसनीय है ।

* * *

फुट नोट

1. नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् । लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥
- ना. शा., प्र. अ. 109

2. वयोनुरूप: प्रथमस्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचार: ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्य: ॥ ना शा. 14/68

3. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलीरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥ ना. शा.

4. भामह, काव्यालङ्कार 1/54

5. किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभाममाध्वपि । कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ॥
भामह, काव्यालङ्कार 1/55

6. समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते । उन्मत्त-मत्त बालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥ का आ. 4/5

7. शृ. प्र., भाग-2, पृ. 411

8. एता: प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्रा: कवीन्द्रैरथनाल्पदीर्घा: कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ता: ॥ - रुद्रट काव्या 2/32

9. ध्वन्यालोक, 2/17, 18, 19

10. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा । रसास्तन्नियमो हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययो।
- ध्वन्यालोक 3/6

11. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् । अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥
- ध्व. वृ. पृष्ठ-208

12. विरोधरससम्बन्धिविभावादि परिग्रह: । विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डेचप्रकाशनम् । परिपोष गतस्यापि पौन: पुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च ॥ - ध्व. 3/18, 19 (चौ. सं.)

13. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ - ध्व. पृष्ठ 362 (चौ. सं.)

14. युक्त्यौचित्य - प्रतिज्ञादिकृतो यस्त्विह कश्चन ।
अनुमानविरोध: स कविमुख्यैर्निगद्यते ॥ - स. कण्ठा. 1/75

15. एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणाद्वितयमुज्ज्वलम् ।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥ - वक्रो. जी. 1/57

16. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण नदौचित्यमुचिताख्यान जीवितम् ॥ - वक्रो. जी. 1/53

17. यन वक्तु: प्रभातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदाप्यौचित्यमुच्यते ॥ - वक्रो. जी. 1/54

18 इह खलु द्विविध मनौचित्य मुक्तम् अर्थविषयं शब्द विपय चेति । तत्र विभावानुभाव्यभिचारिणाम् अयथायथं रसेषु यो विनियोग: तन्मात्रलक्षण मे कमन्तरङ्गमाद्यैरवौमिनि नेह प्रतन्यते । अपरं पुन: बहिरङ्ग बहुप्रकारं संभवति तद्यथाविधेयाविमर्श: प्रक्रमभेद:, क्रमभेद:, पौनरुकत्यं वाच्यावचनंचेति ॥ - व्य. वि. उ. 2, पृष्ठ-149, 151

19. द्वेधा विभाग: कर्तव्य: सर्वस्यापीह वस्तुन: ।
सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्रव्यमथाणि वा ॥
नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तर: ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तर ॥ - द. रु. 1/56, 57

20. उचितं प्राहुराचार्या: सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥ - औ वि. च. का 7

21. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृति: ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणा: ॥ औ. वि च. का. 6

22. कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा, पाणौ नृपुरबन्धनेन चरेण केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता-
नौचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणा: ॥ - औ. वि. च. पृष्ठ-7

23. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे । क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते । तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्यथाशिषि ।
काव्य कास्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥ - औ. वि. च. का. 8, 9, 10

24. अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणा: सदा ।
औचित्यं रस - मिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥ - औ. वि. च. का. 5

25. तिलक बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम् । चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम् ॥
- औ. वि. च. का. 11

26. ज. म. 6/16 27. ज. म. 6/38

28. औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम् । त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम् ।
- औ. वि. च. का. 12

29. ज. म. 6/114, 115, 116 30.ज. म. 1/31

31. प्रस्तुतार्थोचित: काव्ये भव्य: सौभाग्यवान्गुण: । स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगाकसरोदित: ।
- औ. वि. च. का. 14

32. ज. म. 8/44 33. ज. म. 10/111

34. अर्थौचित्यवता सुक्तिरलङ्कारेण शोभते । पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥

- औ वि च. का 15

35. ज. म. 9/37 36. वही 13 17

37. कुर्वन्सर्वांशये व्याप्तिमौचित्यर चिरो रस: । मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मन: ।

औ वि च क 16

38. ज. म. 9/40 39. ज. म. 23/5 40. वही. 8 54 41. ज म. 8 58

42. सगुणत्वं सुवृत्तत्वं साधुता च विराजते । काव्यस्य सुजनस्येव सद्यौचित्यवतो क्रिया ॥

औ ' ' च का. 19

43. ज. म. 10/119, 120

44. सान्वयं शोभते वाक्यमुचितैरेव कारकै: । कुलाभरणमैश्वर्यमौदार्यचरितैरिव ॥

औ वि च. का 20

45. ज. म. 19/14 46. ज म. 18/98 47. वही. 23/8

48. ज. म. 11/85 49. ज. म 11/98 50. वही 11 6

51. ज. म. 18/3 52. ज. म. 18/4, 5, 6, 7

53. उचितैरेव वचनै: काव्यमायाति चारुताम् । अदैन्यधन्यमनसां वदनं विदुषामिव ॥

औ वि च. का 23

54. ज. म. 10/111 55. ज म. 10/113

56. विशेषणै: समुचितैर्विशेष्यो ऽर्थ: प्रकाशते । गुणाधिकैर्गुणोदार: सुहृद्भिरिव सज्जन: ॥

57. ज.म.2/21 58. योग्योथसर्गसंसर्गैर्निरर्गलगुणोचिता । मूर्तिर्विवर्धते सम्पत्सन्मार्गगमनैरिव ॥

59. ज. म. 1/8 60. वही. 3/35 61 उचितस्थानविन्यस्तैर्निपातैरर्थसङ्गति: ।

उपादेयभंवत्येव सचिवैरिव निश्चला ॥ औ वि. च. का 25

62. ज. म. 15/2 63. कालौचित्येन यात्येव वाक्यमर्थेन चारुताम् ।

जनावर्जनरम्येण वेषेणव सतां वपु: ॥ औ. वि. च. का. 26

64. ज. म. 15/25 65. देशौचित्येन काव्यार्थ: समंवादेन शोभते ।

परं परिचयाशंसी व्यवहार: सतामिव ॥ औ. वि. च. का. 27

66. ज. म. 20/2 67. ज. म. 20/3 68 वही. 20/4

69. कुलोपचितमौचित्यं विशेषोत्कर्षकारणम् । काव्यस्य पुरुषस्येव प्रियं प्राय: सचेतसाम् ॥

औ. वि. च. का. 28

70. ज. म. 28/3 71. वही. 28/4 72. वही. 28/5, 6

73. काव्यार्थ: साधुवादार्ह: सद्व्रतौचित्यगौरवात् ।

सन्तोषनिर्भरं भक्त्या करोति जनमानसम् ॥ - औ. वि. च. का. 29

74. ज. म. 27/51 75. ज. म. 27/65

76. काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात् । तत्त्वोचिताभिमानेन यात्युपादेयता कवे : ॥

- औ वि च का. 30

77. ज. म. 23/58, 59, 60 78. ज. म. 23/61, 62, 63, 64, 65, 66, 67, 68, 69, 70

79. चमत्कारं करोत्येव वचः सत्त्वौचितं कवेः । विचाररुचिरोदारचरितं सुमतेरिव ॥
- औ. वि. च. का. 31

80. ज. म. 25/4

81. अकदर्थनया सूक्तमभिप्रायसमर्थकम् । चित्तमावर्जयत्येव सतां स्वस्थमिवार्जवम् ॥
- औ. वि. च. का. 32

82. ज. म. 14/8, 9 83. स्वभावौचित्यमाभाति सूक्तीनां चारुभूषणम् ।
अकृत्रिममसामान्यं लावण्यमिव योषिताम् ॥ - औ. वि. च. का. 33

84. ज. म. 13/19 85. सारसङ्ग्रहवाक्येन काव्यार्थः फलनिश्चितः ।
अदीर्घसूत्रव्यापार इव कस्य न संमतः ॥ - औ. वि. च. का. 34

86. ज. म. 26/73 87. वही. 26/74 88. वही. 26/75

89. ज. म. 26/76 90. वही. 26/77

91. प्रतिभाभरणं काव्यमुचितं शोभते कवेः ।
निर्मलं सुगुणस्येव कुलं भूतिविभूषितम् ॥ - औ. वि. च. का. 35

92. ज. म. 14/26 93. अवस्थौचित्यमाधत्ते काव्यं जगति पूज्यताम् । विचार्यमाणरुचिरं कर्तव्यमिव धीमताम् ॥ - औ. वि. च. का. 36

94. ज. म. 17/110 95. उचितेन विचारेण चारुतां यान्ति सूक्तयः ।
वेद्यसत्त्वावबोधेन विद्या इव मनीषिणाम् ॥ - औ. वि. च. का. 37

96. ज. म. 25/3 97. वही. 25/4

98. नाम्ना कर्मानुरुपेण ज्ञायते गुणदोषयोः । काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवादपातिनी ॥
- औ. वि. च. का. 38

99. ज. म. 6/30, 33 100. ज. म. 6/12, 34

101. पुर्णार्थदातुः काव्यस्य सन्तोषितमनीषिणः ।
उचिताशीर्नृपस्येव भवत्यभ्युदयावहा ॥ - औ. वि. च. का. 39

102. ज. म. 17/136 103. वही. 22/87 104. वही. 25/89

105. उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाशते । गुणप्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जनः ॥
- औ. वि. च. का. 13

106. ज. म. 10/80 107. ज. म. 1/9

108. वही. 7/92 109. वही. 11/88 110. वही. 17/57 उत्त.

111. वही. 18/26 तृ. च. 112. वही. 1/72 113. ज. म. 20/26

114. वही. 13/54 115. वही. 9/15 पू. 116. वही. 10/37 उ.

117. वही. 10/88 118. वही. 20/19

119. ज. म. 15/33 120. वही. 25/88 121. ज. म. 20/13

122. वही. 20/14 123. वही. 19/115

❑ ❑ ❑

अष्ठम - अध्याय

'जयोदय महाकाव्य'

में

छन्दोयोजना

जयोदय महाकाव्य में छन्दोयोजना

छन्दः शास्त्र का सामान्य परिचय :

"जयोदय महाकाव्य" की छन्दोयोजना के पूर्व छन्द का मामान्य पग्चिय, महत्ता एवं उपयोगिता आदि पर प्रकाश डालना अनुपयोगी नहीं होगा । छन्द:शास्त्र की गणना वेदाङ्ग के अन्तगत होती है[1] । छन्दों के बिना वेदमन्त्रों का अध्ययन अध्यापन सम्भव नहीं है । वैदिक ज्ञान के लिये छन्दों का ज्ञान अनिवार्य है, अन्यथा उमका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पायेगा। इसीलिये छन्द को वेद का पाद कहा गया है[2] । इसी प्रकार काव्य के भी पाद का आधार छन्द ही है । यथा पाद के बिना सर्वसाधन सम्पन्न व्यक्ति भी अवरुद्ध गति बन जाता है, अथवा अपनी आधार भूमि से ही वंचित हो जाता है तद्वत् छन्द के अभाव, विषय, अनुरूप छन्द की योजना मे समग्र रस, रस भावादि सम्पन्न भी कवि का काव्य स्वाभाविक, अभीष्ट, समुत्कृष्ट पद्धति में शिथिल प्रतीत होता है । काव्य में जिस प्रकार गुण और अलङ्कार का स्थान है वैसे ही छन्दोयोजना का भी मुख्य स्थान है । दुर्भाग्यवश हमारी आस्था जितनी अलङ्कारादि पर काव्यों में रहती है, उतनी छन्दों पर नहीं । इसके अनेक कारण बन सकते हैं

1 प्रथम तो यह है कि छन्द क्योंकि अभिव्यक्ति के माध्यम हैं अत: उनकी सीमा वहीं तक मानी गयी ।

2 द्वितीय यह कि काव्यशास्त्र के प्रथम चरण में जहाँ अलङ्कार गुण रसादि सभी तत्त्वों को अलंकार माना गया वहीं सम्भवत: छन्द को भी आत्मसात् करने की प्रवृत्ति नहीं रही ।

3 तृतीय यह कि छन्द का अभाव या उसकी उपेक्षा का एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि वर्ण्य विषय के साथ समन्वय का न होना । क्योंकि छन्दोबद्धता कहीं विषय के प्रतिकूल पड़ जाती है।

4 चतुर्थ यह है कि अज्ञानवश अथवा छन्द के प्रति अभिरुचि न होने से छन्द को काव्यशास्त्र की परिधि में नहीं किया गया हो। अतएव ऐसे विचारों के व्यक्ति काव्य शरीरान्तर्गत छन्द को नहीं मानते ।

इसलिये छन्द काव्य का अलङ्कार मात्र है, मूल तत्त्व नहीं । यही नहीं कतिपय विचारकों का मत है कि सर्वश्रेष्ठ काव्य की सत्ता छन्द के बिना भी हो सकती है ।

किन्तु विचार करने पर उक्त मत समीचीन नहीं प्रतीत होता । क्योंकि छन्द: शास्त्र इतना समीक्षित शास्त्र है कि उसकी नान्तरीयकता में किसी प्रकार का कोई संशय नहीं हो सकता । वर्ण एवं मात्राओं के द्वारा छन्दों का निर्माण होता है । जिस प्रकार विष्णु से त्रैलोक्य

व्याप्त है, तद्वत् वर्ण मात्रादि से समग्र शास्त्र व्याप्त है। इसलिये ऐसे व्यापक स्तम्भ का त्याग नहीं हो सकता। अतएव काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने 'रोमाणि छन्दांसि' इस पंक्ति से सर्वत्र व्याप्त छन्द को स्थान दिया है। जिस प्रकार 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' यह उक्ति वैदिक ज्ञान को छन्द के माध्यम से गतिशीलता एवं प्रवाह प्रदान करती है, उसी प्रकार 'रोमाणि छन्दांसि' यह राजशेखरोक्ति भी (काव्य का रोम छन्द है) काव्य में गतिशीलता एवं प्रवाह प्रदान करने में समर्थ है। मानव मन में कोइ भाव जब उत्पन्न होता है, उसकी अभिव्यक्ति के साक्षात् परिचायक रोम ही होते हैं। व्यक्ति के रोमांच को देखकर उसके अन्तःकरण के भावों का अवधारण हो जाता है। एवमेव काव्यीय छन्दों को देखकर उसमें निहित भावों का ज्ञान व्यक्ति सरलता से कर लेता है। नाट्य शास्त्र प्रणेता आचार्य भरत मुनि का उद्घोष है कि 'छन्दविहीन शब्द कोई शब्द नहीं है[3]।"

काव्य में अभिव्यक्त किये जाने वाले पदार्थों एवं भावों के प्रकाशन में छन्द का प्रमुख स्थान है। सफल कवि वही है जो अभीष्ट भाव के लिये तद्नुरूप छन्दों की योजना कर सके। अनुरूप छन्द में वर्णित विषय मर्मस्पर्शी, हृदयावर्जक एवं रोचक हो जाता है। अतएव कवि मनो वैज्ञानिक एवं संगीतज्ञ भी होता है। इसीलिये पाश्चात्य समीक्षक कालरिज भी यह मानता है कि कविता छन्दोबद्ध होनी चाहिये उसमें संगीत होना चाहिये। भाव के नादमय स्वरूप को जानने के लिये संगीत का आवश्यकता पड़ती है। प्राप्त मनोगतभाव को कवि छन्द और भाषा के माध्यम से पाठक में मृत कर देता है। भावों के सच्चे परिवाहक छन्द ही हैं।

लय छन्दों का प्राण है। नाद में सुसंगता और सुषमामय कम्पन को लय कहते हैं। नाद का यह कम्पन ही जीवन का चिह्न है। उसी प्रकार कविता के जीवन का चिह्न छन्द है। छन्द हमारे जीवन में विशेष प्रेरणा भरते रहते हैं। छन्द से सूक्ति में सजीवता आती है। वह सूक्ति मानव में जीवन का संचार करती है। छन्द में वर्ण और मात्रा सम्बन्धी विशेष नियमों का अनुसरण होता है। क्रमविशेष में प्रयुक्त वण और मात्रा विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। मात्रा के भेद से उच्चारण के भेद होते हैं। उच्चारण भेद से प्रभाव में भी विलक्षणता आती है। प्रभाव वैलक्षण्य से फलभेद भी होता है। भावानुकूल छन्दों का भी परिवर्तन होता रहता है। भावानुकूल छन्दः परिवर्तन से प्रति छन्द के क्षेत्र में एक नवीनता परिलक्षित होती है। उस नवीनता से ही कविता में रमणीयता आती है।

छन्दः शब्द की व्युत्पत्ति महर्षि यास्क ने निरुक्त में छद् धातु से बतलायी है जो आच्छादनार्थक है। 'छन्दांसि छादनात्' वेदार्थ का आच्छादन करने के कारण इन्हें छन्द कहते हैं। निरुक्त की टीका में आचार्य दुर्ग का भी कथन है कि मृत्यु से त्रस्त देवों ने भी छन्दों के द्वारा स्वात्म रक्षा की, इसीलिये इन्हें छन्द कहा जाता है। कालान्तर में वेद के लिये 'छन्द' शब्द का औपचारिक प्रयोग होने लगा। 'छन्दवत् सूत्राणिभवन्ति'' श्री त्रियंश्छन्दोऽधीते', 'वहुलं छन्दसि'

इत्यादि वैयाकरणों के संकेत भी इसकी पुष्टि करते हैं। इस प्रकार भाषा के लिये भी छन्द शब्द का प्रयोग कालान्तर में होने लगा। महाभाष्य में 'अथ शब्दानुशासनम्' से उपक्रम बाँधकर 'तेषांशशब्दानां' इस प्रश्न के उत्तर में 'लौकिकानां वैदिकानाञ्चेति' इस उत्तर के माध्यम से भाषमाण शब्द के दो प्रकार मिद्ध हो जाते हैं, वैदिक और लौकिक। वेद के अर्थ में छन्द शब्द का प्रयोग महाकवि कालिदास ने भी 'प्रणवश्छन्दसामिव' रघुवंश महाकाव्य में कहकर व्यक्त किया है।

जिस कविता में मात्रा एवं वर्णो के क्रम और यति के नियम तथा कहीं चरणकी समता पायी जाती है अथवा विषमता भी हो तो उसे छन्दोबद्ध कविता कहते हैं। क्योंकि छन्द का अर्थ है बन्धन। यह कविता को सौन्दर्य प्रदान करता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन में धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, उसके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठता है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण में राग को स्पन्दन, कल्पनादि प्रदान कर निर्जीव शब्दों में भी सौन्दर्य भर देते हैं।

छन्दः शास्त्र के आचार्य :

प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की छन्दोबद्धता इस शास्त्र के ऐतिह्य के पुरातनता का द्योतक है। इस शास्त्र के प्राचीनतम आचार्य पिंगल हैं। इनका समय लगभग 300 इ प का है। इनका ग्रन्थ 'छन्द सूत्रम्' इस नाम से अभिहित है।

इस शास्त्र के द्वितीय आचार्य कालिदास है। इनका समय इ पू 57 है। 'श्रुतबोध' इनकी प्रसिद्ध रचना है।

क्षेमेन्द्र का भी स्थान इस शास्त्र की दृष्टि से स्तुत्य है। 1050 इ में रचित 'सुवृत्त तिलक' का यहाँ महान् योगदान है।

द्वादश शताब्दी में निर्मित 'वृत्त रत्नाकर' एक लोकप्रिय रचना है। केदार भट्ट की यह महान् देन है।

1086 - 1172 इ लगभग की रचना 'छन्दोऽनुशासनम्' छन्दः शास्त्र में अत्युपयोगी ग्रन्थ है। आचार्य हेमचन्द्र की यह महान् देन है।

गंगादास द्वारा रचित 'छन्दोमञ्जरी' एक सरल तथा प्रचलित छन्दःशास्त्र की रचना है। यह पन्द्रहवीं शताब्दी में निर्मित है।

दामोदर मिश्र का 'वाणीभूषण' इस शास्त्र की दृष्टि से अनुपम है। यह सोलहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ है।

दुःखभंजन रचित उन्नीसवीं शताब्दी का 'वाग्वल्लभ' ग्रन्थ भी छन्दः शास्त्र की एक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण रचना है।

एतदतिरिक्त 'प्राकृत पैंगलम्' नामक छन्दःशास्त्र की एक अन्य रचना है, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है ।

श्री महादेव भट्ट प्रणीत 'छन्दोवृत्ति' जो अष्ट अध्यायों में विरचित है, छन्दः शास्त्र में यह एक अपूर्ण ग्रन्थ है । भगवान् भरत का भी इन्होंने अपने शब्दों से सत्कार किया है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित होने के कारण उपलब्ध नहीं है तथापि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के 'सरस्वती-भवन' में विद्यमान है ।

उध्र्व वर्णित आचार्यो ने स्वरूप और प्रकार आदि का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसकी व्यापकता में न जाकर, संक्षिप्त विवेचना कर 'जयोदय-महाकाव्य' इसकी परिधि में कितना सफल हो पाया है, का विवेचन करेंगे ।

छन्द जिसका अपर नाम वृत्त भी है, यह समवृत्त[5] अर्धसमवृत्त[6] एवं विषमवृत्त[7] के भेद से तीन प्रकार का होता है । यह प्राय: वर्णो की लघुता एवं गुरुता के सिद्धान्त पर अपने क्षेत्र को पूर्ण करता है जिसका विश्लेषण कुछ इस प्रकार है -

1 ह्रस्व स्वर को लघु स्वर कहते हैं, जो क्रमशः अ, इ, उ, ऋ, लृ हैं ।

2 दीर्घ स्वर को गुरु स्वर कहते हैं जो क्रमशः आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ है ।

3 छन्द में यदि लघु स्वर के अनन्तर अनुस्वार, विसर्ग अथवा कोई संयुक्त व्यंजन होगा, वह लघु स्वर भी दीर्घ की संज्ञा से अभिहित होता है ।

4 चरणान्त स्वर, छन्द की आवश्यकतानुरूप विकल्प से लघु एवं गुरु होता है । सानुस्वार, ह्रस्व, दीर्घ, विसर्ग युक्त एवं संयोग वर्ण से पूर्व वर्ण गुरु होता है । पादान्त लघु वर्ण विकल्प से गुरु होता है

''सानुस्वारश्चदीर्घश्च विसर्गौ च गुरुभवेत ।
वर्णः संयोग पूर्वश्च तथापादान्तगोऽपि वा ।।''[9]

5 छन्दः शास्त्र में 'ल' को लघु एवं 'लौ' को दो लघु कहते हैं तथा 'ग' का अर्थ गुरु एवं 'गौ' का अर्थ दो गुरु होता है । लघु का चिह्न (1) होता है, एवं गुरु का चिह्न (S) होता है । चतुष्पदी पद्य के नाम से अभिहित है । श्लोक का चतुर्थांश पाद या चरण कहलाता है । वृत्त एवं जाति के भेद से यह पद्य भी दो प्रकार का होता है[10]।

प्रायः तीन वर्णो का समूह गण कहलाता है । वर्णित छन्दों की रचना गणों के आधार पर होती है । गण प्रायः आठ होते हैं, जो क्रमश इस प्रकार हैं :

(1) यगण	(2) मगण	(3) तगण	(4) रगण
(5) जगण	(6) भगण	(7) नगण	(8) सगण

इन गणों का ससौविध्य ज्ञान अधोलिखित सूत्र के द्वारा किया जाता है - सूत्र 'यमाताराजभानसलगा'। इसके ज्ञानार्थ निम्न वर्णित श्लोक अत्यधिक सहायक हैं -

''मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्चनकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ॥''[11]

आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम् ।
भ-ज-सा, गौरवं यान्ति, मनौ तु गुरु लाघवम् ॥''[12]

इसकी सरलता के लिए गणों का नाम, स्वरूप, देवता, फल, मित्रामित्र तथा शुभाशुभ का भी निर्देश किया गया है, जो इस प्रकार है :-[13]

गणनाम	यगण	मगण	तगण	रगण	जगण	भगण	नगण	सगण
स्वरूप	ISS	SSS	SSI	SIS	ISI	SII	III	IIS
देवता	जल	पृथ्वी	गगन	अग्नि	सूर्य	चन्द्र	स्वर्ग	वायु
फल	बुद्धि	श्री	धननाश	विनाश	राग	यश	आयु	भ्रमण
मित्रामित्र	दास	मित्र	उदासीन	शत्रु	उदासीन	दास	मित्र	शत्रु
शुभाशुभ	शुभ	शुभ	अशुभ	अशुभ	अशुभ	शुभ	शुभ	अशुभ

भाषा की गति और प्रवाह आदि से भी छन्दों का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। अतएव वैदिक भाषा के छन्द, लौकिक भाषा के छन्दों से साम्य नहीं रखते हैं। इसी प्रकार विभिन्न भाषाओं के छन्द भी उक्त भेद से ग्रस्त हैं। भाषा का प्रवाह अपनी अनुकूलता हेतु नवीन छन्दों के निर्माण के लिये बाध्य करता है। संस्कृत जगत् में वेद के पश्चात् लौकिक छन्द महर्षि वाल्मीकि के मुख से प्रथम-प्रथम अनुष्टुप् के रूप में अभिव्यक्त हुआ। तत्पश्चात् महाभारत एवं अन्यान्य काव्यों में भी पूर्णरूप से स्थान प्राप्त किया। व्यापक प्रभाव को संगत, व्यवस्थित, मर्यादित एवं रसानुकूल स्वरूप प्रदान करना छन्द का कार्य है। छन्द, अभिप्रेत रस का अनुगामी होना है। इसलिये रसानुकूल वृत्त (छन्द) का प्रयोग आवश्यक माना गया है। इसका समर्थन आचार्य क्षेमेन्द्र भी करते हैं[14]।

अनुचित वृत्त का प्रयोग शोभादायक नहीं होता। जिस प्रकार किसी ललना के मध्यभाग में पहनी जाने वाली मेखला कण्ठ में धारण की जाय तो उपहासास्पद ही होती है। यथा-

''वृत्त रत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता ।
कथयत्यशतिमेवमेखलेव गलेकृता ॥''[15]

इसलिए छन्दों का उपयोग रस एवं भाव के अनुरूप ही कवि जन करते हैं।

प्रकृत 'जयोदय महाकाव्य' में अधिकांशतः उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, सुन्दरी, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ मन्दाक्रान्ता आदि जैसे छन्दों का प्रयोग बहुलता से किया गया है । यहाँ हम प्रकृत महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में आये हुए छन्दों की विवेचना सर्ग-क्रम से प्रस्तुत करेंगे ।

जयोदय महाकाव्य में छन्दों–योजना

इस महाकाव्य में जिस प्रकार सर्गो की बहुलता है, वैसे ही छन्दों की भी संख्या अनन्त प्राय है । प्रथम सर्ग उपेन्द्रवज्रा छन्द से आरम्भ किया गया है ।

उपेन्द्रवज्रा :

केदार भट्ट प्रणीत वृत्त रत्नाकार में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है - जिस छन्द में जगण, तगण, जगण उसके पश्चात् दो गुरु हो उसे उपेन्द्र वज्रा कहते हैं[16] । इसी प्रकार छन्दोमञ्जरी में भी दिया गया है कि इन्द्रवज्रा के ही प्रथम अक्षर को लघु कर देने मे 'उपेन्द्रवज्रा' छन्द होता है[17] । उदाहरण जैसे :

''श्रियाश्रित सन्मतिमात्मयुक्तयाऽखिलज्ञमीशानमपीतिमुक्तया ।
तनोमि नत्वा जिनपं सुभक्त्या जयोदयं स्वाभ्युदयाय शक्तया ॥''[18]

इस सर्ग में इक्यासी श्लोक पर्यन्त उपेन्द्रवज्रा छन्द का प्रयोग किया गया है । श्लोक मंख्या बयासी से उपजाति छन्द दिखाया गया है -

उपजाति :

उपजाति का लक्षण वृत्तरत्नाकर के तृतीय अध्याय में श्लोक संख्या तीस में दिया है कि जहाँ इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा आदि छन्दों के चरण मिलाकर निर्माण किये जाते हैं वहाँ दो वृत्तों का सांकर्य होने से उपजाति छन्द कहलाता है । उपजाति के चौदह भेद टीकाकार बनाये हैं जो वक्ष्यमाण पंक्तियों में अवलोकनीय हैं -

(1) कीर्ति, (2) वाणी, (3) माला, (4) शला, (5) हंसी, (6) माया, (7) जाया, (8) वाला, (9) आर्द्रा, (10) भद्रा, (11) प्रेमा, (12) रामा, (13) ऋद्धि, (14) बुद्धि

प्रकृत महाकाव्य में प्राप्त उक्त प्रभेदों का कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है-

वाणी : जहाँ प्रथम चरण इन्द्रवज्रा द्वितीय उपेन्द्रवज्रा तृतीय चतुर्थ इन्द्रवज्रा हो उसे वाणी नामक उपजाति कहते हैं । यथा -

''श्रीचम्पका एनमनेनसन्तु तिरःशिरश्चालनतस्तुवन्तु ।
कोषान्तरुत्थालिकदम्भवन्तः पापानि वापायमियोद्गिरन्तः ॥''[19]

माला : जिसमें पूर्वार्ध उपेन्द्रवज्रा उत्तरार्ध इन्द्रवज्रा हो उसे माला नामक उपजाति कहते हैं । यथा -

''अशोक आलोक्य पतिं ह्यशोकं प्रशान्तचित्तं व्यकसत्सुरोकम्।
रागेण राजीवदृशः समेतं पादप्रहारं स कुतः सहेत ॥''[20]

शला : जिसमें पूर्वार्ध इन्द्रवज्रा तृतीय चरण उपेन्द्रवज्रा चतुर्थ इन्द्रवज्रा हो उसे शला नामक उपजाति कहते हैं । जैसे :

''आराम आरात्परिणामधामभूपच्छकच्छद्मदृशाभिरामः ।
विलोकयँल्लोकपतिं रजांसि मुञ्चत्यसौ चानुतरँस्तरांसि ॥''[21]

रामा : जिसमें पूर्वार्ध इन्द्रवज्रा और उत्तरार्ध में उपेन्द्रवज्रा हो उसे रामा नामक उपजाति कहते हैं । उदाहरण -

''यस्यान्तरङ्गेऽदभुतबोधदीपः पापप्रतीपं तमुपेत्य नीपः ।
स्वयं हि तावज्जऽताभ्यतीत उपैति पुष्टिं सुमनःप्रतीतः ॥''[22]

ऋद्धि : जहाँ प्रथम चरण उपेन्द्रवज्रा द्वितीय इन्द्रवज्रा तृतीय एवं चतुर्थ उपेन्द्रवज्रा हो उसे ऋद्धि नामक उपजाति कहते हैं, जिसका एक उदाहरण प्रस्तुत है -

''परोपकारैकविचारहारात्कारामिवाराध्य गुणाधिकाराम् ।
अलङ्करोत्याम्रतरुर्विशेषं सकौतुकोऽयं परपुष्टवेशम् ॥''[23]

श्लोक सतासी में भी माला नामक उपजाति को कवि ने दिखाया है ।

अनुष्टुप् :

महाकवि भूरामल शास्त्री जी के ग्रन्थ में प्रयुक्त पद्यों की परिगणना से यह सुस्पष्ट होता है कि अनुष्टुप् उनका अपर प्रिय छन्द है । पूर्ववर्ती महाकवि कालिदास ने अनुष्टुप् का प्रयोग विस्तृत कथा के संक्षेप साधारण घटनाओं के वर्णन, उपदेश प्रदान करने आदि स्थलों में प्रयुक्त किया है। शास्त्री जी के भी महाकाव्य में कुछ ऐसी ही घटनाओं में यह वृत्त प्रयुक्त है । विषय गाम्भीर्य के अवसर का प्रदर्शन कविगण छोटे-छोटे वृत्तों के माध्यम से उपस्थित करते हैं । 'जयोदय महाकाव्य' का प्रत्येक सर्ग इसी वृत्त में उपनिबद्ध है । आचार्यों ने इस वृत्त के सभी चरणों में पंचम वर्ण को लघु एवं षष्ठ वर्ण को गुरु स्वीकार किया है । द्वितीय और चतुर्थ चरण में सप्तम वर्ण लघु, प्रथम और तृतीय में गुरु होता है -

''पंचमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः ।
षष्ठं गुरु विजानीयादेतद्यस्य लक्षणम् ॥''[24]

इस छन्द के प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं । महाकवि ने अपने ग्रन्थ में इस नियम का पूर्णतः परिपालन किया है । यथा -

''गिरेत्यमृतसारिण्या श्रीवनञ्चानुकुर्वतः ।
बभूव भूपतेः क्षेत्रं सकलं चाङ्कुराङ्कितम् ॥''[25]

इसके अतिरिक्त अनेकशः श्लोक प्रकृत महाकाव्य में अवलोकनीय हैं ।

आर्या :

जिसके प्रथम तृतीय चरण में द्वादश, द्वितीय में अट्ठारह और चतुर्थ में पन्द्रह मात्रा हो उसे आर्या छन्द कहते हैं । इसके बहुशः उदाहरण प्राप्त हैं । जैसे -

''कण्टकित इवाकृष्टश्चक्षुर्दिक्षु क्षिपञ्छनैरचलत् ।
छायाछादितसरणौ गुणेन विपिनश्रियः श्रीमान् ॥''[26]

द्रुतविलम्बितः

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, दो भगण और रगण होते हैं उसे 'द्रुतविलम्बित' छन्द कहते हैं । पाद में यति होता है[27] । उदाहरणर्थ इस वृत्त में परिगुम्फित एक श्लोक दर्शनीय है -

''कुसुमसत्कुलतः पदपङ्कजद्वयममुष्य समेत्य शिलोमुखाः ।
स्वकृतदोषविशुद्धिविधित्सया समुपभान्ति लवा अथवागसः ॥''[28]

यह छन्द इस सर्ग के उक्त श्लोक मे लेकर सौ श्लोक पर्यन्त दिखाया गया है । पुनः मर्ग की समाप्ति शार्दूलविक्रीडित छन्द से की गयी है ।

शार्दूलविक्रीडित :

जिसमें मगण, सगण, जगण, सगण और दो तगण तथा अन्त में एक गुरु हो एवं बारह तथा सात पर यति हो, वह 'शार्दूलविक्रीडित' नामक छन्द कहलाता है[29] । प्रत्येक सर्ग की समाप्ति इसी छन्द से की गयी है, जिसका एक उदाहरण प्रस्तुत है :

''श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणमस्त्रियं धृतवरीदेवी च यं धीचयं ॥
तेनास्मिन्नुदिते जयोदयनयप्रोद्धारसाराश्रितः,
नानानव्यनिवेदनातिशयवान् सर्गोऽयमादिर्गतः ॥''[30]

रथोद्धता :

जयोदय महाकाव्य का दूसरा सर्ग रथोद्धता छन्द से प्रारम्भ होकर एक सौ छब्बीस श्लोक पर्यन्त तक चलता है । जिस छन्द के एक पाद में क्रमशः रगण से परे नगण, रगण, एक लघु और एक गुरु होते हैं, वह रथोद्धता नामक छन्द है[31] । यथा -

''संहितायमनुयन् दिने दिने संहिताय जगतो जिनेशिने ।
संहिताञ्जलिरहं किलाधुना संहितार्थमनुवच्मि गेहिनाम् ॥''[32]

इन्द्रवज्रा :

यदि छन्द के प्रथम चरण में क्रमशः दो तगण एक जगण और दो गुरु हों तो उसे इन्द्रवज्रा वृत्त कहते हैं[33]। यहाँ पाद में यति होता है। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

"होढाकृतं घूतमथाह नेता संक्लेशितोऽस्मिन्विजितोऽपि जेता ।
नानाकुकर्माभिरुचिं समेति हे भव्य दूरादमुकं त्यजेति ॥"[34]

इस वृत्त का प्रयोग अनन्तप्राय है ।

भुजङ्गप्रयात :

जिस छन्द के चारों चरणों में चार यगण हों उसे भुजङ्गप्रयात छन्द कहते हैं[35]। जैसे-

"त्रसानां तनुर्मांसनाम्ना प्रसिद्धा यदुक्तिश्च विज्ञेषु नित्यं निषिद्धा।
सुशाकेषु सत्स्वप्यहो तं जिघांसुर्धिगेनं मनुष्यं परासृक्पिपासुम् ॥"[36]

वसन्ततिलक :

जिसमें तगण, भगण, जगण पुनः जगण और अन्त में दो गुरु हों, उस छन्द को 'वसन्ततिलक' कहते हैं[37]। इस वृत्त से भरे हुये महाकाव्य में से एक पद्य 'स्थालीपुलाक' न्याय से प्रस्तुत कर रहा हूँ। यथा -

लोके घृणां समुपयन् मदकृद्भिरस्मिन्
भङ्गा - तमाखु - सुलभादिभिरङ्ग वच्मि ।
धीभ्रंशनं परवशत्वमुपैति दैन्य :
मस्मान्मदित्वमुपयाति न सोऽस्ति धन्यः ॥"[38]

इसी सर्ग के अग्रिम श्लोक में स्रग्विणी छन्द द्रष्टव्य है -

स्रग्विणी :

जिसके एक पाद में चार रगण हों, उसे स्रग्विणी छन्द कहते हैं[39]। जैसे -

"माक्षिकं मक्षिकाव्रातघातोत्थितं तत्कुलक्लेदसम्भारधारान्वितम।
पीडयित्वाऽप्यकारुण्यमानीयते सांशिभिर्वंशिभिः किन्नु तत्पीयते ॥"[40]

सुन्दरी :

यदि प्रथम तथा तृतीय पाद में दो सगण एक जगण और एक गुरु हों तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में सगण, भगण, रगण तथा एक लघु और एक गुरु हों, तो 'सुन्दरी' नामक छन्द होता है[41]। कुछ लोग इसे वियोगिनी नाम से स्मरण करते हैं। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है। यथा -

"गणिकाऽपणिका ऽखिलैनसांमणिका चत्वरगेव सर्वसात् ।
कणिकाऽपि न शर्मणस्तनोर्ज्ञणि काऽस्यां प्रणयो नयोज्झितः ॥"[42]

बंशस्थबिल :

जिसके चारों चरण में जगण, तगण, जगण, रगण हो उसे 'बंशस्थबिल' छन्द कहते हैं[43] । इस वृत्त से पूर्ण महाकाव्य के कतिपय श्लोक अवधेय हैं -

(क) "स सर्पिणी वीक्ष्य सहश्रुतश्रुतामथैकदाऽन्येन बताहिना रताम्।
प्रतर्जयामास करस्थकञ्जतः सहेत विद्वानपदे कुतो रतम् ॥"[44]

(ख) "गतानुगत्याऽन्यजनैरथाहता मृता च साऽकामुकनिर्जरावृता ।
गतेर्षया नाथचरामराङ्गना भवं बभाणोक्तमुदन्तमुन्मनाः "[45]

इसी प्रकार इस वृत्त से कोई सर्ग वंचित नहीं है ।

शिखरिणी :

जिसके चारों चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा अन्त में एक लघु और एक गुरु हो, उसे शिखरिणी छन्द कहते हैं । छः और ग्यारह पर विराम होता है[46] । इस वृत्त के चित्रण में सिद्धहस्त महाकवि के प्रकृत महाकाव्य से एक श्लोक उद्धृत है

"अभूद् दारासारेष्वखिलमपि वृत्तं त्वनुवदन्,
समासीनः सम्यक् सपदि जनतानन्दजनकः ।
तदेतच्छ्रुत्वाऽसौ विघटितमनोमोहमचिरात्,
सुरश्चिन्तां चक्रे मनसि कुलटायाः कुटिलताम् ॥"[47]

ऐसे ही बहुशः उदाहरण ग्रन्थ में भरे पड़े हैं ।

पृथ्वी :

जिस छन्द के चारों चरणों में जगण, मगण, जगण, मगण, यगण लघु तथा अन्त में गुरु हो और आठ तथा नौ अक्षरों पर यति हो, उसे पृथ्वी छन्द कहते हैं । इसका लक्षण छन्दोमञ्जरी में इस प्रकार दिया गया है -

"जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः ।"[48]

इस वृत्त से उपनिबद्ध एक श्लोक द्रष्टव्य है -

"अनङ्कुरितकूर्चकं ससितदुग्धमुग्धस्तवं,
भुनक्त्यपि सकूर्चकं लवणभावभृत्तकवत् ।
न दृष्टुमपि फाण्टवद्धवलकूर्चकं वाञ्छती -
त्यहो पुरुषमेककं क्षितितले त्रिधा साञ्चति ॥"[49]

इस प्रकार इस सर्ग के शेष श्लोक में अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, प्रभृति छन्दों का वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित छन्द से सर्ग का पर्यवसान कर दिया गया है ।

इसी प्रकार तृतीय सर्ग में महाकवि ने रथोद्धता, अनुष्टुप, उपजाति, वसन्ततिलक, उपेन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित प्रभृति छन्दों से वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित द्वारा सर्ग की समाप्ति कर दी है। इस सर्ग में आये हुए सभी छन्दों का वर्णन ऊपर कर दिया गया है। अतः इनकी पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं।

चतुर्थ सर्ग में आये हुए छन्दों का विवेचन इस प्रकार है -

स्वागता :

जिस छन्द के एक पाद में क्रमशः रगण, नगण, भगण और दो गुरु होते हैं, उसे 'स्वागता' छन्द कहते हैं[50]। वृत्तरत्नाकार के तृतीय अध्याय के श्लोक उन्तालिस में भी यही लक्षण दिया गया है। इस वृत्त का प्रयोग महाकवि ने चतुर्थ सर्ग के प्रारम्भ से लेकर पैंसठ श्लोक पर्यन्त किया है, जिसमें एक उदाहरण प्रस्तुत है -

> "यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् काशिकानरपतिर्निजकेन्द्रात ।
> आदिराज इदमाह सुरम्यर्ककीर्तिमचिरादुपगम्य ॥"[51]

पंचम सर्ग में भी प्रथम श्लोक से लेकर बहत्तर श्लोक पर्यन्त स्वागता छन्द है। पुनः आगे के श्लोक से छन्द बदल गया है जो द्रष्टव्य है -

तामरस :

जिस छन्द के एक पाद में क्रमशः नगण, दो जगण और यगण होते हैं, उसे तामरस कहते हैं[52]। यथा -

> "युवमनसीति वितर्कविधात्री सुकृतमहामहिमोदयपात्री ।
> सदसमवाप मनोहरगात्री परिणतिमेति यया खलु धात्री ॥"[53]

इस सर्ग के नब्बे श्लोक पर्यन्त उक्त वर्णित छन्दों का ही प्रयोग हुआ है अतः उनका पुनः वर्णन अपेक्षित नहीं।

इन्द्रवंशा :

जिस छन्द के चारों चरण में दो तगण, एक जगण, एक रगण हो उसे इन्द्रवंशा छन्द कहते हैं[54]। यथा -

> "शूरा बुधा वा कवयो गिरीश्वराः सर्वेऽप्यमी मङ्गलतामभीप्सवः ।
> कः सौम्यमूर्तिर्मम कौमुदाश्रयोऽस्मिन् सङ्गहे स्यात्तु शनैश्चराम्यहम् ॥"[55]

मत्तमयूर :

जिस छन्द के चारों चरणों में मगण, तगण, यगण, सगण एवं एक गुरु हो उसे मत्तममयूर छन्द कहते हैं। इस छन्द में चतुर्थ और नवम वर्ण पर यति होती है[56]। इसका उदाहरण अवलोकनीय है -

> "स्वङ्गी यूनां कामिकमोदामृतधारां यच्छन्ती यद्वद्विकलानां कमलारम् ।
> बन्धूकोष्ठी नामिकमापालय गर्भं भव्यं स्वङ्कं यन्नवगौराजिरशोभम् ॥"[57]

इसके अतिरिक्त इसी सर्ग में वंशस्थ, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा आदि विभिन्न छन्दों में वर्णन कर अन्त में मत्तमयूर छन्द का प्रयोग करते हुए सर्गान्त शार्दूलविक्रीडित छन्द से किया गया है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है ।

षष्ठ सर्ग का प्रारम्भ आर्या छन्द से हुआ है । आर्या के भेदों के साथ इसमें आये हुए अन्य वृत्तों का वर्णन भी प्रस्तुत है -

आर्या जाति के अनेक भेद हैं । जिसमें विपुला का लक्षण है कि आर्या छन्द के पूर्वार्ध उत्तरार्ध दोनों में तीन गण पार कर अर्थात् बारह मात्रा पार करके चौथे गण पर विराम होता है, ऐसे छन्द को विपुला आर्या कहते हैं । परन्तु तृतीय अध्याय के श्लोक चार की टीका में नारायण भट्ट टीकाकार ने यह भी लिखा है कि पिंगल सूत्र के विवेचनानुसार विपुला के तीन भेद होते हैं - मुख विपुला, जघन विपुला, उभय विपुला (महा विपुला) ।

मुख विपुला : जहाँ पर पूर्वार्ध में तीन गण के बाद अर्थात् चौथे गण पर विराम हो तो उसे मुख विपुला कहते हैं । जैसे -

"वैद्योपक्रमसहितांस्तत्र नभोगाधिभुव इमान् सुहिता ।
तत्याज सपदि दूरा मधुराधरपिण्डखर्जूरा ।।"[58]

जघन विपुला : यदि उत्तरार्ध ही में तीन गण के पश्चात् चौथे गण पर विराम हो तो जघन विपुला कहा जाता है । प्रकृत ग्रन्थ में इसका कोई उदाहरण प्राप्त नहीं है ।

महा विपुला : यदि पूर्वार्ध उत्तरार्ध दोनों में इस प्रकार के विराम हो तो उसे महाविपुला या उभय विपुला कहा जाता है । तीन गण के पश्चात् यह विराम कहीं भी हो सकता है। क्योंकि आगे भी आर्या के भेदों में इस प्रकार के उदाहरण देखे जाते हैं । महाविपुला का उदाहरण विपुला लक्षणात्मक श्लोक भी हो जाता है । यथा -

"किममीषां विषयेऽन्यत्पवित्रकटिमण्डले च निगदामि ।
सुरतानुसारिसमयैर्वा मानवविस्मयायाऽमी ।।"[59]

इसके अतिरिक्त आर्या का विशेष वर्णन कर स्वागता तथा शार्दूलविक्रीडित छन्दों में वर्णन कर सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है ।

पूरे सप्तम सर्ग में अनुष्टुप्, रथोद्धता, सुन्दरी, वसन्ततिलक छन्द का वर्णन कर अन्त में शार्दूलविक्रीडित छन्द से सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है ।

अष्ट सर्ग में आगत छन्दों में उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, उपजाति, आर्या, अनुष्टुप् का वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित से सर्ग की समाप्ति कर दी गयी है ।

नवम् सर्ग में द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, आर्या तथा अन्त में शार्दूलविक्रीडित छन्द से सर्ग का पर्यवसान किया गया है ।

इन सभी छन्दों का वर्णन ऊपर कर दिया गया है कोई नूतन छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है ।

इसके अतिरिक्त दसम सर्ग में सुन्दरी, अनुष्टुप्, वसन्ततिलक, रथोद्धता छन्दों का वर्णन एक सौ पन्द्रह श्लोक के अनन्तर पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग हुआ है, जिसका लक्षण-उदाहरण निम्नलिखित है -

पुष्पिताग्रा :

प्रथम तथा तृतीय पाद में दो नगण तथा एक रगण के अनन्तर यगण होने पर तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में नगण, जगण, जगण, रगण तथा एक गुरु होने से पुष्पिताग्रा नामक छन्द होता है[60] । यथा -

''अभवदपि परस्परप्रसादः पुनरुभयोरिह तोषपोषवादः ।
उषसि दिगनुरागिणीति पूर्वा रविरपि हृष्टवपुर्विदो विदुर्वा ।।''[61]

इस छन्द के बाद सर्ग के अन्त में शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग कर सर्ग का पर्यवसान किया गया है ।

एकादशवें सर्ग में उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ छन्दों का वर्णन कर बीच में रथोद्धता पुनः अनुष्टुप् छन्द का वर्णन करते हुए अन्त में शार्दूलविक्रीडित से सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

बारहवें सर्ग में एक सौ सत्ताईस श्लोक पर्यन्त सुन्दरी छन्द का प्रयोग हुआ है । पुनः आगे के श्लोकों में क्रमशः रथोद्धता, अनुष्टुप्, उपजाति प्रभृति छन्दों में सर्ग की रचना करते हुए महाकवि ने शार्दूलविक्रीडित से सर्ग की समाप्ति की है ।

मालिनी :

जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण, तथा दो यगण हों एवं आठ, सात पर विराम हो उसे मालिनी छन्द कहते हैं[62] । यथा -

''इति कटकसनाथस्तस्थिवान् मर्त्यनाथः,
शुचिनि गगनपाथस्त्रोतसि स्वेच्छयाथ ।
तपति शिरसि पाथस्तावदागत्य माथः,
कविकृतगुणगाथः श्रीजिनो यस्य नाथः ।।''[63]

इसके अतिरिक्त इस तेरहवें सर्ग में सुन्दरी, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा प्रभृति वृत्तों को उपनिबद्ध कर शार्दूलविक्रीडित से सर्ग का पर्यवसान दिखाया गया है ।

चौदहवें सर्ग में पज्झटिका छन्द का बहुल प्रयोग कर वंशस्थ, रथोद्धता, आर्या, वैताली, सुन्दरी, मालिनी के अनन्तर शार्दूलविक्रीडित से सर्ग की समाप्ति की गयी है । पज्झटिका एवं वैताली को छोड़कर शेष का विवेचन उपर्युक्त सर्गों में किया जा चुका है । यहाँ केवल पज्झटिका एवं वैताली का लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

पञ्झटिका :

जिस छन्द में प्रतिपाद में युग्मविच्छिन्न षोडश मात्राएँ हों तथा नवम मात्रा गुरु हो और एक भी जगण न हो, उसे पञ्झटिका कहते हैं[64] । इस पञ्झटिका छन्द में नवम वर्ण की गुरुता का कहीं पर व्यभिचार भी देख पड़ता है अर्थात् नवम वर्ण के गुरु होने से छन्द की कुछ सुन्दरता बढ़ जाती है । नवम वर्ण का गुरु होना लक्षण में नहीं मानना चाहिए[65] । उदाहरण-

''अथ तीरारामे सरितायां रुचिरासीन्महती जनतायाः ।
आत्मभूतनयताधिगमाय सुललितारान्वितोत्सवाय ।।''[66]

वैताली :

जहाँ प्रथम, तृतीय चरण में चौदह मात्रा एवं द्वितीय चतुर्थ चरण में सोलह मात्राएँ होती हों, परन्तु पदान्त में रगण, लघु और गुरु का प्रयोग भी हो तो उसे वैताली छन्द कहते हैं। जैसे -

''तरलैरलकैः समाकुला ललनालिङ्गनमङ्गरङ्गिणा ।
अनुकूलमवाप्य सत्वरं रससारं समवाप चापरा ।।''[67]

पन्द्रहवें सर्ग में उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, आर्या, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, अनुष्टुप, द्रुतविलम्बित वसन्ततिलका, स्वागता प्रभृति छन्दों का वर्णन हुआ है । परन्तु कहीं चरण अपूर्ण भी पड़ा हुआ है जैसे श्लोक संख्या तैंतीस का तृतीय चरण अपूर्ण है । इस प्रकार सर्ग की शार्दूलविक्रीडित छन्द के माध्यम से समाप्ति की गयी है ।

सोलहवें सर्ग में उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, पञ्झटिका, आर्या, वसन्ततिलका, रथोद्धता, स्वागता, सुन्दरी एवं सर्गान्त में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग करके पर्यवसान किया गया है ।

सत्रहवें सर्ग में उपजाति, वसन्ततिलक, इन्द्रवज्रा अनुष्टुप्, शिखरिणी, पञ्झटिका, सुन्दरी, मालिनी छन्दों का प्रयोग कर शार्दूलविक्रीडित से सर्ग का समापन दिखाया गया है ।

अट्ठारहवें सर्ग में वसन्ततिलक, अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित, आर्या, मन्दाक्रान्ता, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा आदि छन्दों का वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित से सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

उन्नीसवें सर्ग में उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, अनुष्टुप्, वसन्ततिलक, पञ्झटिका, आर्या एवं अन्त में शार्दूलविक्रीडित छन्द का वर्णन कर सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

बीसवें सर्ग में पञ्झटिका, सुन्दरी, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, भुजङ्गप्रयात, आर्या, स्वागता, मालिनी, अनुष्टुप्, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपजाति, दोहडिका आदि छन्दों का प्रयोग कर शार्दूलविक्रीडित से सर्ग का समापन किया गया है।

बीसवें सर्ग में आये हुए दोहडिका छन्द का लक्षण उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

दोहडिका :

जिस छन्द नें प्रथम और तृतीय चरण में तेरह मात्राएँ हों तथा लघु पर विराम हो और द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में ग्यारह मात्राएँ हों उसे दोहडिका (दोहा) छन्द कहते हैं[68] । यथा-

''सत्करोमि यत् पदयुगं सन्निधिरयमिहनाम् ।
मम कर्मासन्निर्वृतं समधिगतं ललाम ॥''[69]

शेष छन्दों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है अत: उनकी आवृत्ति दोष की परिचायिका होगी ।

इक्कीसवें सर्ग में रथोद्धता, सुन्दरी, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, भुजङ्गप्रयात, पज्झटिका, आर्या, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित प्रभृति छन्दों में वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित वृत्त द्वारा सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

बाइसवें सर्ग में पज्झटिका, अनुष्टुप्, इन्द्रवंशा, दोहडिका, उपजाति और अन्त में शार्दूलविक्रीडित का आश्रय लेकर वर्णन किया गया है ।

तेइसवें सर्ग में वंशम्थ, उपजाति, इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलक, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, पज्झटिका, उपेन्द्रवज्रा, सुन्दरी, अनुष्टुप् आर्या प्रभृति छन्दों से वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित वृत्त से सर्ग का अवसान किया गया है ।

चौबीसवें सर्ग का आरम्भ वंशस्थ छन्द से शुरू कर नब्बे श्लोक पर्यन्त वर्णन किया गया है । तत: उपजाति, अनुष्टुप्, आर्या, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, सुन्दरी, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका प्रभृति छन्दों से वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित द्वारा सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

पच्चीसवें सर्ग में द्रुतविलम्बित, सुन्दरी, शार्दूलविक्रीडित प्रभृति छन्दों से वर्णन कर सर्ग की समाप्ति की गयी है । सर्ग समाप्ति के पश्चात् पाँच श्लोकों से भजनगीत भी दिखाया गया है, जिसमें सर्ग के भीतर के श्लोक भी आये हुए हैं ।

छब्बीसवें सर्ग में सुन्दरी, मालिनी, वंशस्थ, वसन्ततिलका, अनुष्टुप्, उपजाति छन्दों का वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित छन्द से सर्ग की समाप्ति की गयी है ।

सत्ताइसवें सर्ग में उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, रथोद्धता प्रभृति छन्दों से वर्णन कर शार्दूलविक्रीडित छन्द से सर्ग की समाप्ति की गयी है

अट्ठाइसवें सर्ग में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग आरम्भ से लेकर श्लोक संख्या साठ पर्यन्त अव्यवहित किया गया है । तत: रथोद्धता, दोधक, सुन्दरी, शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवज्रा, आर्या, मालिनी, पज्झटिका प्रभृति छन्दों का प्रयोग कर शार्दूलविक्रीडित वृत्त से सर्ग का पर्यवसान किया गया है । सभी छन्दों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है । शेष एक दोधक छन्द का लक्षण एवं उदाहरण दृष्टव्य है -

दोधक :

तीन भगण एवं दो गुरु को दोधक कहते हैं[70] । जिसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

''स्वष्टदल कमलं मलयन्ती कौमुदमुत्कलमुत्कलयन्ती ।
वृत्तिमवन्क्षणदां स्वकलाभिः सोऽभिरराज सुधांशुसनाभिः ॥''[71]

इस प्रकार वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल जी शास्त्री विरचित 'जयोदय महाकाव्य' के अट्ठाईस सर्गो में आये हुए उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, अनुष्टुप्, आर्या, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा, भुजङ्गप्रयाति, वसन्ततिलका, स्रग्विणी, सुन्दरी, वंशस्थ, शिखरिणी,पृथ्वी, स्वागता, तामरस, इन्द्रवंशा, मत्तमयूर, उभयविमुला, मुख विमला, पुष्पिताग्रा, मालिनी, पज्झटिका, दोहडिका, वैताली एवं दोधक छन्दों का प्रयोग कर प्रत्येक सर्ग का पर्यवसान शार्दूलविक्रीडित छन्द से किया गया है । हमने सर्ग क्रम मे आये हुए छन्दों का लक्षण और उदाहरण देते हुए विवेचना किया क्योंकि सभी श्लोकों को देना विषय का कलेवर ही बढ़ाना है । अत: छन्दों का दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है ।

* * *

फुट नोट

1 छन्दः पादौ तु वेदस्य ।

2 शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः । ज्योतिषामयनं चैवे दाङ्गानि षडेव तु ॥

3. छन्दोहीनोनशब्दोस्ति, नच्छन्दश्शब्दवर्जितः । - ना। शा. 15/40

4. जिस-जिस स्थान पर जिह्वा स्वेच्छापूर्वक विश्राम करती है, उसको यति कहते हैं । विच्छेद, विराम, विरति आदि इसके नामान्तर है
यतिजिह्वेष्ट विश्रामस्थानं कविभिरुच्यते ।
साविच्छेद् विरामाद्याः पदैर्वाच्या निजेच्छया ॥ छन्दोमंजरी 1/12

5. जिस वृत्त के चारों चरण, या पाद समान वर्ण वाले हों, वह 'समवृत्त' छन्द होता है। यथा - अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा आदि ।

6. जिसका प्रथम एवं तृतीय चरण द्वितीय तथा चतुर्थ चरण समान हो उसे 'अर्द्धसमवृत्त' छन्द कहते हैं । यथा विंयोगिनी, पुष्पिताग्रा आदि ।

7. चारों चरणों में भिन्नता रखने वाले वृत्त को विषमवृत्त कहते हैं । उदगता गाथा आदि इसके अन्तर्गत आते हैं । 8. छन्दोमंजरी 1/11

9. गुरुरेको गकारस्तु लकारो लघुरेककः । क्रमेण चैषां रेखाभिः संस्थानं दर्श्यते यथा ॥ - छन्दोमंजरी 1/9

10. पद्यं चतुष्पदी, तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा । वृत्तमक्षरसङ्ख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥ - छन्दोमंजरी 1/4 11.छन्दोमंजरी 1/8 12.वही,

13. मुवृ. ति. 3/7 14.मुवृ. ति. 3/7 15.वही ।

16. उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । - वृत्त रत्नाकार 3/29
17. उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा । - छन्दोमंजरी 2/2 18.ज. म. 1/1
19. ज. म. 1/82 20.ज. म. 1/84 21.ज. म. 1/83 22.ज. म. 1/85
23. ज. म. 1/86 24.छन्दोमंजरी 4/7 25.ज. म. 1/88 26.ज. म. 1/89
27. द्रुतविलम्बितमाहनभौभरौ । - छन्दोमंजरी 2/10 28.ज. म. 1/92
29. सूर्याम्वर्यदि म: सजौ सततगा: शार्दूलविक्रीडितम् । - छन्दोमंजरी 2/3
30. ज. म. 1/114 31.शत् परैर्नरलगै रथोद्धता । - छन्दोमंजरी 2/9
32. ज. म. 2/1 33.भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारै: । - छन्दोमंजरी 2 5
34. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग: । - छन्दोमंजरी 2/1 35.ज. म. 2/129
36. ज. म. 2/130 37.ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजागौग: । - छन्दोमंजरी 2 2
38. ज. म. 2/131 39.कीर्ति तैषा चतुरेफिका स्रग्विणी - छन्दोमंजरी 2 7
40. ज. म. 2/132
41. अयुजोर्यदिसौ जगौ युजो: सभरालगौयदि सुन्दरी तदा । - छन्दोमंजरी 3/6
42. ज. म. 2/135 43.वदन्ति वंशस्थबिलं जतौ जरौ । - छन्दोमंजरी 2/2
44. ज. म. 2/142 45.वही, 2/143 46.वृत्त रत्नाकर अ. 3/93
47. ज. म. 2/145 48.सटीक छन्दोमंजरी 2/2 49.ज. म. 1/55
50. स्वागता रनभगैर्गुरुणा च - छन्दोमंजरी 2/10 51.ज. म. 4/1
52. इद वद तामरसं नजजा य: । - छन्दोमंजरी 2/13 53.ज म. 5/74
54. स्यादिन्द्रवंशा ततजे रसंयुतै: । - वृत्तर. अ. 3/47 55.ज. म 5 91
56. वेदै रन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम् । - छन्दोमंजरी 2/3
57. ज. म. 5/107 58.ज. म. 6/11 59.ज म. 6/10
60. अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।
- छन्दोमंजरी 3/5
61. ज. म. 10/118 62.ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकै: । - छन्दोमंजरी 2/4
63. ज. म. 13/115
64. प्रतिपदयमकितषोडशमात्रा, नवमगुरुत्वविभूषितमात्रा ।
पज्झटिका पुनरत्र विवेक:, क्वापि न मध्यगुरुर्गण एक: ॥ छ. म. पं. स्त. ।
65. नवमगुरुत्वं व्यभिचरति च । - छ. म. 5/2 - ज.म. 14/1
66. ज. म. 14/92
67. मात्रात्रयोदशकं यदि, पूर्वं लघुकविरामि । पश्चादेकादशकन्तु दोहडिका द्विगुणेन ॥
- छन्दोमंजरी 5/3
68. ज. म. 20/90 69.दोधकमिच्छति भत्रितयाद् गौ । - छन्दोमंजरी 2/11
70. ज. म. 28/67

❑❑❑

नवम - अध्याय

'जयोदय महाकाव्य'

में

उपसंहार

उपसंहार

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धोचयम् ।
तत्काव्यं लसतात्स्वयंवरविधिश्रीलोचनाया जय –
राजस्याभ्युदयं दधत् वसुदृगित्याख्यं च सर्गं जयत् ।।

लोक-कल्याण की भावना से ही बर्द्धमान भगवान महावीर ने जैन धर्म को बर्द्धमान किया। अर्हन् या अरिहन्त, 'अर्हन्नित्यथ जैन शासनरता' के इस सम्प्रदाय ने लोगों को हिंसा से दूर करने के लिये अथक प्रयास किया। जिसमें अनेकों महापुरुष एवं महाकवियों ने अपना हाथ बटाया। इन महापुरुषों में भरत, जयकुमार प्रभृति को गिना जाता है जिनके चरित्र आज भी अनुकरणीय माने जाते हैं।

ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री, 'आचार्य श्री ज्ञानसागर जी', इसी जैन सम्प्रदाय के वीतराग महात्मा एवं प्रमुख महाकवि भी हैं। जिनकी अनेक कृतियाँ हैं। इनका उल्लेख मैंने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में कर दिया है। शास्त्री जी के ग्रन्थमाला में 'जयोदय महाकाव्य' अपना असाधारण स्थान रखता है। यह महाकाव्य अट्ठाईस सर्गों में रचा गया है। महाकाव्य के प्रारम्भ में भारतवर्ष के आर्य सम्राट चक्रवर्ती भरत के प्रधान सेनापति एवं हस्तिनापुर के अधिपति जयकुमार के विलक्षण पराक्रम, वैभव, कानन क्रीडा आदि का वर्णन, मुनि राज का दर्शन तथा कर्त्तव्य पथ का उपदेश आदि वर्णित है।

महाराज जय के उपदेष्टा मुनिराज ने धार्मिक गृहस्थ जीवन, उसकी व्यावहारिकता के साथ उनकी उपयोगिता भी अभिव्यक्त की है। काव्य के नायक जयकुमार का जीवन सदाचार सम्पन्न तथा अत्यन्त प्रभावशाली है। वही इस काव्य का नायक है। महासत्त्वादि गुण सम्पन्न होने के कारण उसे हम धीरोदात्त की कोटि में रख सकते हैं। अन्ततः विरक्त हो जाने के कारण उसके धीर प्रशान्त की बात उठाई जा सकती है। किन्तु जीवन की अन्तिम अवस्था में वैराग्य धारण भी धीरोदात्त का ही परिचायक है। अन्यथा युधिष्ठिर आदि को भी धीर प्रशान्त कहना पड़ेगा। धीरोदात्त नायक सम्पन्न महाकाव्य का अङ्गीरस वीर कहा गया है प्रकृत काव्य में मैंने शान्त को ही अङ्गीरस की मान्यता दी है। धीरोदात्त और शान्त में शास्त्रीय विरोध अवश्य है पर कविगत भावना तथा पर्यवसान को दृष्टि में रखकर ही मैंने शान्त को प्रधान माना है। सम्पूर्ण महाकाव्य उसी के लिये समर्पित है। अतः शास्त्र-विरोध होने पर भी विद्वज्जन मेरी धृष्टता को उतना महत्व नहीं देगें, की पूर्ण आशा है।

प्रकृत महाकाव्य, महाकाव्यत्व के समस्त गुणों से संवलित है। इस बात की चर्चा

मैंने शोध के विगत अध्यायों में की है । जय का सद्वंशीय धीरोदात्त होना विहार, सुलोचना के विवाह, युद्ध-जय पराजय पुन: सन्धि तथा प्रेम व्यवहार आदि कवि की प्रतिभा और कल्पनाशक्ति को प्रदर्शित करनेमें पूर्ण समर्थ है । विवाह के अनन्तर जय-सुलोचना के क्रीडा आदि प्रसङ्ग, शृङ्गार प्रदर्शन से भी काव्य ही महत्ता में वृद्धि हुई है ।

अन्य अनेक रमणीय वर्णनों के साथ-साथ लता- वृक्षादि आलिङ्गनों द्वारा उद्दीपन का पूर्ण प्रदर्शन भी है । महाकाव्य पद्धति के अनुसार सन्ध्या, रात्रि, सूर्योदय, सूर्यास्त प्रभृति का वर्णन भी पर्याप्त रूप में किया गया है।

विभ्रम विलास के अङ्गभूत पान-गोष्ठी के वर्णन को भी स्थान दिया गया है । विरह व्यथा जो प्रेम की उत्कृष्ट कसौटी है, उसको महाकवि ने पर्याप्त स्थान दिया है । विभिन्न नायिकाओं की विभिन्न साधनों से सम्पन्न क्रीडा भी दिखायी गयी है ।

रात्रि क्रीडा वर्णन मनोरम है । सुरत वासना का भी सफल चित्रण किया गया है । अनादिरूपा सुलोचना अनन्तरूप जयकुमार इन दोनों की आदि अनन्त रूपा स्मृति क्रिया बतलायी गयी है जो कामशास्त्रोक्त मार्ग की प्रशस्ति है ।

प्रभात वर्णन अर्हन् भगवान् की सुन्दर स्तुति भी इस काव्य में यथेष्ट रूप से की गयी है ।

जयकुमार के द्वारा सन्ध्या वन्दन एवं समयोचित वर्णन भी दिखाया गया है । तदनन्तर जिन भगवान् की विस्तृत स्तुति की गयी है, जिसके द्वारा जैन दर्शन का भी कलेवर अभिव्यक्त हो जाता है । सन्ध्यावन्दनादि प्रदर्शन व्यक्त करता है कि कवि शास्त्र मर्यादा का कितना पालक है ?

इन सबके अतिरिक्त इस विस्तृत महाकाव्य में प्रसङ्गानुसार यान, सरित् सरोवर, कैलास शोभा का वर्णन भी अत्यन्त मनोहारी है ।

यथास्थान जय-सुलोचना के पूर्वजन्मों के वृत्तान्त द्वारा कवि ने अद्भुत की सृष्टि की है । प्रसङ्गानुसार अन्य रसों का भी सम्यक् विनिवेश किया गया है ।

जैन-धर्म की उत्कृष्टता के साथ-साथ मुनि दर्शन, उनके प्रति अनुराग प्रदर्शन भी कवि ने अपनी सहज शक्ति से दिखाया है । वैराग्योत्पादक संगीत भी स्थायी टेक के माध्यम से यथा स्थान गाये गये हैं । जय-सुलोचना का जिन मन्दिर में जाना, मन्त्रपूत जल स्नान, जैन सम्प्रदाय के अनुसार वस्त्रादि धारण कवि के जैनानुराग को प्रदर्शित करते हैं ।

जीवन के अन्तिम समय में नायक द्वारा ऋषभदेव के शरण में जाना, उपदेश लेना, तदनुसार तपश्चर्या में प्रवृत्त होना और शिवत्व की प्राप्ति आदि विषय जहाँ कवि के जैन प्रेम को प्रदर्शित करते हैं, वहीं काव्य प्रयोजन को भी अभिव्यक्त करते हैं । जिसका तात्पर्य

है कि जीवन में शिवत्व ही सब कुछ है और वह भोग के अनन्तर ही उपलब्ध हो सकता है। यह मब कवि की विशुद्ध एवं विशद दृष्टि के परिचायक हैं। सम्पूर्ण महाकाव्य में जैन धर्मानुराग और जैन दर्शन के सिद्धान्तों का भी सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

इम प्रकार 'जयोदय' महाकाव्य के पूर्ण लक्षणों से मण्डित एवं उत्कृष्ट काव्य है, जिसके माध्यम से कवि ने लोक हित कामना को मम्यक् अभिव्यक्ति दी है। रस. गुण, अलङ्कार ध्वनि, गीति, छन्दोयोजना की दृष्टि से भी यह एक महनीय काव्य है। इन समस्त काव्यतत्त्वों के प्रति कवि सतत जागरूक है। यही कारण है कि प्रमङ्गानुरूप ही काव्य में रसादि का मम्यक् विनिवेश हुआ है। काव्य में गीतों का प्रयोग कवि की अपनी मौलिक और अभिनव युक्ति है। तुलनात्मक दृष्टि से इस महाकाव्य को हम अलङ्कृत शैली के अन्तर्गत रख सकते हैं। काव्य का प्रारम्भ ही नैषध की पद्धति पर हुआ है इसे हम पूर्व के पृष्ठों में प्रतिपादित कर चुके हैं। अलङ्कृत शैली में होने पर भी हम इसे भारवि-माघ की श्रेणी में भी नहीं ले जा मकते। काव्य की दुरुह तथा क्लिष्ट शब्द योजना पाठक को पर्याप्त कठिनाई प्रदान करती है। अत: न तो यहाँ भारवि का पयाप्त अर्थ गाम्भीर्य है और न माघ का प्रचण्ड पाण्डित्य। माघ का पाण्डित्य प्रचण्ड होने पर भी ग्राह्य हो जाता है। पर प्रकृत महाकाव्य के यशस्वी कवि का पाण्डित्य सात्त्विक दुरुहता में ही अधिक रमता प्रतीत होता है। जहाँ तक श्री हर्ष का प्रश्न है। कवि ने काव्य का प्रारम्भ तो उसी पद्धति से किया है, सर्गों का अवसान भी लगभग वैसा ही है, परन्तु नैषधकार का पद सौन्दय यहाँ अलभ्य है। कालिदास के समीप इसे ले जाने का दुस्साहस ही नहीं किया जा मकता। काव्यगत दोषों के प्रति मैंने उपेक्षाभाव रखा है। दोष दर्शन अच्छी बात नहीं।

कवि भूरामल जी का पाडित्य अवश्यमेव स्तुत्य है। उन्हें जैन धर्म और दर्शन का पूर्ण ज्ञान है। पुराण से प्राप्त कथा को अलङ्कृत शैली में निबद्ध करने में वह पूर्ण समर्थ रहे हैं। समस्त का अनुशीलन करने पर जैन धर्म के प्रति सहज अनुराग हो जाना स्वाभाविक है। यह काव्य ही जैन-धर्म की प्रशस्ति के लिये है। अत: जैन समाज की यह एक उत्तम निधि है। यथा स्थान वैदिक पद्धति का अनुपालन होने से वैदिक धर्म पर भी कवि की यथेष्ट श्रद्धा दीख पड़ती है। उदाहरणाथ, जयकुमार की सन्ध्योपासना, वैदिक रीति से पाणिग्रहण आदि को लिया जा सकता है। अत: जैन-प्रधान होने पर भी 'जयोदय महाकाव्य' इतर धर्मों को भी शिवोदय की ओर ले जाने में पूण समर्थ है। संक्षेप में ही किन्तु सार रूप में मैंने यहाँ जयोदय का समालोचन किया है। समग्र का आनन्द तो काव्य मे ही सम्भव है। आशा है सुधी वर्ग इसे आदरपूर्वक अपनायेगा। शुभम् स्यात्।

❑❑❑

॥ ॐ महावीराय नमः ॥

परिशिष्ठ

1. जयोदय महाकाव्य में प्रस्तुत स्थान, पात्र, दार्शनिक शब्द-समूह एवम् ललित मूक्तियाँ।
2. सहायक ग्रन्थों की सूची।

अयोदय महाकाव्य में प्रस्तुत स्थान

1. अयोध्या :

सम्राट् भरत की राजधानी उत्तर प्रदेश की प्रसिद्ध नगरी। मुहल्ला कटरा में एक मन्दिर एक धर्मशाला और सात टांके हैं। आदिनाथ, अजितनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ और अनन्तनाथ इन पाँच तीर्थङ्करों की जन्मभूमि है। यह स्थान हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ है।

2. अङ्गदेश :

मालव देश का पूर्वभाग अङ्ग कहलाता था। इसकी प्रधान नगरी चम्पा थी, जो भागलपुर के पास है।

3. कलिङ्ग :

मद्रास प्रान्त का उत्तर भाग और उत्कल (उड़ीसा) का दक्षिण भाग पहले कलिङ्ग नाम से प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी कलिङ्ग नगर (राजमहेन्द्री) थी इसमें महेन्द्रमाली नामक गिरि है।

4. कर्णाट :

यह आन्ध्र प्रदेश के दक्षिण व पश्चिम का भाग था। वनवाम तथा महिषग अथवा महीशूर (मैसूर) इसी के अन्तर्गत है। इसकी राजधानियाँ महिषपुर और श्रीरंगपत्तन थीं।

3. काश्मीर :

यह भारत की उत्तर सीमा पर है। इसका अब भी काश्मीर ही नाम है। इसकी राजधानी श्री नगर है।

6. काशी :

बनारस के चारों ओर का प्रान्त इस देश के अन्तर्गत था। इस देश की राजधानी वाराणसी (बनारस) थी।

7. काञ्चनपुर :

विदेह का एक नगर।

8. कामरूप :

एक देश-आसाम।

9. कुरु :

यह सरस्वती के बाँयी ओर अनेक कोसों का मैदान है। इसको कुरुजांगल भी कहते हैं। हस्तिनागपुर इसकी राजधानी रही है।

10. कुसुम प्रदेश :

पटना के भू-भाग का प्रदेश ।

11. जम्बूपुर :

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में एक जम्बूपुर नाम का नगर ।

12. बङ्ग :

बंगाल का पुराना नाम बङ्ग है। यह सुह्म देश के पूर्व में है। इसकी प्राचीन राजधानी कर्ण सुवर्ण (वनसोना) थी। इस समय काली घट्ट पुरी (कलकत्ता) राजधानी है ।

13. मालव :

यह मालवा का नाम है । पहले अवन्ती इसी के अन्तर्गत दूसरे नाम से प्रसिद्ध था पर अब वह मालव में सम्मिलित है । उज्जैन, दशपुर, (मन्दौर), धारानगरी (धार) इन्द्रपुर (इन्दौर) आदि इसके प्रसिद्ध नगर हैं ।

14. वाराणसी :

यह प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। स्टेशन से दूर मैदागिन में जैन मन्दिर और विशाल धर्मशाला है। सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की जन्मभूमि है । काशी स्याद्वाद जैन महाविद्यालय यहीं पर है । जयोदय महाकाव्य के प्रणेता वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामल शास्त्री जी की शिक्षा-दिक्षा इसी विद्यालय में हुई थी ।

15. सिन्धु :

यह देश अब भी सिन्ध नाम से प्रसिद्ध है और करांची उसकी राजधानी है ।

16. हस्तिनापुर :

यह पाण्डवों की राजधानी थी। यहाँ शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, भगवान् के गर्भ जन्म, तप केवल ज्ञान हुए हैं । तीनों भगवान् की तीन नसियाँ हैं ।

17. पुण्डरीकिणी :

विदेह की एक नगरी ।

18. पोदनपुर:

बाहुवली की राजधानी ।

19. सर्पसरोवर :

धान्यकमाल वन का एक सरोवर ।

20. विजयार्धपर्वत :

यह एक पर्वत है जो गन्धिल प्रदेश के मध्य भाग में स्थित है । यह पर्वत धरातल

से पच्चीस योजन ऊँचा है। इसका समुचित वर्णन आदि पुराण के प्रथम भाग में है[1] ।

जयोदय महाकाव्य में प्रस्तुत पात्र

ऋषभदेव[2] :

ऋषभदेव नाभिराज के पुत्र थे। इनकी माता का नाम मरुदेवी मिलता है। वैदिक ग्रन्थों में भी ऋषभदेव की चर्चा मिलती है और ये नाभि के पुत्र बताये गये हैं। यद्यपि श्रीमद्भागवत में इनकी माता का नाम सुदेवी कहा गया है पर अग्निपुराण और कूर्मपुराण में इनकी माता का नाम मरुदेवी मिलता है। यह 'ऋषभदेव वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थङ्कर हैं। ऋषभदेव के दो नाम शास्त्रों में ऋषभ' और 'वृषभ' आते हैं। त्रिषटि शलाका पुरुष चरित्र में कहा गया है कि उनके जंघे में ऋषभ का चिह्न था इसलिये उनका नाम ऋषभदेव' पड़ा। आदि पुराण में बैल के चिह्न से युक्त होने के कारण 'वृषभ' कहा गया है। आदि पुराण (24-33) में उन्हें वृषभध्वज भी कहा गया है। इसकी टीका करते हुए पन्नालाल जी ने कहा है -'वृषभ चिह्न से युक्त' हैं। हिन्दुओं में ऋषभदेव बड़े लोकप्रिय व्यक्ति रहे हैं। वैष्णव एवं शैव दोनों ही परस्पर विरोधी सम्प्रदायों ने उन्हें क्रमशः विष्णु एवं शिव का अवतार माना है। हिन्दु पुराणों में वर्णित ऋषभ देव निश्चित रूप से जैन ग्रन्थों में वर्णित ऋषभदेव हैं।

इनका जन्म चैत्र मास, कृष्ण पक्ष नवमी तिथि को हुआ था। इनकी दो पत्नियाँ थीं। पहली यशस्वती रानी से भरत को लेकर सौ पुत्र एवं ब्राह्मी नाम की पुत्री हुई, भरत के नाम पर ही भारत नाम पड़ा। दूसरी रानी सुन्दरी से बाहुबल नामक एक पुत्र और सुन्दरी नाम की एक पुत्री हुई। चिरकाल तक राज्योपभोग करते हुए वृषभदेव भरत का राज्याभिषेक एवं अन्यों को भी यथोचित राज्य-पाट देकर चैत्र कृष्ण नवमी के दिन सांयकाल के समय दीक्षा धारण कर ली। भगवान् ऋषभदेव को छह माह का योग लेकर शिलापट्ट पर आसीन होते ही मनः पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया। ततः ऋषभदेव को फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन केवल ज्ञान की उत्पत्ति हुई। ततः भगवान् नाना प्रकार के स्थानों का विहार करते हुए कैलास पर्वत पर पहुँच कर निर्वाण को प्राप्त हुए। इस प्रकार ऋषभदेव का संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र ही प्रस्तुत किया गया है।

अकम्पन :

अकम्पन काशी का राजा शत्रुओं को कम्पित कर देने वाला होने से उसका नाम अकम्पन पड़ा। भगवान् ऋषभदेव से श्रीधर नाम पाकर अकम्पन नाथ वंश का नायक हुआ था। उसकी पत्नी का नाम सुप्रभा था। उसे हेमाङ्गदादि हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे तथा सुलोचना एवं लक्ष्मीवती नाम की दो कन्याएँ थीं।

उनकी पुत्री सुलोचना के स्वयंवर में भरत का पुत्र अर्ककीर्ति और सामप्रभ पुत्र जयकुमार दोनों आये थे। सुलोचना ने जयकुमार को वरण किया। जिस विवाद को लेकर जयकुमार

और अर्ककीर्ति में युद्ध हुआ। अन्त में अकम्पन ने सुलोचना का विवाह जयकुमार और लक्ष्मीवती का विवाह अर्ककीर्ति के साथ किया ।

ततः राजा अकम्पन हेमागंद को राज्य सौंपकर श्री भगवान् वृषभदेव के समीप जाकर अनेक राजाओं और रानी सुप्रभा के साथ दीक्षा धारण की तथा अनुक्रम से श्रेणियाँ चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त किया ।

अर्ककीर्ति :

भरत चक्रवर्ती का पुत्र। महाराज भरत ने चिरकाल तक लक्ष्मी का उपभोग कर अर्ककीर्ति नामक पुत्र का अभिषेक किया । काशिराज अकम्पन द्वारा आयोजित स्वयंवर में सुलोचना के द्वारा जयकुमार को वरण किये जाने पर एवं दुर्मर्षण नामक सेवक के द्वारा अर्ककीर्ति को उत्तेजित करने के फलस्वरूप जयकुमार और अर्ककीर्ति में घनघोर युद्ध हुआ ।

युद्ध में जयकुमार की विजय एवं अर्ककीर्ति की पराजय से खुश होकर अकम्पन अनुनय विनय करके अर्ककीर्ति से अपनी छोटी पुत्री अक्षमाला का विवाह कर देते हैं ।

ततः अनेक प्रकार का सुखोपभोग करते हुए अपनी पैत्रिक परम्परा का निर्वाह करते हुए चिरकाल तक राज्य करते हुए महाराज अर्ककीर्ति अपने पिता की भाँति सर्वगुण सम्पन्न अपने स्मितयश नामक पुत्र को लक्ष्मी देकर अर्थात् राज्याभिषेक कर तप के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुए ।

अनन्तवीर्य :

राजा जयकुमार की रानी शिवंकर महादेवी का पुत्र । जिसे राज्य सौंप कर जय ने दीक्षा ग्रहण की ।

अक्षमाला (लक्ष्मीवती) :

लक्ष्मीवती काशी नगरी के राजा अकम्पन तथा उनकी पत्नी सुप्रभा की पुत्री । इसका दूसरा नाम अक्षमाला था । उनके पिता ने सुलोचना हेतु हुए राजकुमार अर्ककीर्ति के युद्ध में अर्ककीर्ति की पराजय के अनन्तर अक्षमाला का विवाह अर्ककीर्ति से कर दिया ।

श्रेयांस :

हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के भाई । ऋषभदेव के दीक्षा लेने के उपरान्त एक वर्ष तक भिक्षा न मिलने के बाद श्रेयांस ने उनको इक्षुरस दान किया । यह दान परम्परा का प्रारम्भ हुआ । पूर्वताल में ऋषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद श्रेयांस ने भी सोमप्रभ के साथ ऋषभदेव के समक्ष दीक्षा ले ली ।

भीमराट् मुनि :

सर्प सरोवर के तट पर वन में स्थित एक नवदीक्षित मुनि, जिसे देखकर (हिरण्यवर्मा और प्रभावती के जीव जो देव-देवी हुए थे) उक्त दोनों ने उनसे धर्म का स्वरूप पूछा ।

उन्होंने सम्यग्दर्शन, सत्पात्र दान आदि श्रावक सम्बन्धी और यम आदि मुनि सम्बन्धी धर्म का निरूपण किया। चारों गतियाँ, उनके कारण और फल, स्वर्ग, मोक्ष के निदान एवं जीवादि द्रव्य और तत्त्व इन सबका भी यथार्थ प्रतिपादन किया।

ततः देव-देवियों के द्वारा दीक्षा लेने का कारण पूछे जाने पर भीम कहने लगे कि ''सर्वज्ञ देव ने मुझसे स्पष्टाक्षरों में कहा है, ''तू पहले नगरी में भव देव नामक वैश्य हुआ था। वहाँ तूने रतिवेगा, सुकान्त से वैर बाँधकर मारा था। मरकर वे दोनों कबूतर-कबूतरी हुए सो वहाँ भी तूने विलाव होकर उन दोनों को मारा था। वे मरकर विद्याधर-विद्याधरी हुए थे। उन्हें भी तुम विद्युच्चौर होकर उपसर्ग द्वारा मारा था। उस पाप से तुम नरक गया था और वहाँ के दुःख भोगकर आने पर यह भीम हुआ है।

भरत :

ऋषभ देव की पहली रानी यशस्वती से उत्पन्न सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र। इनके एक सौ एक भाई-बहन थे। ऋषभ देव दीक्षा लेने से पहले भरत को राज्य सौंप दिये। दिग्विजय करके ये भारत में प्रथम चक्रवती हुए। इनकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। जिस दिन ऋषभदेव को केवल ज्ञान हुआ, उसी दिन भरत के यहाँ चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई और उन्हें पुत्र रत्न हुआ।

ततः षट् खण्ड पृथ्वी के स्वामी महाराज भरत ने चिरकाल तक लक्ष्मी का उपभोग कर अर्ककीर्ति नामक पुत्र का राज्याभिषेक कर जिन दीक्षा धारण कर ली। पश्चात् भरत अपने समस्त केश को पंच मुष्टियों से मुंचित करने के बाद आयु के अन्त समय वे वृषभ सेन आदि गणधरों के साथ कैलास पर्वत पर जाकर मोक्ष प्राप्त किये।

जयकुमार :

राजा सोमप्रभ की लक्ष्मीवती रानी से उत्पन्न पुत्र। हस्तिनापुर का राजा। काशिराज अकम्पन की पुत्री सुलोचना का पति। महाकाव्य का प्रधान नायक। चिरकाल तक सुखोपोभोग करते हुए शिवंकर महादेवी के पुत्र अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक कर चक्रवर्ती पुत्रों के साथ-साथ दीक्षा धारण की। अन्ततः वह जयकुमार भगवान् का इकहत्तरवाँ गणधर हुआ। पति शोक से व्याकुल सुलोचना ने भी चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा के समझाने पर ब्राह्मी आर्यिका के पास शीघ्र ही दीक्षा धारण कर ली तथा चिरकाल तक तपस्या कर अच्युतस्वर्ग के अनुत्तरविमान में देव पैदा हुई।

मेघस्वर :

जयकुमार का एक नाम अथवा उपाधि जो उसने नागमुख और मेघमुख देवों को जीतकर धारण की थी।

जिनसेन :

महाकवि श्री भूरामल जी ने महाकाव्य में इन्हें गुरु रूप से प्रणाम किया है ।

गुणभद्र :

इन्हें भी प्रणाम किया गया है । आचार्य जिनसेन एवं गुणभद्र का परिचय विस्तृत रूप से शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में द्रष्टव्य है ।

समन्तभद्र :

महाकवि ने इन्हें काव्य गुरु स्थान दिया है ।

विद्यानन्द :

शास्त्री जी ने इन्हें भी नमन किया है ।

शिवायन :

प्रणाम की लड़ी में यह भी गण्य हैं ।

सुनमि :

एक विद्याधर राजा ।

विनमि :

यह भी एक विद्याधर राजा थे ।

महेन्द्र :

महेन्द्र दत्त नामक एक कंचुकी ।

विद्यादेवी :

सुलोचना के स्वयंवर में आगत राजाओं का परिचय कराने वाली ।

देव :

जयकुमार का पूर्वभव, जब वह देव लोक में जन्मा । उस भव में सुलोचना महादेवी नाम से उनकी पत्नी थी ।

महादेवी :

सुलोचना के पूर्वभव का नाम जब वह देव लोक में जन्मी ।

सुकान्तः

जय के चौथे पूर्वभव का नाम जब वह वैश्य थे और सुलोचना रतिवेगा नाम से उनकी पत्नी थी ।

रतिवेगा:

सुलोचना के चौथे पूर्व भव का नाम ।

रतिवर :

जय के तीसरे पूर्वभव का नाम जब वह कबूतर थे । पूर्वभव में सुलोचना रतिषेणा नामसे उनकी पत्नी थी ।

रतिषेणा:

सुलोचना का नाम जब वह तीसरे पूर्वभव में कुबेर कान्त सेठ के घर कबूतरी थी।

हिरण्यवर्मा :

जयकुमार का नाम जब वह अपने दूसरे पूर्वभव में विद्याधर थे और सुलोचना प्रभावती नाम से उनकी पत्नी थी ।

प्रभावती:

सुलोचना का नाम जब अपने दूसरे पूर्वभव में वह विद्याधरी थी ।

शिवंकर :

जयकुमार की पत्नी और अनन्तवीर्य की मां ।

इन्धिका :

जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य की पत्नी ।

तपन :

राजा अर्ककीर्ति के ग्यारहवें पीढ़ी के राजा । इनके पिता का नाम तेजस्वी था तथा तपन के पुत्र का नाम प्रतापवान था । ये राजा क्रम से सूर्य वंश में उत्पन्न हुए तथा पुत्र पर राज्य सौंपकर मोक्ष को प्राप्त हुए।

दुर्मर्षण (दुर्मति):

दुर्मर्षण राजकुमार अर्ककीर्ति का सेवक था । जयकुमार के वैभव को सहन न कर सकने के फलस्वरूप उसने सब राजाओं को उत्तेजित करने के उद्देश्य ने अकम्पन की निन्दा की ओर कहा कि षडयन्त्र के रूप में ही अकम्पन ने जयकुमार के गले में अपनी पुत्री सुलोचना से माला डलवायी है । उसने अर्ककीर्ति को अनेक प्रकार से उत्तेजित किया तथा अकम्पन को युद्ध में पराजित करने की अनुमति माँगी । और इस प्रकार यही अर्ककीर्ति तथा जयकुमार के बीच युद्ध का कारण बना ।

सोमयश :

ऋषभदेव के बाहुबली और सोमयश नामक पुत्र हुए । वही सोमयश सोमवंश (चन्द्रवंश) का कर्ता हुआ ।

चित्राङ्गद :

बनारस का राजा । अकम्पन का बड़ा भाई । इन्हीं के आदेश से विद्या देवी स्वयंवरागत राजाओं का परिचय करायी थी ।

सुमति :

काशिराज अकम्पन का एक मंत्री । जिसने अर्ककीर्ति और जयकुमार के युद्ध को रोकने का प्रयास किया था ।

मरीचि :

भगवान् ऋषभ देव के पौत्र तथा भरत चक्रवर्ती के पुत्र मरीचि थे। ऋषभ देव की दीक्षा के समय उनके साथ दीक्षा लेने वालों में मरीचि भी एक था । पर वे दीक्षा के अभिप्राय में अनभिज्ञ थे । छह माह भी नहीं हो पाये थे कि उनमें से कुछ राजा परिषहो को सहन नहीं कर सके। उनमें से कितने ही भूख से पीड़ित हो कायोत्सर्ग छोड़कर फल खाने लगे और कितने ही संतृप्त शरीर होने के कारण शीतल जल में जा घुसे । उन सब राजाओं में भरत का पुत्र मरीचि बहुत अहंकारी था इसलिये वह गेरुआ वस्त्र धारण कर परिव्राजक बन गया तथा वलकलों को धारण करने वाले कितने ही लोग उसके साथ हो गये । यही कपिल मत का संस्थापक हुआ।

हेमाङ्गद काशिराज अकम्पन के एक हजार पुत्रों में सबसे बड़ा पुत्र था । सुकेतु श्री और सुकान्त भी हेमाङ्गद के अनुज और अकम्पन के कनिष्ठ पुत्र थे । इन पुत्रों से घिरा हुआ अकम्पन इन्द्र सदृश सुशोभित होता था ।

सोमप्रभः

सोमप्रभ हस्तिनापुर का राजा । लक्ष्मीवती नाम की उसकी स्त्री थी। राजा सोमप्रभ की लक्ष्मीवती रानी से जयकुमार नामक पुत्र तथा विजय आदि और चौदह पुत्र उत्पन्न हुए ।

तदनन्तर राजा सोमप्रभ जयकुमार को राज्य सौंपकर भगवान् वृषभदेव के समीप जाकर अपनी पत्नी तथा भाई श्रेयांस के साथ दीक्षा धारण कर ली ।

सुलोचना :

काशी के राजा अकम्पन की पुत्री । इसके स्वयंवर में जयकुमार अर्ककीर्ति आदि अनेक राजा आये थे । सुलोचना द्वारा जयकुमार के वरण किये जाने पर अर्ककीर्ति को अपने कुल का गर्व हुआ और जयकुमार से युद्ध । युद्ध में जयकुमार विजयी और सुलोचना से विवाह। कालान्तर में कबूतरों का युगल देखने से पूर्वभव का ज्ञान तत्पश्चात् अवधिज्ञान से मुक्त हुई। जय के दीक्षा लेने के बाद ब्राह्मी आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण कर लिया और अच्युत स्वर्ग के अनुत्तर विमान में देवता बनकर पैदा हुई ।

बाहुबली :

ऋषभदेव की दूसरी रानी सुनन्दा से उत्पन्न पुत्र । इनकी सुन्दरी नाम की एक बहन थी । ऋषभदेव अयोध्या का राज्य भरत को दिये तथा पोदनपुर की गद्दी पर बाहुबली को प्रतिष्ठित किया ।

ततः दिग्विजय काल में भरत की अधीनता स्वीकार न करने के कारण इन दोनों भाईयों में नेत्र, जल और मल्ल युद्ध हुआ जिसमें पराजित भरत बाहुबली पर चक्र छोड़ दिया । किन्तु चक्र भी प्रदक्षिणा करके रुक गया।

अन्ततः बाहुबली चक्रवर्ती के व्यवहार से बहुत ही खिन्न हुए तथा जंगल में जाकर मुनि दीक्षा ले ली । वे एक वर्ष तक कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर तपश्चरण करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हुए। इस तरह वे वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम मुक्तिजयी महापुरुष हुए और शलाका-पुरुष के रूप में पूजे जाने लगे ।

अभी हाल में 22 फरवरी को श्रवणबेलगोल में भगवान् बाहुबली का सहस्राब्दी महा मस्तकाभिषेक हुआ है । जहाँ लाखों दर्शनार्थी जाकर श्रद्धा सुमन अर्पित किए ।

दार्शनिक शब्द समूह

लेश्याः

जिस प्रकार आमपिष्ट (दाल की पिट्ठी या तैलादि) से मिश्रित गेरू मिट्टी के लेप द्वारा भित्ती (दीवाल) लीपी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है, उसे लेश्या कहते हैं[3] । ढांणांश सूत्र में लेश्या की टीका इस प्रकार की गयी है - लिश्यते प्राणिनः कर्मणाया सा लेश्या ।'[4] जैन ग्रन्थों में लेश्या छः प्रकार की बतागी गयी है- (1) कृष्ण लेश्या (2) नील लेश्या (3) कापोत लेश्या (4) तेजोलेश्या (5) 'पद्म लेश्या (6) शुक्ल लेश्या[5] ।

लेश्याओं का सविस्तार वर्णन द्रव्यलोक प्रकाश में आता है[6] । उसी स्थल पर उनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि का भी विस्तार से वर्णन है ।

व्यन्तर :

उत्तराध्ययन सूत्र में चार प्रकार के देवता कहे गये हैं[7] । वहीं आठ प्रकार के व्यन्तर बताये गये हैं[8] । तत्त्वार्थसूत्र सटीक में किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इन आठ तरह के भेद व्यन्तर देव के बताये गये हैं[9] । अभिधान चिन्तामणि में भी इसी का समर्थन प्राप्त है[10] ।

नवतत्त्व :

जैन दर्शन में नव तत्त्वों का निरूपण किया गया है । आचार्य हरिभद्र सूरि ने (1)

जीव (2) अजीव (3) पुण्य (4) पाप (5) आश्रव (6) संवर (7) बंध (8) निर्जरा और (9) मोक्ष इन नव तत्त्वों को माना है[11]। उत्तराध्ययन सूत्र में उन्हें 'तथ्य' कहा गया है[12]। ठांणांग सूत्र में इनकी संज्ञा 'सद्भाव' दी गयी है[13]। लोक प्रकाश में भी व्यन्तर के प्रकार को लिखा है[14]।

अर्हत् :

ये जैनों के ईश्वर हैं। अर्हत् का स्वरूप हेमचन्द्र शूरि ने अपने 'आप्तनिश्चयालङ्कार' ग्रन्थ में लिखा है-

''सर्वज्ञो जितरागादि दोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थ वादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥'' इति

हेमचन्द्र का समय दस सौ अट्ठासी से ग्यारह सौ बहत्तर ईसवी है। इनका प्राणमिमांसा, शब्दानुशासन सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। सर्वोन्मुखी प्रतिभा होने के कारण इनको कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि मिली है।

णमोकार मन्त्र :

यह मन्त्र प्रायः जैन मत में कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हेतु जपा जाता है। सुलोचना गंगा में जलजन्तु के द्वारा जयकुमार के गज को पकड़ लेने के बाद किंकर्त्तव्यविमूढ़ सुलोचना ने जयकुमार को णमोकार मन्त्र के जाप से ही मुक्त कराया था। वह मन्त्र अवधेयार्थ है-

''णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसब्बसाहूणं ॥''

जिनरत्न त्रय :

त्रि रत्न शब्द से सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य लिया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के उपाय हैं[15]।

सम्यक् दर्शन: सम्यग्दर्शन का लक्षण इस प्रकार दिया गया है ''तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्''[16] अर्थात् वस्तु के स्वरूप सहित जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान : परोपदेश निर्पेक्षमात्मस्वरूपं निसर्गः व्याख्यानादि रूप परोपदेश जनित ज्ञानमधिगमः सम्यक् ज्ञानमिति। अन्य लोगों ने भी कहा है-

''यथाऽवस्थित तत्वानां संक्षेपात् विस्तरणे वा ।
योऽबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानंमनिषिणः ॥'' इति

सम्यक् ज्ञान पाँच प्रकार का बताया गया है (1) मति, (2) श्रुति (3) अवधि, (4) मनः पर्यय और केवलज्ञान[17]।

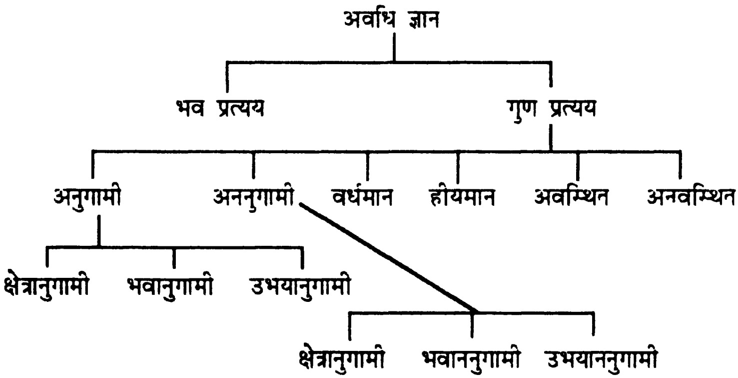
मतिज्ञान - जो पंचइन्द्रियों और मन की सहायता से पदार्थ को जाने उसे मति ज्ञान कहते हैं ।

श्रुतज्ञान - पाँच इन्द्रियों और मन की महायता से मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदाथ को जिमसे विशेष रूप से जाना जाता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

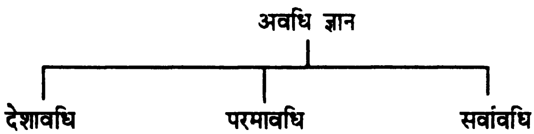
अवधिज्ञान : अवधि का शब्दार्थ है कि अव समन्तात् द्रव्यादिभि: परिमितत्वेनधीयते विषयो अनेनेतिअवधि: । अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावै: अवधीयतेपरिच्छिद्यते विषयो अनेनेति अवधि: । अवधि ज्ञान मे विषयों का यह इतना ऐमा है द्रव्यकाल म्थानादि का बोध हो जाना है इसी को नैयायिक लोग सविकल्पक ज्ञान कहते हैं । इस ज्ञान के द्वारा देव नीचे म्थिति सप्त नरकादि लोकों को देख लेते हैं परन्तु अपने ऊपर विमान के दण्ड पर्यन्त मात्र को ही देखते हैं । अभयचन्द्र ने कहा है- "अधम्तात् बहुतर विषय ग्रहणात् अवधि: ।"[1] इति । अवधिज्ञान का वर्णन करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है "भवप्रत्ययोऽवधि र्देवनारकाणाम् ।"

अवधिज्ञान के भेद

(क)



(ख)



अवधि ज्ञान का रूप तत्त्वार्थ सूत्र सटीक में इस प्रकार है ।

मन: पर्ययज्ञान : ज्ञान के आवरण के रूप में जो ईर्ष्या आदि विघ्न होते हैं उनका क्षय अथवा उपशम हो जाने पर दूसरे व्यक्तियों के मनोगत वस्तु को 'इदमित्थम्' (यह इतना ऐसा है) इस ज्ञान को मन: पर्याय कहते हैं ।

इसी को अन्य लोग अलौकिक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "ईर्ष्यान्तरायज्ञानावरण क्षयोपशमेसति परमनोगतस्यार्थस्य स्फुटं परिच्छेकं ज्ञानं मनः पर्याय' पर्याय शब्द का अर्थ है 'पर्ययणं पर्यायः अर्थात् परितः अन्यस्य मनसि गमनम्।'

केवलज्ञान : तपस्वी लोग जिसके लिये तपस्या क्रिया विशेष का सेवन करते हैं। ऐसा ज्ञान जो अन्य ज्ञान से सम्पृक्त नहीं होता उसे केवल ज्ञान कहते हैं। यह अन्य ज्ञान से पृथक् होने के कारण केवल कहा गया है। इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है "तपः क्रियाविशेषान् यदर्थे मेवन्ते तपस्विनः तद्ज्ञानमन्यज्ञानाऽसंसृष्टं केवलम् ।"

सम्यक्चारित्र्य : ज्ञान के सम्पूर्ण आवरण मम्यक् चारित्रय से नष्ट होते हैं और आवरणों के नष्ट होने पर मोक्षप्रद ज्ञान उत्पन्न होता है इसी को तत्व ज्ञान कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है - " मंसरणकर्मोच्छित्तौ उद्यतम्य श्रद्धानम्य ज्ञानवतः पाप गमनकारण क्रिया निवृत्ति मम्यक् चारित्रचं तदेतत् म प्रपंचमुक्तमर्हता।' यह सम्यक् चारित्र्य व्रत भेद से पाँच प्रकार का होता है- (1) अहिंसा, (2) मुनृत् (3) अम्तेय, (4) ब्रह्मचर्य (5) अपरिग्रह ।

स्याद्वाद :

'म्याद्वाद' में 'म्यात्' शब्द निपात अव्यय है जो तिङन्त प्रतिरूपक अनेकान्त का द्योतक ह। क्योंकि 'म्यात्' शब्द अम् धातु के विधिलिङ्ग में भी मिलता है, जो मम्भावना अर्थ तथा अनिश्चय का द्योतक है। जैसे 'म्यादम्ति' वाक्य में अम्ति के प्रति विशेषण का काम करने वाला यह 'म्यात्' निपात है। अम्ति के माथ योग होने मे क्रिया के रूप में है। तात्पर्य यह है कि 'म्यात्' माथक है क्रियापद की भांति देखने में प्रतीत होता है एवं अनिश्चय का व्यंजक है। यह म्यात् ही अपभ्रंश भाषा में (उर्दू) 'शायद' का बोधक है। अपने विधेय 'अम्ति' आदि के माथ जुटने पर यह 'म्यात्' शब्द विशेषण बन जाता है। किन्तु यदि केवल 'म्यात्' प्रयोग हो तो अनर्थक प्रतीत होता है। 'म्यादम्ति' अर्थात् 'कथञ्चिदम्ति' इस अर्थ का वाचक है जिमका अर्थ 'किमी प्रकार है' ऐमा होगा। अतः म्यात् शब्द की साथकता अनिश्चयात्मक अनेकान्त रूप अर्थ में है। 'म्यादनीति म्याद्वादः' म्याद् का अर्थ कथञ्चित होने से आदेय (ग्राह्य अम्ति-नाम्ति) यह वम्तु इन विशेष रूपों मे युक्त है, जिमका निश्चय नहीं कर सकते। न्याज्य नहीं है, अपितु ग्राह्य है। यह मम्भव तभी होगा जबकि वम्तु का म्वरूप अनिश्चित हो। सप्तभङ्गी न्याय जो जैन दर्शन का है, उमके अनुमार इस प्रकार इसकी व्याख्या की गयी है -

**"वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रतिविशेषम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तिङन्तप्रतिरूपकः॥" इति**

यदि पुनः एकान्तद्योतकः स्यात् शब्दो यं म्यात् तदा म्यादम्ति इति वाक्ये म्यात् पदमनर्थकं स्यात्। अनेकान्तद्योतकत्वं तु म्यादस्ति कथञ्चिदम्तीति म्याद। अनेकात्व पदात् कथञ्चित्

इत्ययमर्थो लभ्यते इति नानर्थकम् । तदाह-

"स्याद्वादः सर्वथैकान्त त्यागात् किंवृत्त चिद्विधेः ।
सप्तभङ्गिनयापेक्षा हेयादेय विशेषकृत् ॥" इति

स्याद्वाद को अङ्गीकार करने वाले यह कहते हैं कि इस सिद्धान्त से सर्वत्र विजय है। हेमचन्द्र प्रणीत 'वीतरागस्तुति' के टीकाकार आचार्य मल्लिषेण अपनी स्याद्वाद मंजरी में इस प्रकार कहते हैं कि -

"अनेकान्तात्मक वस्तुगोचरः सर्वसंविदाम् ।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयोमतः ॥
न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि ।
संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते ॥" इति

स्याद्वाद के सिद्धान्त में प्रत्यक्ष-अनुमान दो प्रमाण है । सभी वस्तुएँ नित्य और अनित्य हैं । विभिन्न मतों के अनुसार सात या नौ तत्त्व माने गये हैं । उसका विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है विषय का कलेवर ही विस्तृत हो जायेगा । इसके लिये जिज्ञासु जन हेतु 'स्याद्वाद मंजरी' दर्शनीय है ।

भैक्षशुद्धि :

भिक्षा के बयालिस दोषों से मुक्त नित्यरूप से अदुषित जिस अन्न को मुनिजन ग्रहण करते हैं वह पवित्र भिक्षा मानी गयी है । उसी को एषणा समिति भी प्रकारान्तर से यह कह सकते हैं । यथा

"द्विचत्वारिशंता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् ।
मुनिर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता ॥" इति ।

चौदह गुणस्थान :

मोह और योग के निमित्त से उत्पन्न आत्मा के भावों को गुणस्थान कहते हैं । वे चोदह हैं

(1) मिथ्यादृष्टि, (2) सासादन, (3) मिश्र, (4) अविरत सम्यग्दृष्टि (5) देशविरत, (6) प्रमत्तसंयत, (7) अप्रमत्तसंयत (8) अपूर्वकरण, (9) अनिवृत्तिकरण, (10) सूक्ष्मसाम्पराय (11) उपशान्त मोह (12) क्षीण मोह, (13) सयोग-केवली (14) अयोग केवली[10] ।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी इसका विवेचन नवम अध्याय में हुआ है ।

अनुयोग :

श्रुतस्कन्ध के चार महा अधिकार वर्णित किये गये हैं उनमें पहले अनुयोग का नाम प्रथमानुयोग है । प्रथमानुयोग में तीर्थंकर आदि सत्पुरुषों के चरित्र का वर्णन होता है । दूसरे

महाधिकार का नाम करणानुयोग है। इसमें तीनों लोकों का वर्णन उस प्रकार लिखा होता है जिस प्रकार किसी ताम्र पत्र पर किसी की वंशावली लिखी होती है। जिनेन्द्र देव ने तीसरे महाधिकार को चरणानुयोग बतलाया है। इसमें मुनि और श्रावकों के चारित्र की शुद्धि का निरुपण होता है। चौथा महाधिकार द्रव्यानुयोग है। इसमें प्रमाणनय निक्षेप तथा सत्संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि के द्वारा द्रव्यों का निर्णय किया जाता है[20]।

मोक्ष :

आत्मा का कर्मों से सर्वथा सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष कहलाता है[21]।

त्रिवर्ग :

धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को त्रिवर्ग कहा गया है[22]।

दर्शन :

पदार्थों का अनाकार - निर्विकल्प जानना दर्शन है[23]।

केवल्य :

संसार के समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाला ज्ञान[24]।

गणधर :

तीर्थंकरों के समवसरण में रहने वाले विशिष्ट मुनि। ये चार ज्ञान के धारक होते हैं[25]।

चक्रवर्ती:

चक्ररत्न का स्वामी राजाधिराज, ये बारह होते हैं तथा भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्र के छह खण्डों के स्वामी होते हैं[26]।

द्वादश भावना :

इसका सर्वत्र उल्लेख है। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इनको द्वादश भावना यानी बारह भावना कहा गया है।

सामायिक :

चारित्रय का एक भेद जिसका सामान्य रूप समस्त पापों का त्याग कर समताभाव धारण करना अर्थ है[27]।

अष्टाविंशतिमूलगुण :

मुनियों के मूलगुण अट्ठाईस होते हैं। पाँचमहाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियदमन, वस्त्र परित्याग, केशों का लोंच करना, छह आवश्यकताओं में कभी बाधा नहीं होना, स्नान

नहीं करना, पृथिवी पर सोना, दाँतौन नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना और दिन में एक बार आहार लेना, इन्हें अट्ठाईस मूल गुण कहते हैं। इनके सिवाय चौरासी लाख उत्तर गुण भी हैं, महामुनि उन सबके पालन करने में प्रयत्न करते थे[28]।

ब्रह्मचर्य :

आत्मतत्त्वरूप में लीन रहना अथवा स्त्री मात्र का परित्याग करना जैन मत में ब्रह्मचर्य कहा गया है[29]।

दशधर्म :

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस धर्म हैं[30]।

पंचपरमेष्ठी :

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी कहलाते हैं[31]।

शुक्लध्यान :

आर्तध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं[32]। पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं[33]।

शलाका पुरुष :

चौबीस तीर्थंकर[34], बारह चक्रवर्ती[35], नव नारायण[36], नव प्रतिनारायण[37], नव बलभद्र[38], ये त्रिषष्टि पुरुष तिरसठ शलाका पुरुष कहलाते हैं[39]।

मङ्गलाष्टक :

छत्र, ध्वज, कलश, चामर, सुप्रतिष्ठक (ठोना) भृंगार (झारी) और तालपत्र (पंख) इन आठ मंगल द्रव्यों को मङ्गलाष्टक कहा गया है।

नैर्ग्रन्थी:

दिगम्बर मुनि को जैन ग्रन्थों में नैर्ग्रन्थी के नाम से जाना गया है[40]।

नवधाभक्ति :

इसे नव पुण्य के नाम से जाना जाता है। प्रतिग्रहण-पडिगाहना, उच्च स्थान पर बैठना, पैर धोना, अष्टद्रव्य से पूजा करना, नमस्कार करना, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और अन्न जलशुद्धि ये नवधाभक्ति कहे जाते हैं[41]।

जयोदयगत ललित सूक्तियाँ

1.	अनुभवन्ति भवन्ति भवान्तकाः।	ज.म. 1/94
2.	नीतिविद्योऽभिनन्दति।	ज.म. 7/31

3.	अहो जरायां तु कुतो विचार: ।	ज.म. 1/27
4.	अहो किं तमस: समस्या ।	ज.म. 19/100
5.	अहो दुरन्ता भव सम्भवाऽवनि:।	ज.म. 23/19
6.	अहो तटस्था महतां सदैव ।	ज.म. 15/2
7.	ऋषेर्भवत्येव भवोऽपदोष: ।	ज.म. 27/21
8.	कोनु नाश्रयति वा स्वतो हितम् ।	ज.म. 2/18
9.	का गतिर्निशि हि दीपकं विना ।	ज.म. 2/97
10.	कस्य चिद्रति करो हि तत्त्वत: ।	ज.म. 3/12
11.	किं मल्लिमाला न्वयते कुशेन ।	ज.म. 20/35
12.	गृहीति त्रिवर्गपरिणामसंग्रही ।	ज.म. 2/21
13.	चकास्ति योग्येन हि योग्य सङ्गम:	ज.म. 3/89
14.	चौर्य तदिच्छेत्किल कोऽत्र कर्त्तुम् ।	ज.म. 2/137
15.	जडप्रसङ्गे मौनं हि हितम् ।	ज.म.14/80
16.	जडानां पराभव: कष्टकरो नाना ।	ज.म. 14/87
17.	तम: परिहृतौ किमु दीप परिश्रम: ।	ज.म. 9/73
18.	तुषं प्ररोहाय हि तन्दुलस्य ।	ज.म. 19/109
19.	धिगपि धिग्जडतामिति देहिन: ।	ज.म. 25/8
20.	न तु मन: प्रतिबुद्ध्यति कामिन: ।	ज.म.2/158
21.	निराश्रया न शोभन्ते वनिता हि लता इव ।	ज.म. 3/56
22.	नारीह सा रीतिकरी रूपरस्य ।	ज.म. 15/42
23.	निज: परोवेत्ति न वेत्ति सत्तम: ।	ज.म. 24/135
24.	न पुनरेति परं पदमुद्धत: ।	ज.म. 25/43
25.	नन्देति वचोऽपि पथ्यवत् ।	ज.म. 26/28
26.	पादकास्तु पतिता स्थिति: क्षते: ।	ज.म. 2/16
27.	प्रत्यय: को निरत्यय: ।	ज.म. 7/38
28.	प्रभा हि लब्ध्वा खलु धर्म सत्वम् ।	ज.म. 11/99
29.	पर्याय माल्यं हि यतस्तु वस्तु ।	ज.म. 19/58
30.	भूरिशो भवति लोक मूर्खता ।	ज.म. 2/88
31.	भवितुमर्हति नासुमतो गति: ।	ज.म. 9/61
32.	मुलमस्ति विनयो हि धर्मसात् ।	ज.म. 2/73
33.	रतीश्वरस्याक्षि युगं हि रक्तम् ।	ज.म. 15/10
34.	रोचनादिभिरपोक्षिणां हितम् ।	ज.म. 21/30
35.	लोक एव खलु लोक संगुरु: ।	ज.म. 2/90

36.	लोमालि दण्डं तदुदात्त हेतुम् ।	ज.म. 11/40
37.	व्ययस्थलोऽथो तमसौऽभ्युपास्ति ।	ज.म. 15/81
38.	शान्ति संस्थापनार्यैवं न रागोऽपि विधीयताम्	ज.म. 28/20
39.	शक्ति कुतो: ग्रस्तुमहोप्रवीणा ।	ज.म. 1/36
40.	सम्मता हि महतां महान्वया: ।	ज.म. 2/11
41.	प्रस्तरेषु मणयोऽपि हि क्व चित् ।	ज.म. 2/12
42.	सहेत विद्वान् पदे कुतो रतम् ।	ज.म. 2/142
43.	स्याज्जीवनं जीवनं विना ।	ज.म. 3/31
44.	सहभावो हि वन्धुता ।	ज.म. 3/71
45.	सिद्धि: समृद्धि सहिता स्वमेव भातु ।	ज.म. 10/96
46.	सहिष्णुता का खलु जिष्णुचितै: ।	ज.म. 19/86
47.	सम्माननार्थे न हि कौतुकानि ।	ज.म. 27/78
48.	सानुग्रहं सत्यजनेष्टि दिष्ट: ।	ज.म. 27/43
49.	सूर्योदये का खलु चौरभीति: ।	ज.म. 19/110
50.	सर्वमेव सकलस्य नौषधम् ।	ज.म.2/17
51.	यो ब्रह्मणापि महित: स न मह्यतेकै: ।	ज.म. 24/147
52.	हितं सुमति भाषित मप्यवगाहितम् ।	ज.म. 9/31

सहायक ग्रन्थों की सूची

अथर्व वेद	
अग्निपुराण	हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय खिष्टाब्द 1900
अमर कोश	अमर सिंह
अभिधानचिन्तामणि कोश	
अलङ्कार तिलक	
अलङ्कार शेखर	केशव मिश्र
अलङ्कार सर्वस्व	रुय्यक
अमरूक शतक	अमरूक
आदि पुराण भाग एक (जैन)	आचार्य जिन सेन
आदि पुराण भाग दो (जैन)	आचार्य जिन सेन
उत्तराध्ययनसूत्र	
ऋग्वेद	
एकावली	विद्याधर
औचित्यविचार चर्चा	क्षेमेन्द्र

कालिका पुराण	
काव्यालङ्कार	भामह
काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति	वामन
काव्यालङ्कार	रूद्रट
काव्यादर्श	दण्डी
काव्य प्रकाश	मम्मट
काव्य मीमांसा	राजशेखर
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
कर्म पुराण	
चित्रमीमांसा	अप्पय दीक्षित
छन्दोमंजरी	श्रीगङ्गादास प्रभा रुचिरा संस्कृत हिन्दी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी ।
छान्दोग्य उपनिषद्	
जयधवला	वीरसेन एवं श्री जयसेन
जैन शासन	सेमुरुचन्द्र
ठाणांग सूत्र	
तत्त्वार्थ सूत्र	श्री उमा स्वामी, दिगम्बर जैन पुस्तकालय वाराणसी ।
तैत्तिरीयोपनिषद्	
दशरुपक	धनिक धनंजय
दर्शनसार	देव सेनाचार्य
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
नवसाहसाङ्कचरित	पद्मगुप्तपरिमल
नल चरित नाटक	नील कण्ठ दीक्षित
नाट्यशास्त्र	भरत
निरुक्त	यास्क
नैषध महाकाव्य	श्री हर्ष
पद्मपुराण (जैन)	आचार्य रविषेण
पंच संग्रह	संस्कृत टीका प्राकृत वृत्ति हिन्दी अनुवाद सहित, प्रकाशक-भारतीय ज्ञान पीठ दुर्गा कुण्ड रोड, वाराणसी।

प्रतापरुद्रयशोभूषण	विद्यानाथ
पाणिनिसूत्र	पाणिनि
बालरामायण	राजशेखर
विष्णु पुराण	
मनुस्मृति	मनु
महाभारत	व्यास
महापुराण (अपभ्रंश) (जैन)	महाकवि पुष्पदन्त, मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला समिति से प्रकाशित ।
मार्कण्डेय पुराण	
रघुवंश	कालिदास
रसगङ्गाधर	जगन्नाथ (पंडित राज)
रामायण	वाल्मीकि
लिङ्ग पुराण	
लोक प्रकाश	श्री विनय विजय गणि कृत, गुजराती अनुवाद सहित आगमोदय समिति
वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
वायुमहापुराण पूर्वार्ध	
वाराह पुराण	
विक्रमांक देव चरित	विल्हण
वृत्त रत्नाकर	केदार भट्ट
व्यक्ति विवेक	महिम भट्ट
ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध	
शतपथब्राह्मण	
श्रीमद्भागवत पुराण	
शृङ्गार प्रकाश	भोजराज
षडदर्शन समुच्चय	
समवयाङ्ग सूत्र	
सरस्वती कण्ठाभरण	भोजराज
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	
संस्कृत साहित्य का इतिहास	बलदेव उपाध्याय
साहित्य दर्पण	आचार्य विश्वनाथ
सुवृत्त तिलक	क्षेमेन्द्र
हरिवंश पुराण (जैन)	आचार्य जिनसेन
हर्ष चरित	वाणभट्ट

* * *

फुट नोट

1. आदि. पु. भाग एक, 4/81-85 तक
2. आ. पु. भाग 1, पर्व 15-25, श्री मद्भा. पु. 1/7/10, 5/5/28, 5/3/20, अ. पु. 107/11, मा. पु. 50/39, 40, 41, कु. पु. 61/37, 38, वायु . पु. पूर्वार्ध 33/50, 51, 52, ब्रह्मा. पु. पूर्वा. अनु. 14/59, 60, 61, वा. पु. अध्याय 74, लिङ्गपु. 47/19, 20, 21, 22, 23, 24 पूर्वार्ध, बि. पु. द्वि. 1/27, 28, जैन शासन (द्वि. सं.) पृष्ठ-300 हरि. पु. (जैन) सर्ग 8, 9, पृष्ठ-146-184
3. जह गेरूवेण कुड्डी लिप्पइ लेवेण आम पिट्ठेण ।
   तह परिणामो लिप्पह सुहा सुहा यत्ति लेवेण ॥ - पं. सं. जी. स. प्र. अधि. गाथा 143
4. ढाणांगसूत्र सटीक, ढा. 1, सूत्र 51 पत्र 31-32
5. (अ) उष्णांग सूत्र सटीक, उत्तरार्ध, ढा. 6, उ. 3 सूत्र 504 पत्र 361-2 तथा समवायाङ्ग सूत्र सटीक, समवाय-6 पत्र 11-1
   (ब) किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य । सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं।
   - उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 34, गाथा 3
6. द्रव्यलोक प्रकाश, पृष्ठ-112-126
7. देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण । भीमिज्जवाणमन्तरजोइस वेमाणिया तहा ।
   - उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 36, गाथा 202
8. पिसायभूया जक्खा य, रक्खासा किन्नरा किंपुरिसा ।
   महोरगा च गन्धव्वा, अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥ - वही. गाथा 205
9. व्यन्तरा: किन्नरकिंपुरुषमहोरगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचा: ।
   - तत्त्वार्थसूत्र सटीक, अध्याय 4, सूत्र 11
10. स्यु: पिशाचा भूता यक्षा राक्षसा: किन्नरा अपि । किंपुरुषा महोरगा, गन्धर्वा व्यन्तरा अमी।
    - अभिधान चिन्तामणि देवकाण्ड 2, श्लोक 91
11. जीवाजीवो 1-2 तथा पुण्यं 3, पापात्रय 4-5 संवरो 6 बंधो 7 विनिर्जरा 8 मोक्षो 9 नवतत्त्वानि तन्यते ।' - षडदर्शन-समुच्यय श्लोक 47
12. जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽसवो तहा । संवरो निज्जरा मोक्खो सन्तेए तहिया नव।
    - उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 28, गाथा 14
13. ठांणांग सूत्र, सूत्र 665
14. पिशाचा भूतयक्षाश्च राक्षसा: किन्नरा अपि । किंपुरुषामहोरगा ।
    - लोक प्रकाश प्रथम विभाग, द्रव्यलोक सर्ग 8, श्लोक 29
15. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: । - तत्त्वार्थसूत्र सटीक, 1/1
16. वही. 1/2
17. मतिश्रुतावधिमन: पर्ययकेवलानि ज्ञानम् । - तत्त्वार्थसूत्र 1/9
18. वही. 1/21 19. आदि पु. भाग 1, 24/94

20. महाधिकाराश्चत्वारः श्रुतस्कन्धस्य वर्णिता ।
तेषामाद्योऽनुयोगोऽयं सतां सच्चरिताश्रयः ॥ - वही. 2/98
द्वितीयः करणादिः स्यादनुयोगः स यत्र वै । त्रैलोक्यक्षेत्रसंख्यानं कुलपत्रेऽधिरोपितम् । चरणादिस्मृतीयः स्यादनुयोगो निनोदितः । यत्रचर्याविधानस्य पराशुद्धिरूदाहृता ॥ तुर्यो द्रव्यानुयोगस्तु द्रव्याणां यत्र निर्णयः । प्रमाणनयनिक्षपैः सदाद्यैश्च किमादिभिः ॥
- वही, 2/99, 100, 101

21. वही. 2/118 22. आ. पु. भाग-1, 11/33
23. वही. 24/101 24. वही. 5/149
25. वही. 2/51 26. वही. 2/117 27. आदि. पु. 2, 34/130
28. वही. 36/133-135 29. वही. 36/158 30. वही. 36/137 31. वही. 38/188
32. आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि । - तत्त्वार्थ सूत्र सटीक, 9/28
33. पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्तीनि । - वही. 9/39
34. एतस्यामवसर्प्पिण्यामृषभोऽजित शम्भवौ । अभिनन्दनः सुमतिः ततः पद्मप्रभाभिधः ॥
सुपार्श्वश्चन्द्रप्रभश्च सुविधिश्चाथ शीतल ।
श्रेयांसो वासु पूज्यश्च, विमलो नन्ततीर्थकृत ॥
धर्मः शान्तिः कुन्थुररो मल्लिश्च मुनिसुव्रतः ।
नमिर्नेमिः पार्श्वो वीरश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ॥
- अभिधान चि. देवाधिदेवकाण्ड 1/26, 27, 28
35. आर्षभिर्भरतस्तत्रसगर स्तुमुमित्रभूः । मधवा वैजयिरथाश्वसेननृपनन्दनः ॥
सन्त्कुमारोऽथ शान्तिः कुन्थुररो जिना अपि ।
सुभृमस्तु कार्त्तवीर्यः पद्मः पद्मोत्तरात्मजः ॥
हरिषेण हरिसुतो जयो विजयनन्दनः । ब्रह्मसुनुर्व्रह्मदत्तः सर्वे पीक्ष्वाकुवंशजाः ॥
- अभि. चि. मर्त्यकाण्ड 3, श्लोक 692, 93, 94
36. प्रजापत्यास्त्रिपृष्ठोऽथ द्विपृष्ठोब्रह्म सम्भवः । स्वयम्भु रुद्रतनयः, सोमभूः पुरुषोत्तमः ॥
शैवः पुरुषसिंहोऽथ, महाशिस्समुद्रभवः । स्यात् पुण्डरीको, दत्तो ग्रिसिंहनन्दनः ॥
नारायणो दाशरथिः कृष्णस्तु वसुदेवभूः ।
वासुदेवा अमीकृष्णा, नवशुक्ला बलास्त्वमी ॥
- अभि. चि. मर्त्यकाण्ड 3, श्लोक 695, 96, 97
37. अचलो विजयो भद्रः सुप्रभश्च सुदर्शनः ।
आनन्दो नन्दनः पद्मो, रामोविष्णुद्विभस्त्वमी ॥
- अभि. चि. मर्त्यकाण्ड 3, श्लोक 698
38. अश्वः ग्रीवस्तारकश्च मेरको मधुरेव च । निशुम्भबलिप्रह्लादलङ्केशमगधेश्वराः ॥
- वही. श्लोक 699
39. जिनैः सह त्रिषष्टिः स्युः शलाका पुरुषा अमी । - वही. श्लोक 700
40. आदि. पु. 1, 10/169 41. वही. 20/86, 87

❑ ❑ ❑

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

प्रथम पुष्प – इतिहास के पन्ने

आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित

द्वितीय पुष्प – हित सम्पादक

आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित

तृतीय पुष्प – तीर्थ प्रवर्तक

मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन

चतुर्थ पुष्प – जैन राजनैतिक चिन्तन धारा

डॉ श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन

पचम पुष्प – अञ्जना पवनजयनाटकम्

डॉ रमेशचन्द जैन, बिजनौर

षष्टम पुष्प – जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप

डॉ नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित

सप्तम पुष्प – बोद्धदर्शन पर शास्त्रीय समिक्षा

डॉ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

अष्टम पुष्प – जैन राजनैतिक चिन्तन धारा

डॉ श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन

नवम पुष्प – आदि ब्रह्मा ऋषभदेव

बैरिस्टर चम्पतराय जैन

दशम पुष्प – मानव धर्म

पं भूरामलजी शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागरजी)

एकादश पुष्प – नीतिवाक्यामृत

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित

द्वादशम् पुष्प – जयोदय महाकाव्य